काव्यकल्पद्रुम

द्वितीय भाग

अलङ्कारमञ्जरी

पंचम संस्करण

लेखक—
सेठ कन्हैयालाल पोद्दार
(साहित्य वाचस्पति)

काव्य कल्पद्रुम
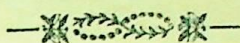
द्वितीय भाग

का

परिवर्द्धित और परिष्कृत

पञ्चम संस्करण

अलंकार मञ्जरी

अर्थात्

संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध ग्रन्थों के आधार पर

अलङ्कार विषयक

आलोचनात्मक अपूर्व हिन्दी ग्रन्थ

—::(०)::—

लेखक

सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

मथुरा।
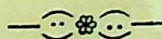
पञ्चम संस्करण] सं० २०३६ वि० [मूल्य १००.००
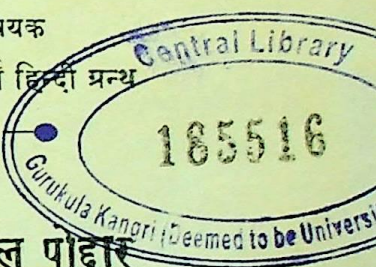
प्रकाशक—

पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा

मथुरा।

मुद्रक—

सत्यपाल शर्मा,

कान्ति प्रेस, आगरा।

विषयानुक्रमणिका

(रूपकातिशयोक्ति)

दशम स्तवक

श्री हरिःशरणम्

प्राक्कथन

—०—

"विशीर्णशिला इव हृत्पदस्थ—
सरस्वतीवाहनराजहंसैः ।
ये क्षीरनीरप्रविभागदक्षा
विवेकिनस्ते कवयो जयन्ति ॥"

—महाकवि मंखक

काव्यकल्पद्रुम के इस द्वितीय भाग अलङ्कार मंजरी में केवल अलङ्कारों का निरूपण किया गया है। अतएव सबसे प्रथम यह जानना आवश्यक है कि—

काव्य में अलङ्कार का क्या स्थान है

नाट्य शास्त्र और अग्निपुराण के बाद लगभग ईसवी की पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक के साहित्याचार्य भामह, दण्डी और उद्भट ने रस, भाव आदि को 'रसवत्' आदि अलङ्कारों के अंतर्गत मान कर रस विषय का अलङ्कारों में ही समावेश कर दिया है और अलङ्कारों कोही काव्य में सर्वोपरि प्रधानता दी है। किन्तु आठवीं शताब्दी के बाद ध्वनिकार और मम्मट आदि ने काव्य को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। उन्होंने व्यंग्यात्मक ध्वनि [1] काव्य को जिसमें रस का स्थान मुख्य

[1] ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य आदि का निरूपण इस ग्रंथ के प्रथम भाग—रसमंजरी में किया गया है।

है, प्रथम श्रेणी का उत्तम काव्य, गौणव्यंग्यात्मक काव्य को द्वितीय श्रेणी का मध्यम काव्य और अलङ्कारात्मक काव्य को तृतीय श्रेणी का काव्य प्रतिपादन किया है। यद्यपि काव्य में अलङ्कार का स्थान तीसरी श्रेणी में अवश्य है, किन्तु इस विश्लेषण से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि अलङ्कार विषय कुछ कम महत्व रखता है। संस्कृत साहित्य के सभी सुप्रसिद्ध और प्रतिष्ठित ग्रंथों में अलंकार विषय का बहुत ही मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म दृष्टि से अत्यन्त विस्तार-पूर्वक गम्भीर विवेचन किया गया है।

अलंकार क्या है

शोभा कारक पदार्थ को अलङ्कार कहते हैं[1]। जिस प्रकार लौकिक व्यवहार में सुवर्ण और रत्न-निर्मित आभूषण शरीर को अलंकृत करने के कारण अलङ्कार कहे जाते हैं, उसी प्रकार काव्य को शब्द और अर्थ की चमत्कारक रचना द्वारा जो अलंकृत करते हैं, उनको साहित्य शास्त्र में अलङ्कार कहते हैं। शब्द-रचना के वैचित्र्य द्वारा काव्य को शोभित करने वाले अलङ्कारों को शब्दालङ्कार और अर्थ-वैचित्र्य रचना द्वारा काव्य को शोभित करने वाले अलङ्कारों को अर्थालङ्कार कहते हैं।

आचार्य भामह ने—जो संस्कृत के उपलब्ध ग्रंथों के अनुसार श्रीभरतमुनि के बाद अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हैं, इस शब्दार्थ-वैचित्र्य को 'वक्रोक्ति'[2] संज्ञा मानी है। और भामह ने वक्रोक्ति

१ अलंकरोतीति अलंकारः।
२ 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः।'

—भामह काव्यालंकार १।३६

आचार्य भामह ने इस कारिका में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग 'वक्रोक्ति' नामक अलंकार विशेष के लिये नहीं, किन्तु व्यापक

को सम्पूर्ण अलङ्कारों में व्यापक बतलाते हुए इसे अलङ्कारों का एक मात्र आश्रय माना है[१]।

आचार्य भामह के पश्चात् आचार्य दण्डी ने भी जो अलंकार सम्प्रदाय के एक प्रधान आचार्य होगये हैं, इसी उक्ति-वैचित्र्य को 'अतिशयोक्ति' संज्ञा मानकर 'अतिशयोक्ति' नामक विशेष अलंकार का निरूपण करने के बाद अन्त में कहा है कि सारे अलंकारों का एक मात्र आश्रय अतिशयोक्ति ही है[२]।

अर्थ-वैचित्र्य अथवा वक्रोक्ति वस्तुतः अतिशय-उक्ति ही है। ये दोनों पर्याय (एकार्थक) शब्द हैं[३]। यद्यपि भामहाचार्य ने इसको वक्रोक्ति संज्ञा दी है, पर भामह ने भी वक्रोक्ति का प्रयोग अतिशय-उक्ति के अर्थ ही में किया है, जैसा कि उनके द्वारा अतिशयोक्ति अलंकार के प्रकरण में दी हुई कारिका से स्पष्ट है। भामह की वक्रोक्ति और दण्डी की अतिशयोक्ति का अर्थ है—'किसी वक्तव्य का लोकोत्तर अतिशय से कहा

रूप से सम्पूर्ण अलंकारों की प्राणभूत अतिशय उक्ति के लिये किया है। 'वक्रोक्ति' नामक विशेष अलङ्कार का तो भामह ने निरूपण भी नहीं किया है।

१ "सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते,
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोलङ्कारोऽनया विना।

—भामह काव्यालङ्कार २।८५

२ अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्,
'वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।'

—काव्यादर्श २।२२७

३ 'एवं अतिशयोक्तिरिति वक्रोक्तिरिति पर्यायइति बोध्यम्'।

— काव्यप्रकाश बालबोधिनी व्याख्या पृ० ८०६

जाना।' महान् साहित्याचार्य श्री अभिनवगुप्ताचार्य ने कहा है कि लोकोत्तर अतिशय से कहना ही उक्ति वैचित्र्य है[१], वही अलंकार है। अर्थात् किसी वक्तव्य को लोगों की स्वाभाविक साधारण बोलचाल से भिन्न शैली द्वारा अनूठे ढङ्ग से अर्थात् चमत्कार पूर्वक वर्णन करने को ही अलंकार कहते हैं। उक्ति-वैचित्र्य अनेक प्रकार का होता है अतएव इसी उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के अलंकारों का होना निर्भर है[२]।

साधारण बोलचाल से भिन्न शैली में क्या विचित्रता होती है और वह अनेक प्रकार से किस प्रकार कही जा सकती है, इसके उदाहरण रूप में प्रभात वर्णात्मक अनेक प्रकार के उक्ति-वैचित्र्य का यहाँ दिक्-दर्शन कराया जाता है।

प्रातःकाल में चन्द्रमा को देखकर साधारण बोलचाल में कहा जाता है—'चन्द्रमा फीका पड़ गया है'। महाकवि माघ ने इस निस्तेज चन्द्रमा के दृश्य का उक्ति-वैचित्र्य द्वारा इस प्रकार वर्णन किया है—

प्रिया कुमुदिनी हुई निमीलन रही दृष्टि-पथ रजनी भी न,
हुई समस्त अस्त ताराएँ वे भी अब हैं शेष कहीं न।
प्रिय-कलत्र की शोचनीय यह दशा देख होकर कृशगात,
इसी शोक से निशानाथ है मानो विगत-प्रभा प्रभात[३]।

लोग यह समझते हैं कि प्रातःकालीन प्रकाश होने पर चद्रन्मा का

---

१ 'लोकोत्तरेण चवातिशय.......................अनया अतिशयोक्त्या विचित्रतया भाव्यते।' —ध्वन्यालोक-लोचन पृ० २०६

२ "यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारमार्गः प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्या-दुपनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शतशाखताम्।" —ध्वन्यालोक पृ० २४३

३ यह शिशुपाल वध के ११।२४ पद्य का भावानुवाद है।

निस्तेज हो जाना स्वाभाविक है । पर हमारे विचार में तो इसका कारण यह है कि चन्द्रमा की प्रेयसी कुमुदनी तो पहिले ही निमीलन हो जाती है, उसके साथ उसकी अन्य प्रियतमा रात्रि भी नष्ट हो जाती है और सारी ताराएँ भी नष्ट हो जाती हैं । इस प्रकार अपनी प्रियतमाओं के विनाश हो जाने के कारण मानो बेचारा निशानाथ-(चन्द्रमा)- इसी शोक से कृश गात्र होकर प्रातःकाल कान्तिहीन हो रहा है ।

यहाँ चन्द्रमा के निस्तेज हो जाने में कुमोदिनी, रात्रि और ताराएँ रूप रमणियों के नष्ट हो जाने के कारण उत्पन्न शोक की सम्भावना की गई है, जो कि वास्तव में कारण नहीं है, अतः हेतूप्रेक्षा है । और कुमोदिनी और रात्रि आदि में नायिका के, आरोप किये जाने में जो 'रूपक' है वह हेतूत्प्रेक्षा का अङ्ग है ।

इसी दृश्य का कविराज विश्वनाथ ने अन्य प्रकार के उक्ति-वैचित्र्य द्वारा वर्णन किया है—

रवि-कर-राग-स्पर्श से जिसने तिमिरावरण किया है दूर—
विकसित-मुखी प्रिया ऐन्द्री को अपने सम्मुख देख अदूर ।
शोकाकुल पीला पड़कर अब कलुषान्तर हो विकल महान—
प्राचेतस दिशि को बेचारा निशानाथ कर रहा प्रयाण[1] ।

सम्भवतः आप नहीं जानते होंगे कि क्षीण कान्ति—पीला पड़ा हुआ—चन्द्रमा पश्चिम दिशा को क्यों जा रहा है ? सुनिये, बात यह है कि जो ऐन्द्री (इन्द्र सम्बन्धिनी पूर्व दिशा) रात्रि में तेजस्वी चन्द्रमा के साथ रमण कर रही थी, वही (पूर्व दिशा) अब प्रभात समय चन्द्रमा को निस्तेज देखकर सूर्य के साथ रमण करने लगी है। देखिये न, सूर्य कर-स्पर्श (किरणों के स्पर्श, श्लेषार्थ—हस्त-स्पर्श) से उत्पन्न होने वाले राग

१ साहित्यदर्पण के श्लोक का भावानुवाद ।

से (अरुणिमा से, श्लेषार्थ–अनुराग से) अन्धकार रूप आवरण (श्लेषार्थ-घूँघट) उसने हटा लिया है अतः इसका मुख (पूर्व दिशा के पक्ष में अग्रभाग और नायिका के पक्ष में मुख) विकसित (प्राची दिशा के पक्ष में प्रकाशित और नायिका के पक्ष में मन्द हास्ययुक्त) हो रहा है। अपनी नायिका–पूर्व दिशा-का यह व्यवहार अपने सम्मुख देखकर कलुषितान्तःकरण होकर (श्लेषार्थ दुःखित हृदय होकर) बेचारा चन्द्रमा अब प्राचेतसी दिशा को (पश्चिम दिशा को अर्थात् मरने को) जा रहा है।

इस वर्णन में कवि ने श्लिष्ट–विशेषणों की सामर्थ्य से चन्द्रमा में ऐसे विलासी पुरुष की अवस्था की प्रतीति कराई है जो अपने में पूर्वानुरक्ता कामिनी को अपने समक्ष अन्य पुरुष में अनुरक्त देखकर अन्य नायिका के समीप चला जाता है। और पूर्व दिशा में ऐसी कुलटा स्त्री की अवस्था की प्रतीति कराई है जो अपने पहिले प्रेम-पात्र का वैभव नष्ट हो जाने पर उसे छोड़कर अन्य पुरुष में आसक्त हो जाती है। और यह भी दिखाया गया है कि कुलटा स्त्रियों में आसक्त रहने वाले चरित्र भ्रष्ट पुरुषों की कैसी शोचनीय दशा होती है। इस उक्ति-वैचित्र्य में यहाँ समासोक्ति अलंकार है।

चन्द्रमा के इसी दृश्य का हमारे महाकवि-शेखर कालिदास ने अन्यतम उक्ति-वैचित्र्य द्वारा इस प्रकार वर्णन किया है—

निद्रा-वश होकर लक्ष्मी का तुमने किया नहीं सन्मान,
हुई खण्डिता रमणी सी, जो थी तुम में अनुरक्त महान।
मन बहलाती थी कुछ, जिसको देख तुम्हारे वदन समान,
वह भी चन्द्र तुम्हारी मुख-छवि छोड़ रहा अब है द्युतिमान।[1]

---

१ रघुवंश ५।६७ का भावानुवाद।

महाराजकुमार अज को निद्रा से उद्‌बोधन करने के लिये बन्दीजन कहते हैं—हे राजकुमार ! यह तो आप जानते ही हैं कि लक्ष्मी (राज्य लक्ष्मी अथवा मुखकी शोभा) आप पर अत्यन्त अनुरक्त है। किन्तु निद्रा के वशीभूत होकर (व्यंग्यार्थ—अन्य नायिका में अनुरक्त होकर) आपने उसको स्वीकार (उसका सत्कार) नहीं किया अतः आपको निद्रा में आसक्त (व्यंग्यार्थ—अन्य नायिकासक्त) देखकर वह अत्यन्त विकल होगई, क्योंकि आपमें उसका जो अनन्य प्रेम था उसकोभी आपने उपेक्षा कर दी, तब खण्डिता-नायिका[1] की तरह आपके वियोग का व्यथा उससे न सही गई, अतएव उस वियोग-व्यथा को दूर करने के लिये आपकी मुख-कान्ति का कुछ सादृश्य चन्द्रमा में देखकर वह चन्द्रमा को देख-देख कर ही अपना मन अब तक कुछ-कुछ बहला रही थी। किन्तु इस समय प्रभात में चन्द्रमा भी कान्ति-हीन होकर आपके मुख के सादृश्य को छोड़कर जा रहा है। अतएव अब आपके सादृश्य-दर्शन का मनोविनोद भी उसके लिये अदृश्य हो गया है—वह निराश्रित हो गई है। कृपया अब निद्रा को त्यागकर उस अनन्य-शरणा लक्ष्मी को सत्कार पूर्वक स्वीकार करियेगा।

यहाँ राजकुमार अज में नायक के, लक्ष्मी में राजा की प्रियतमा के और निद्रा में राजा की अन्यतम नायिका के, आरोप में रूपक अलङ्कार है। यह रूपक, प्रातःकाल हो जाने का भंग्यंतर से वर्णन किये जाने में जो पर्यायोक्ति अलङ्कार है, उसका अंग है।

इसी दृश्य पर महाकवि श्री हर्ष का एक उक्तिवैचित्र्य देखिये—

---

१ अपने नायक को अन्य नायिकासक्त जानकर जो रमणी रुष्ट हो जाती है उसे खण्डिता-नायिका कहते हैं।

वरुण-अंगना-पश्चिमदिक् को, जाकर निकट किया जब स्पर्श,
क्रमशः स्खलित हो गया सारा किरणजालमय बसन सहर्ष।
देख कुमुदिनी-पति का ऐसा लज्जास्पद यह नग्न-विलास,
सुरपति-महिला-दिशि विकास मिस मानो करती है उपहास[१]।

लोग कहते हैं अन्धकार हट जाने से सुरेन्द्र की रानी[२] प्राची दिशा प्रकाशित हो रही है। हमारे विचार में तो यह कुछ और ही बात है। प्राची दिशा का इस समय प्रकाशित दिखाई देना तो एक बहाना मात्र है, असल बात यह है कि वरुण की पत्नी[३] पश्चिम दिशा के निकट जाने पर चन्द्रमा का किरण-समूह रूपी वस्त्र का प्रत्येक भाग क्रमशः हटकर इस समय सर्वथा दूर हो गया है। अतएव चन्द्रमा की इस नग्न अवस्था के हास्य-जनक दृश्य को देखकर प्राची दिशा हँस रही है, क्योंकि अन्य रमणी में आसक्त किसी सन्मान्य पुरुष की ऐसी हास्योत्पादक दशा देखकर कामिनीजनों को हँसी आ जाना स्वाभाविक है।

इस उक्ति-वैचित्र्य में प्रातःकालीन क्षीण-कान्ति चन्द्रमा में नग्नावस्था की और प्राची दिशा में प्रकाशित हो जाने के व्याज से स्मित हास्य की सम्भावना की जाने के कारण सापन्हव उत्प्रेक्षा है।

इसी दृश्य पर महाकवि श्री माघ का एक और भी उक्ति-वैचित्र्य देखिये—

---

१ नैषधीयचरित १९।२ का भावानुवाद।

२ पूर्व दिशा का पति इन्द्र है अतः यहाँ पूर्व दिशा को इन्द्र की रानी कल्पना की गई है)

३ पश्चिम दिशा का पति वरुण है, अतः पश्चिम दिशा को यहाँ वरुण की रानी कल्पना की गई है।

हास-विलास केलिरत होकर प्रिया[1] कुमुदिनी सङ्ग प्रसंग—
किया जागरण सारी निशि में अतः शिथिल हुये सब अंग।
सोने की इच्छा करके अब प्रात समय अति श्रमित स-तन्द्र—
मानो पश्चिम दिशा अंक में जाकर गिरता है यह चन्द्र[2]।

प्रभात में चन्द्रमा पश्चिम दिशा को क्यों चला जाता है, इसका कारण हमारे विचार में तो यह है कि चन्द्रमा ने अपनी प्रिया कुमोदिनी के साथ हासविलास के प्रसंग में सारी रात जागरण किया है। अतः सर्वाङ्ग शिथिल हो जाने के कारण अब शयन करने के लिये अलसित होकर ओंघता हुआ यह चन्द्रमा प्रातःकाल अपनी दूसरी नायिका पश्चिम दिशा की गोद में जाकर गिरता है।

यहाँ सोने की इच्छा से चन्द्रमा के पश्चिम दिशा को जाने की सम्भावना की गई है अतः इस उक्ति वैचित्र्य में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

रात्रि-विकासिनी कुमोदिनी प्रभात में मुन्द जाती है। इसपर देखिये श्री हर्ष का उक्ति वैचित्र्य—

कलिकामय निज-नेत्र कुमुदनी स्वयं मूंद लेती है प्रात,
देते इसे दोष, जब करती रवि की ओर न दृष्टि-निपात।
किन्तु असूर्यंपश्या होतीं नृप रमणी यह है प्रख्यात
तो नक्षत्र राज की राणी यह क्या है न भुवन विख्यात[3]।

---

१ रात्रि में चन्द्रमा के प्रकाश से कुमुदिनी प्रफुल्लित हो जाती है इसलिये कविसमाज में कुमुदिनी को चन्द्रमा की नायिका मानी जाती है।

२ शिशुपाल वध के श्लोक ११।२२ का यह भावानुवाद है।

३ नैषधीयचरित के ११।५५ श्लोक का यह भावानुवाद है।

कुमुदिनी प्रभात समय में अपने कलिकामयी नेत्रों को बन्द करके जान बूझकर अन्धी हो जाती है। पर लोग उसपर यह दोष लगाते हैं कि कुमुदिनी बड़ी हतभागिनी है जो प्रभात में जगत्पूज्य भगवान् सूर्य के दर्शन नहीं करती। अथवा कुमुदिनी ईर्ष्यालु है जो भगवान् भास्कर को नहीं देखती। किन्तु इस प्रकार कुमुदिनी की निन्दा करने वाले लोग बड़ी भूल करते हैं—वस्तुतः वे लोग अपनी अनभिज्ञता के कारण कुमुदिनी पर ऐसा आक्षेप करके उसके साथ अन्याय करते हैं। हमारी इस बात पर आप चौंकियेगा नहीं—कुछ ध्यान देकर सुनिये तो सही। राज-रमणियों का असूर्यंपश्या होना प्रसिद्ध है। प्रतिभाशाली महाकवि राजपत्नियों को सदा से असूर्यंपश्या (सूर्य को भी दृष्टिपथ न करने वाली) कहते और मानते चले आये हैं। केवल महाकवि ही नहीं किन्तु प्रसिद्ध व्याकरणाचार्य पाणिनि एवं ऐतिहासिक विद्वानों द्वारा भी राज-पत्नियों को यह गौरव उपलब्ध है। फिर भला कुमुदिनी द्वारा सूर्य को देखा जाना किस प्रकार सम्भव हो सकता है, आप कहेंगे कि कुमुदिनी रात्रि विकाशिनी एक पुष्प जाति है, इसकी और राजपत्नियों की क्या समता? हम आपसे पूछते हैं कि विस्तृत आकाश मण्डल में व्याप्त समस्त ताराओं का क्या चन्द्रमा राजा नहीं है और क्या कुमुदिनी का पति होने के कारण चन्द्रमा का नाम कुमुदिनीनाथ नहीं है? अब आपही कहिये, ऐसी परिस्थिति में राज-रमणी कुमुदिनी द्वारा सूर्य को न देखा जाना, उसके गौरव के अनुरूप है या नहीं? यहाँ इस उक्ति-वैचित्र्य में व्याघात अलंकार है।

प्रभात में रात्रि के साथ-साथ ही अल्प-कालिक प्रातः सन्ध्या भी शीघ्र ही अदृश्य हो जाती है। इस उक्तिवैचित्र्य पर महाकवि माघने कहा है—

अरुण कान्ति मय कोमल जिसके हस्त-पाद हैं कमल-स-नाल,
मधुपावलि है शोभित कज्जल नीलेन्दीवर नयन विशाल।

प्रातः सन्ध्या कल खग-रव का करती सी आलाप महान,
भगी आ रही निशि के पीछे अल्प वयस्का सुता समान[१]।

स-नाल कमल ही जिसके कर और चरण हैं, प्रफुल्लित नील-कमल-दल ही जिसके नेत्र हैं, कमलों पर मँडराती हुई भृङ्गावली ही जिसके कज्जल लगा हुआ है और पक्षियों का प्रातःकालीन कल-रव है वही मानों उसका मधुर आलाप है; ऐसी प्रातःकालीन सन्ध्या (अरुणोदय के बाद और सूर्योदय के प्रथम की वेला) उसी प्रकार रात्रि के पीछे भगी आ रही है जिस प्रकार अल्प-वयस्का पुत्री अपनी माता के साथ भगी हुई जाती है। इस उक्ति-वैचित्र्य में उपमा अलंकार है।

ऊपर के उदाहरणों द्वारा विदित हो सकता है कि साधारण बोल-चाल से भिन्न शैली या उक्ति वैचित्र्य क्या पदार्थ है और वह किस प्रकार से कहा जाता है, तथा यह उक्तिवैचित्र्य ही भिन्न भिन्न अलंकारों का किस प्रकार आधार है। इस उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर ही महान् साहित्याचार्यों ने अलंकारों के नाम निर्दिष्ट किये हैं।

अलङ्कारों के 'नाम' और 'लक्षण'

प्रश्न हो सकता है कि "जब भिन्न-भिन्न उक्ति-वैचित्र्य के आधार पर अलंकारों के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं तब अलंकारों के नाम द्वारा ही उनका स्वरूप एवं अन्य अलंकार से पार्थक्य—जुदापन प्रकट हो जाना चाहिये, फिर प्राचीन आचार्यों ने अलंकारों के पृथक्-पृथक् लक्षण निर्माण करने की क्यों आवश्यकता समझी?" यद्यपि यह प्रश्न साधारणतया सारगर्भित प्रतीत हो सकता है किन्तु बात यह है कि जिस अलंकार में जिस विशेष प्रकार की उक्ति का वैचित्र्य—प्रधान चमत्कार—है उसको

---

१ शिशुपालवध ११।४० का भावानुवाद।

लक्ष्य में रखकर उस चमत्कार का संकेतमात्र अलंकार के नाम द्वारा सूचित किया गया है। किन्तु अलंकार के केवल नाम द्वारा किसी अलंकार के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। इसीलिये प्राचीनसाहित्याचार्यों ने प्रत्येक अलंकार का लक्षण निर्माण किया है। अतएव लक्षणों का निर्माण किया जाना अत्यन्त उपयोगी और परमावश्यक है। किसी भी वस्तु का सर्वाङ्गपूर्ण लक्षण वही कहा जा सकता है, जिसके द्वारा दूसरे से पृथक्ता करने वाला केवल उसी वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो सके[1]। लक्षण निर्माण में कुछ भी असावधानी हो जाने पर लक्षण में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति आदि दोष हो जाते हैं—

(१) **अतिव्याप्ति दोष**—जिस वस्तु का जो लक्षण बताया जाय वह लक्षण उस वस्तु के अतिरिक्त यदि अन्य वस्तु में भी व्याप्त हो जाता हो—मिलता हो—तो अतिव्याप्ति दोष होता है। जैसे, यदि मरुस्थल निवासी मारवाड़ियों का लक्षण यह कहा जाय कि—

'पगड़ी पहनने वाले को मारवाड़ी कहते हैं'।

तो इस लक्षण की व्याप्ति मारवाड़ियों के सिवा गुजराती और महाराष्ट्र आदि जनों में भी हो जाती है, क्योंकि गुजराती और महाराष्ट्रीय भी पगड़ी पहिनते हैं अतः इस लक्षण में 'अतिव्याप्ति' दोष है।

(२) **अव्याप्ति दोष**—जिस वस्तु का जो लक्षण कहा जाय वह उस वस्तु में सर्वत्र व्यापक न हो—कहीं व्यापक हो और कहीं नहीं। जैसे—

---

१ 'असाधारण धर्मोलक्षणम्' अर्थात् दूसरे से पृथक्ता करने वाले धर्म को लक्षण कहते हैं।

व्यापारी को मारवाड़ी कहते हैं।'

इस लक्षण की व्याप्ति मारवाड़ियों में सर्वत्र नहीं, क्योंकि सभी मारवाड़ी व्यापारी नहीं होते ऐसे भी मारवाड़ी हैं जो व्यापार नहीं करते हैं। अतः इस लक्षण की उनमें अव्याप्ति है जो व्यापार नहीं करते हैं अतएव 'अव्याप्ति' दोष है।

इसी प्रकार अलङ्कारों के लक्षणों में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष आ जाता है। जैसे, भारतीभूषणमें विभावना अलङ्कार में बताते हुए—

"जहाँ कारण और कार्य के सम्बन्ध का किसी विचित्रता से वर्णन हो वहाँ विभावना अलङ्कार होता है।"

इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है। क्योंकि 'विषम'[1] और 'असंगति'[2] आदि अलंकारों में भी कारण और कार्य के विचित्र संम्बन्ध का ही वर्णन होता है।

और 'भाषाभूषण' में लिखे हुए—

'परिवृत्ति लीजे अधिक जहँ थोरो कछु देय।'

परिवृत्ति अलंकार के इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आ गया है--परिवृत्ति में केवल थोड़ा देकर ही अधिक नहीं लिया जाता, अधिक देकर भी थोड़ा लिया जाता है। और समान वस्तु भी ली, दी जाती है अतः ऐसे लक्षणों में अव्याप्ति दोष रहता है।

लक्षण में एक दोष 'असम्भव' भी होता है। अर्थात् जिस वस्तु के

---

१ देखिये इस ग्रंथ में तीसरे विषम अलंकार का लक्षण।

२ देखिये इस ग्रंथ में असङ्गति अलंकार का लक्षण।

३ देखिये इस ग्रंथ में परिवृत्ति अलंकार का लक्षण और उदाहरण।

लक्षण में जो बात बताई जाय वह बात उस वस्तु में न हो। जैसे, असङ्गति अलंकार के तीसरे भेद का भाषाभूषण में—

'और काज आरम्भिये औरै करिये दौर।'

यह लक्षण बताया गया है। किन्तु असङ्गति के तीसरे भेद में ऐसा वर्णन नहीं होता। उस में तो जिस कार्य को करने को उद्यत हो उसके विपरीत कार्य किये जाने का वर्णन होता है। अतः इस लक्षण में असम्भव दोष है।[1]

कहने का अभिप्राय यह है कि अलंकारों के लक्षण लिखे बिना केवल अलंकार के नाम मात्र से अलंकारों का स्वरूप कभी स्पष्ट नहीं हो सकता है।

अलंकारों के उदाहरणों के निर्वाचन में भी अत्यन्त सूक्ष्म-दर्शिता की आवश्यकता है। इस कार्य में थोड़ी भी असावधानी हो जाने पर जिस पद्य को जिस अलंकार के उदाहरण में दिया जाता है वह उस अलंकार का उदाहरण न होकर प्रायः अन्य अलकार का उदाहरण हो जाता है[2]। इस विषय में यह ध्यान देने की बात है कि जहाँ एक ही छन्द में एक से अधिक अलकारों की स्थिति होती है और सभी अलंकार समान बल के होते हैं वहाँ उनमें एक को प्रधान और दूसरे को गौण नहीं माना जा सकता, ऐसे छन्द को सम-प्रधान-संकर के उदाहरण में ही दिया जा सकता है, अन्य किसी अलंकार के उदाहरण

---

१ देखिये इस ग्रंथ में उद्धृत 'भारतीभूषण' के मालादीपक का और विभावना का लक्षण।

२ ऐसे उदाहरण अन्य ग्रंथों के इस ग्रंथ में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और स्मरण में दिखाये गये हैं।

में नहीं। हाँ, जहाँ कहीं एक छन्द में अनेक अलङ्कारों की स्थिति होने पर एक गौण और दूसरा प्रधान होता है, ऐसे स्थल पर जिस अलङ्कार की प्रधानता होती है उसी के उदाहरण में वह छन्द दिया जा सकता है, न कि जो गौण होता है उस अलङ्कार के उदाहरण में।

कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जिनके उदाहरण प्रायः एक दूसरे से बहुत कुछ समानता लिए हुए प्रतीत होते हैं। जैसे वाचक-लुप्ता उपमा और रूपक, प्रतीप और व्यतिरेक, एवं दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास। ऐसे अलंकारों के उदाहरण चुनने में अत्यन्त सूक्ष्मदर्शिता की आवश्यकता है।

अलङ्कारों के निर्माण का ऐतिहासिक विवेचन

अलङ्कारों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक विवेचन के लिये यह आवश्यक है कि प्रारंभ में अलंकारों की कितनी संख्या थी, फिर उनकी संख्या आदि में किस-किस प्राचीनाचार्य द्वारा किस-किस समय में किस प्रकार क्रमशः वृद्धि होकर अब उनकी क्या परिस्थिति है। इस क्रम-विकास के विवेचन के लिये संस्कृत साहित्य के प्राचीन अलंकार ग्रन्थ ही उपयुक्त हो सकते हैं। हिन्दी के अलंकार ग्रंथ तो संभवतः १७वीं शताब्दी के ही उपलब्ध होते हैं और वे भी संस्कृत ग्रंथों के आधार पर ही लिखे गये हैं।

संस्कृत साहित्य के प्राचीन अलंकार ग्रन्थ[१]

प्राचीन उपलब्ध साहित्य ग्रन्थों में सर्वोपरि स्थान श्रीभरतमुनि के

श्रीभरतमुनि का नाट्यशास्त्र

नाट्यशास्त्र को दिया जाता है। यद्यपि नाट्यशास्त्र में 'अन्ये' (६।१३०), 'अन्यैरपि उक्तम्' (६।१४४) और 'अन्येतु' (६।१६६) आदि वाक्यों के आगे उद्धृत किये गये अवतरणों से विदित होता है कि

१. संस्कृत में साहित्य विषयक रीति ग्रन्थ भी अगणित लिखे गये

श्रीभरतमुनि के पूर्व भी अनेक अज्ञातनाम साहित्याचार्य हो गये थे। किन्तु उनके नाम और ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण श्रीभरतमुनि का नाट्यशास्त्र ही सर्व प्रथम ग्रन्थ माना जाता है। श्रीभरतमुनि के विषय में केवल यही ज्ञात हो सकता है कि वे भगवान् श्रीवेदव्यास के पूर्ववर्ती हैं[१]। श्रीभरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में केवल उपमा, दीपक, रूपक और यमक चार अलंकार निरूपण किये हैं।

श्रीभरतमुनि के बाद भगवान् वेदव्यास-प्रणीत

भगवान् वेदव्यास का अग्निपुराण

सुप्रसिद्ध अग्निपुराण के साहित्य प्रकरण में (अध्याय ३४४ में) केवल अनुप्रास, यमक, चित्र प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्त (स्वर, विन्दुच्युत आदि) और समस्या, ये ७ शब्दालंकार और (अध्याय ३४५ में) निम्नलिखित केवल १५ अर्थालंकारों का उल्लेख है और उनके लक्षण मात्र लिखे गये हैं—

१—स्वरूप (स्वभावोक्ति)।
२—उपमा।
३—रूपक।
४—सहोक्ति।
(यह चारों सादृश्य के अंतर्गत लिखे गये हैं)
४—अर्थान्तरन्यास।
६—उत्प्रेक्षा।
७—अतिशयोक्ति।
८—विशेषोक्ति।
६—विभावना।
१०—विरोध।
११—हेतु।
१२—आक्षेप।
१३—समासोक्ति।
१४—अपन्हुति।
१५—पर्यायोक्ति।

हैं। यहां केवल साहित्य के सुप्रसिद्ध आचार्यों द्वारा लिखे हुए प्रायः मुद्रित ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है।

१—देखिये हमारा "संस्कृत साहित्य का इतिहास" प्रथम भाग।

अग्निपुराण के बाद ईसा की लगभग पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक के ग्रन्थ क्रमशः इस प्रकार उपलब्ध होते हैं—

भट्टिकाव्य

भट्टि द्वारा प्रणीत 'भट्टिकाव्य' यद्यपि रीति-ग्रन्थ नहीं है—श्रीराम-चरित-वर्णनात्मक काव्य है, पर उसके प्रसन्न नामक तीसरे काण्ड के १० वें सर्ग में ३८ अलंकारों के उदाहरण मात्र हैं। भट्टि का समय सन् ५०० से ६५० ई० तक किसी समय माना जा सकता है।

आचार्य भामह का काव्यालङ्कार

भामह अलंकार सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हैं। नाट्यशास्त्र और अग्निपुराण के पश्चात् उपलब्ध ग्रन्थों में सब से प्रथम ग्रन्थ भामह का काव्यालंकार ही है। इसमें केवल ३८ अलंकारों का निरूपण है। भामह का समय ईसा की दूसरी शताब्दी के बाद और छठी शताब्दी के प्रथम अनुमान किया जाता है।

आचार्य दण्डी का काव्यादर्श

दण्डी ने काव्यादर्श में केवल ३६ अलंकारों का निरूपण किया है। इनमें 'आवृत्ति-दीपक' नवीन अलंकार है। दण्डी का समय सम्भवतः ईसा की सप्तम शताब्दी का अंतिम चरण है।

उद्भट का काव्यालङ्कार सारसंग्रह

उद्भटाचार्य ने ४१ अलंकारों का निरूपण किया है इनमें छः अलंकार नवीन हैं। 'दृष्टान्त', 'काव्यलिङ्ग' और 'पुनरुक्तवदाभास' ये तीन तो सर्वथा नवीन हैं। 'लाटानुप्रास' और 'छेकानुप्रास' ये दो अनुप्रास के उपभेद हैं और संकर, जिसको पूर्वाचार्यों ने संसृष्टि

या संकीर्ण के अन्तर्गत माना है। उद्भट का समय ईसा की अष्टम शताब्दी के लगभग है।

वामन का काव्यालङ्कारसूत्र

वामन ने काव्यालंकार सूत्र में केवल ३२ अलंकार निरूपण किये हैं जिनमें व्याजोक्ति और वक्रोक्ति दो नवीन हैं। आचार्य वामन का समय ईसा की अष्टम शताब्दी के लगभग है। सम्भवतः उद्भट और वामन समकालीन थे।

भट्टि आदि उपर्युक्त पाँचों आचार्यों के बाद ईसा की अष्टम शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक अलंकारशास्त्र के प्रधान आचार्य रुद्रट, महाराज भोज, श्रीमम्मट और रुय्यक द्वारा क्रमशः निम्नलिखित ग्रन्थ लिखे गये हैं—

रुद्रट का काव्यालङ्कार

रुद्रट ने ५ शब्दालंकार और ५० अर्थालंकार निरूपण किये हैं। यद्यपि रुद्रट द्वारा किये गये वर्गीकरण के अनुसार २३, २१, १२ और १ अर्थात् कुल ५७ और १ संकर, इस प्रकार ५८ अर्थालंकार हैं। किन्तु इसमें ७ अर्थालंकार दो बार गिने गये हैं और श्लेष को शब्द और अर्थ दोनों अलंकारों में गिना गया है। इन ८ को न गिना जाय तो शेष ५० रह जाते हैं। नवीन अलंकारों के आविष्कारकों में रुद्रट का एक विशेष स्थान है। इसने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा २९ नवीन अलंकार निरूपण किये हैं। रुद्रट का समय सम्भवतः ईसा की नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

धारा नगरी के सुप्रसिद्ध महाराज भोज का सरस्वतीकण्ठाभरण

महाराज भोज का सरस्वतीकण्ठा-भरण

विषय-विवेचन में महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में २४ अर्थालंकार, २४ शब्दालंकार और २४ शब्दार्थ उभयालंकार निरूपित किये गये हैं। शब्दालंकारों में छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, गुम्फना, वाको, वाक, अनुप्रास और चित्र ये नौ अलंकार अग्निपुराण के मतानुसार निरूपित हैं। अर्थालंकारों में राजा भोज ने अपने पूर्वाचार्यों की अपेक्षा ६ नवीन अलंकार निर्माण किये हैं*। इनका समय अनुमानतः ईसा की ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से १०५० ई० तक है।

आचार्य मम्मट और उनके काव्यप्रकाश का स्थान केवल अलकार विषय में ही नहीं सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र में सर्वोच्च और महत्वपूर्ण है।

श्री मम्मट का काव्यप्रकाश

श्री मम्मट और उनके काव्यप्रकाश को जैसी प्रतिष्ठा प्राप्त है वैसी आज तक किसी साहित्याचार्य और साहित्य ग्रन्थ को उपलब्ध नहीं हुई। काव्य-प्रकाश से पहले भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट और भोज आदि द्वारा साहित्य के महत्वपूर्ण ग्रन्थ अवश्य लिखे जा चुके थे, किन्तु काव्य-प्रकाश के सम्मुख वे सभी ग्रन्थ अपने स्वतन्त्र प्रकाश की विशेषता प्रकट करने में समर्थ नहीं हो सके हैं।

काव्यप्रकाश में ८ शब्दालंकार और ६२ अर्थालंकार हैं। इनमें

---

* इसके द्वारा कितने अलंकार पूर्वाचार्यों के निरूपित और कितने नवीन लिखे गये हैं वह आगे दी हुई अलंकार विवरण तालिकाओं में देखिये।

अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम पाँच अलंकार नवीन हैं। और ये सम्भवतः श्रीमम्मट द्वारा आविष्कृत हैं। आचार्य मम्मट का समय महाराज भोज के बाद अनुमानतः ईसा की ११ वीं शताब्दी है।

रुय्यक का अलंकार सूत्र

रुय्यक का अलंकारसूत्र या अलंकारसर्वस्व भी अलंकार विषय पर बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है। विशेषतया इस ग्रन्थ का महत्त्व इस पर उनके शिष्य मंखक द्वारा लिखी गई सार-गर्भित वृत्ति ही है। इस ग्रन्थ में ८४ अलंकार हैं। इनमें उल्लेख, काव्यार्थापत्ति, परिणाम, विचित्र और विकल्प ये अलंकार नवीन हैं। रुय्यक का समय लगभग ईसा की बारहवीं शताब्दी का मध्यकाल है।

रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक के ग्रंथों के बाद निम्न-लिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं—

वाग्भट प्रथम का वाग्भटा अलंकार

जैन विद्वान् वाग्भट प्रथम का वाग्भटालङ्कार सूत्रबद्ध ग्रन्थ है। इसमें ४ शब्दालङ्कार और ३५ अर्थालङ्कार निरूपित किये गये हैं। इसका समय ईसा की १२ वीं शताब्दी के लगभग है।

हेमचन्द्राचार्य का काव्यानुशासन

हेमचन्द्र का काव्यानुशासन सूत्रबद्ध महत्वपूर्ण ग्रन्थ है इसमें अलङ्कार विषय का संक्षिप्त वर्णन है। इसमें ६ शब्दालङ्कार और २९ अर्थालङ्कार लिखे गये हैं। इसका समय सम्भवतः ईसा की १२वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

पीयूषवर्ष जयदेव का चन्द्रलोक

पीयूषवर्ष जयदेव के चन्द्रालोक में साहित्य के सभी विषयों का समावेश है। इसके पंचम मयूख में ८ शब्दालङ्कार और ८२ अर्थालङ्कारों का निरूपण किया गया है। जिनमें १६ अलङ्कार ऐसे हैं जो जयदेव के पूर्ववर्त्ती आचार्यों के उपलब्ध ग्रंथों में नहीं हैं। जयदेव का समय अनुमानतः आचार्य मम्मट के बाद ईसा की १२ वीं और १३ वीं शदाब्दी के अन्तर्गत प्रतीत होता है।

विद्याधर का एकावली

विद्याधर ने अपने एकावली ग्रंथ के सातवें उन्मेष में शब्दालङ्कार और आठवें में अर्थालङ्कार का विषय निरूपित किया है। विद्याधर का समय सम्भवतः सन् १२७५-१३२५ ई० है।

विद्यानाथ का प्रतापरुद्र यशोभूषण

विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण में साहित्य के अन्य विषयों के साथ अलङ्कार विषय का भी समावेश है। विद्यानाथ ने अधिकांश में काव्यप्रकाश और अलङ्कारसर्वस्व का अनुसरण किया है। इसका समय भी सन् १२७५ से १३२५ ई० तक माना जा सकता है।

द्वितीय वाग्भट का काव्यानुशासन

द्वितीय वाग्भट के काव्यानुशासन में 'अन्य' और 'अपर' ये दो अलङ्कारों केनाम मात्र नवीन हैं। वास्तव में 'अन्य' तुल्ययोगिता के और 'अपर' समुच्चय के अन्तर्गत है। इसका समय सम्भवतः ईसा की १४ वीं शताब्दी है।

आचार्य मम्मट और रुय्यक के बाद अलङ्कार शास्त्र का उल्लेखनीय

विश्वनाथ का साहित्यदर्पण लेखक विश्वनाथ हैं। इनके साहित्यदर्पण में १२ शब्दालङ्कार और ६६ अर्थालङ्कार एवं ७ रसवदादि अलङ्कार और संकर एवं संसृष्टी, इस प्रकार सब ६० अलंकारों का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ में अलंकार प्रकरण विशेषतया काव्यप्रकाश और अलंकारसर्वस्व से लिया गया है। विश्वनाथ ने निश्चय और अनुकूल जो दो अर्थालङ्कार नवीन निरूपण किये हैं, वे वस्तुतः नवीन नहीं हैं, जिसे दण्डी ने 'तत्वोपाख्यानोपमा' के नाम से उपमा का भेद और जयदेव ने 'भ्रान्तापन्हुति के नाम से लिखा है उसको विश्वनाथ ने 'निश्चय' नाम से लिखा है। 'अनुकूल' भी प्राचीनों द्वारा निरूपित 'विषम' के दूसरे भेद से अधिकांश में भिन्न नहीं। सम्भवतः विश्वनाथ का समय ईसा की १४ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

अप्पय्य दीक्षित का कुवलयानन्द और चित्रमीमांसा

अप्पय्य दीक्षित का अलंकार विषयक ग्रंथ कुवलयानन्द अधिक प्रचलित है। इसमें १०० अर्थालङ्कार, ७ रसवत् आदि, ११ प्रत्यक्ष आदि प्रमाणालङ्कार और १ ससृष्टि एवं १ संकर इस प्रकार १२० अलङ्कारों का निरूपण है।

कुवलयानन्द में अधिकांश तो चन्द्रालोक के लक्षण और उदाहरणों की कारिकाओं पर वृत्ति और उदाहरण लिखकर विषय को स्पष्ट किया गया है। इसके सिवा कुछ अलङ्करों के लक्षण और उदाहरणों की कारिकाएँ दीक्षितजी ने अपनी रचना की भी चन्द्रालोक से अधिक लिखी हैं। दीक्षितजी का चित्रमीमांसा ग्रन्थ भी

अलंकार विषयक आलोचनात्मक महत्वपूर्ण है किन्तु यह अपूर्ण है। दीक्षितजी का समय सम्भवतः सन् १५७५ से १६६७ ई० तक है।

शोभाकर का अलंकाररत्नाकर

शोभाकर के अलंकाररत्नाकर में २७ अलंकार यद्यपि पूर्वाचार्यों के निरूपित अलंकारों से अधिक हैं। किन्तु इनमें अधिकाँश अलंकार ऐसे हैं जो पूर्वाचार्यों के निरूपित अलंकारों के अन्तर्गत हैं। शोभाकर पण्डितराज का पूर्ववर्ती है।

यशस्क का अलङ्कारोदाहरण

यशस्क के अलंकारोदाहरण में ६ अलंकार नवीन हैं किन्तु ये महत्वपूर्ण नहीं हैं। इसका समय अज्ञात है

पंडितराज का रसगंगाधर

पण्डितराज जगन्नाथ त्रिशूली का रसगङ्गाधर अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आलोचनात्मक अपूर्व ग्रंथ है। मौलिकता में ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश के बाद इसी का स्थान है। पंडितराज ने इस ग्रंथ में अपने पूर्ववर्ती प्रायः सभी सुप्रसिद्ध साहित्याचार्यों के ग्रंथों की विद्वत्ता पूर्वक मार्मिक आलोचनाएँ की हैं। अप्पय्य दीक्षित के कुवलयानन्द और चित्रमीमांसा की तो पण्डितराज ने प्रायः प्रत्येक अलंकार प्रकरण में विस्तृत आलोचना की है। यह ग्रंथ अपूर्ण है इसमें केवल 'उत्तरालंकार' तक ७० अर्थालंकारों का निरूपण ही है। इन्होंने सम्भवतः 'तिरस्कार' अलंकार नवीन लिखा है। पण्डितराज यवन सम्राट् शाहजहाँ के समकालीन थे। अतः इनका समय ईसा की १७ वीं शताब्दी के आरम्भ से तृतीय चरण तक है।

पण्डितराज का समय ही संस्कृत साहित्य ग्रंथों की रचना का अन्तिम काल है। १७ वीं शताब्दी के बाद संस्कृत साहित्य में उल्लेखनीय ग्रंथ विश्वेश्वर कृत एक अलंकारकौस्तुभ है उसमें भी मार्मिक विवेचन किया गया है। पण्डितराज जगन्नाथ के मतों का भी प्रायः आलोचनात्मक खण्डन किया गया है।*

अलङ्कारों का क्रम विकास

उपर्युक्त विवरण द्वारा स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र में केवल ४ और

प्रारम्भिक काल

अग्निपुराण में केवल १५ अलंकार हैं। अग्निपुराण के पश्चात् और भट्टि और भामह के प्रथम लगभग ३५०० वर्ष के मध्यवर्ती दीर्घ काल में लिखा हुआ अलंकार शास्त्र का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। पर इस काल में अलंकारों का क्रम-विकास अवश्य हुआ है। ईसा की छटी शताब्दी के लगभग का सर्व प्रथम ग्रंथ हमको आचार्य भामह का काव्यालंकार मिलता है। इसमें किये गए 'परे', 'अन्ये', 'अन्यैः, कैश्चित्', 'केचित्', 'केषांचित्' और 'अपरे' इत्यादि प्रयोगों द्वारा एवं शाखावर्द्धन, रामशर्म्मा और मेधाविन् आदि अनेक आलंकारिकों के नामोल्लेख के कारण यह सिद्ध होता है कि भामह के पहले अनेक अलंकार ग्रंथ लिखे

---

* यद्यपि मुरारीदानजी के हिन्दी 'जसवन्तजसोभूषण' का संस्कृत अनुवाद सुब्रह्मण्य शास्त्री द्वारा बीसवीं सदी में किया गया है। पर वस्तुतः वह हिन्दी 'जसवन्तजसोभूषण का ही भाषान्तर होने के कारण उसका उल्लेख आगे हिन्दी ग्रन्थों के प्रकरण में किया जायगा।

गये हैं। अग्निपुराण के बाद भामह के काव्यालंकार में जो अलंकारों की संख्या वृद्धि एवं उनका विकास दृष्टिगत होता है वह केवल भामह द्वारा ही नहीं,, किन्तु अनेक विद्वानों द्वारा क्रमशः हुआ है।

विकास का प्रारम्भिक काल

भट्टि और भामह से वामन तक अर्थात् ईसा की छटी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक अलंकारों के क्रम-विकास का द्वितीय काल है। भट्टि और भामह द्वारा ३८ अलंकारों का निरूपण किया गया है और इनके बाद दण्डी, उद्भट और वामन तक १४ अलंकारों की वृद्धि हुई है। यद्यपि वामन के समय तक-ईसा की आठवीं शताब्दी तक अलङ्कारों की संख्या ५२ से अधिक नहीं बढ़ सकी, तथापि दण्डी आदि के द्वारा विषय का विवेचन क्रमशः विस्तृत और अधिकाधिक स्पष्ट किया गया है, यह क्रम-विकास का विशेषतः परिचायक है।

पूर्ण विकास काल

ईसा की आठवीं शताब्दी के अनन्तर लगभग १२ वीं शताब्दी तक की चार शताब्दी अलङ्कारों के क्रम-विकास का सर्वोपरि महत्वपूर्ण काल है। इस काल में हमको रुद्रट, भोज, श्रीमम्मट और रुय्यक ये चार उल्लेखनीय महान् अलंकारिक आचार्य उपलब्ध होते हैं इनके द्वारा अलङ्कारों के विषय में जो कुछ लिखा गया है उससे अलङ्कारों के क्रम-विकास पर बहुत कुछ चमत्कारपूर्ण प्रकाश पड़ता है। जब कि अलङ्कारों की संख्या आठवीं शताब्दी तक ५२ से अधिक नहीं बढ़ पाई थी, इन आचार्यों के समय में १०३ तक पहुँच गई। और अलंकारों की संख्या की वृद्धि के साथ-साथ विषय-विवेचन भी अधिकाधिक सूक्ष्म और गम्भीर

होता चला गया है। सत्य तो यह है कि श्रीभरतमुनि द्वारा स्थापित और भामह आदि द्वारा पोषित अलंकार-सम्प्रदाय में उद्भट आदि के बाद कुछ शिथिलता आ गई थी किन्तु रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक द्वारा किये गये गम्भीर विवेचन की सहायता से अलंकार सम्प्रदाय पुनः प्रभावित हो गया। अर्थात् अलंकार सम्प्रदाय को इन चारों आचार्यों ने शाणोत्तीर्ण क्रिया द्वारा परिष्कृत और एक विशेष आकर्षक स्थान पर स्थापित करके चमत्कृत कर दिया।

विकास का उत्तर-काल

ईसा की १३ वीं शताब्दी से लगभग १७ वीं शताब्दी तक अलंकारों के क्रम-विकास का उत्तर या अन्तिम काल है। इस काल में सर्वप्रथम जयदेव के चन्द्रालोक में ऐसे १६ नवीन अलंकार दृष्टिगत होते हैं जिनका उल्लेख जयदेव के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा नहीं किया गया है। जयदेव ने अलंकारों के महत्त्व पर विशेष उल्लेख किया है।

जयदेव के बाद ईसा की १४ वीं शताब्दी में विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण में अलंकारों का विशद विवेचन मिलता है।

इसके बाद १७ वीं शताब्दी में अप्पय्य दीक्षित के कुवलयानन्द में १७ अलंकार जयदेव के चन्द्रालोक से अधिक मिलते हैं। अप्पय्य दीक्षित तक अलंकारों की संख्या १३३ तक पहुँच चुकी थी।

शोभाकर और यशस्क आदि ने भी अलंकारों की संख्या में वृद्धि की है।

पण्डितराज जगन्नाथ के रसगङ्गाधर में अलंकारों की जो आलोचना-

त्मक विवेचना की है उससे अलंकार-साहित्य के क्रम-विकास का बहुत कुछ पता चलता है। ईसा की १७ वीं शताब्दी में लिखे गये पण्डितराज जगन्नाथ के रसगङ्गाधर के समय तक विभिन्न आचार्यों के निरूपित अलंकारों की संख्या १८० से भी अधिक पहुँच गई थी।

पण्डितराज के पश्चात् संस्कृत साहित्योद्यान को अलंकृत करके उसमें मनोरञ्जकता की अभिवृद्धि करने वाला कोई सुचतुर मालाकार उपलब्ध नहीं होता है। जो साहित्योद्यान भारतीय नृपतियों के सौख्य-सम्पन्न वासन्तिक काल में परिवर्द्धित होकर विकसित हो रहा था उसका ह्रास तो उन नृपतियों के स्वातन्त्र्य के साथ-साथ यवन काल में ही शनैः शनैः होने लगा था; पर जब भारतीय नृपतियों के गौरव का प्रभाकर पश्चिमीय अरुणिमा में निमग्न होता हुआ विलासिता के तमावरण में विलुप्तप्राय हो गया, तो ऐसी परिस्थिति में हमारे साहित्योद्यान का सिंचन होना ही सम्भव कहाँ था ? अस्तु।

अलंकारों की निम्नलिखित विवरण तालिकाओं द्वारा अलंकारों के नाम और संख्या के साथ-साथ यह भी ज्ञात होगा कि किन-किन आचार्यों ने किस-किस नाम के कितने-कितने अलंकार लिखे हैं और उन अलंकारों में उनके परवर्ती किस-किस आचार्य ने कौन-कौन से अलंकार ग्रहण किये और कौन-कौन से नहीं किये हैं—

अलङ्कार विवरण तालिका नं० १

		भामह	दण्डी	उद्भट	वामन	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
१	अतिशयोक्ति	१	१	१	१	उपमा में	१	१	१
२	अनन्वय	२	उपमा	२	२	उपमा में	उपमा में	२	२
३	अनुप्रास	३	२	३	३	१	२	३	३
४	अपन्हुति	४	३	४	४	२	३	४	४
५	अप्रस्तुत प्रशंसा	५	४	५	५	३	४	५	५
६	अर्थान्तर न्यास	६	५	६	६	४	५	६	६
७	आक्षेप	७	६	७	७	५	६	७	७
८	आवृत्ति	०	७	०	०	०	०	०	०
९	आशी	८	८	०	०	०	०	०	०
१०	उत्प्रेक्षा	९	९	८	८	६	७	८	८
११	उत्प्रेक्षावयव	१०	उत्प्रेक्षा में	०	संसृष्टीमें	०	०	०	०
१२	उदात्त	११	१०	९	०	०	०	९	९
१३	उपमा	१२	११	१०	९	७	८	१०	१०
१४	उपमारूपक	१३	रूपक में	०	संसृष्टीमें	०	०	०	०
१५	उपमेयोपमा	१४	उपमा में	११	१०	उपमा में	उपमामें	११	११
१६	ऊर्जस्वी	१५	१२	१२	०	०	०	०	१२
१७	काव्यलिंग	०	०	१३	०	०	ज्ञा० हेतुमें	१२	१३
१८	छेकानुप्रास	०	०	१४	०	०	अनुप्रासमें	१३	१४

		भामह	दण्डी	उद्भट	वामन	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
१९	तुल्ययोगिता	१६	१३	१५	११	०	९	१४	१५
२०	दीपक	१७	१४	१६	१२	८	१०	१५	१६
२१	दृष्टान्त	०	०	१७	०	९	साम्यमें	१६	१७
२२	निदर्शना	१८	१५	१८	१३	०	११	१७	१८
२३	निपुण ❀	०	०	०	०	०	०	०	०
२४	पर्यायोक्त	१९	१६	१९	०	०	१२	१८	१९
२५	परिवृत्ति	२०	१७	२०	१४	१०	१३पर्याय	१९	२०
२६	पुनरुक्तवदाभास	०	०	२१	०	०	०	२०	२१
२७	प्रतिवस्तूपमा	उपमामें	उपमामें	२२	१५	०	साम्यमें	२१	२२
२८	प्रेय	२१	१८	२३	०	०	०	०	२३
२९	भाविक	२२	१९	२४	०	०	१४	२२	२४
३०	यथासंख्य	२३	२०	२५	१६	११	१५	२३	२५
३१	यमक	२४	२१	०	१७	१२	१६	२४	२६
३२	रसवत	२५	२२	२६	०	०	०	०	२७
३३	रूपक	२६	२३	२७	१८	१३	१७	२५	२८
३४	लाटानुप्रास	अनुप्रासमें	०	२८	०	०	अनुप्रासमें	२६	२९
३५	लेश	०	२४	०	०	१४	१८	०	०
३६	वक्रोक्ति	०	०	०	१९	१५	१९	२७	३०
३७	विभावना	२७	२५	२९	२०	१६	२०	२८	३१
३८	विरोध	२८	२६	३०	२१	१७	११	२९	३२

		भामह	दण्डी	उद्भट	वामन	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
३९	विशेषोक्ति	२९	२७	३१	२२	०	२२	३०	३३
४०	व्यतिरेक	३०	२८	३२	२३	१८	२३	३१	३४
४१	व्याजस्तुति	३१	२९	३३	२४	०	०	३२	३५
४२	व्याजोक्ति	०	०	०	२५	०	०	३३	३६
४३	श्लेष	३२	३०	३४	२६	१९	२४	३४	३७
४४	संकर	०	०	३५	०	२०	संसृष्टिमें	३५	३८
४५	सन्देह	३३	उपमा में	३६	२७	२१	२५	३६	३९
४६	समासोक्ति	३४	३१	३७	२८	२२	२६	३७	४०
४७	समाहित	३५	३२	३८	२९	०	२७	०	४१
४८	संसृष्टि	३६	३३	३९	३०	संकर में	२८	३८	४२
४९	सहोक्ति	३७	३४	४०	३१	२३	२९	३९	४३
५०	सूक्ष्म	०	३५	०	०	२४	३०	४०	४४
५१	स्वभावोक्ति	३८	३६	४१	०	२५	३१	४१	४५
५२	हेतु	०	३७	०	०	२६	३२	०	०
		३८	३७	४१	३१	२६	३२	४१	४५

इस तालिका में ५२ अलंकार हैं, जो ईसा की ८ वीं शताब्दी तक निरूपण हो चुके थे। जिनमें ३८ भामहने, ३७ दण्डीने, ४१ उद्भटने और ३१ वामनने माने हैं। इसके पश्चात् ईसा की १२ वीं शताब्दी तक इन ५२ अलंकारों में से रुद्रटने २६, भोजने ३२, मम्मट ने ४१ और रुय्यक ने ४५ ग्रहण किये हैं जैसा कि ऊपर की तालिका से स्पष्ट है।*इसको केवल भट्टि ने लिखा है।

अलंकार विवरण तालिका नं० २

निम्नलिखित ५१ अलंकार ऐसे हैं जो भट्टि, भामह, दण्डी, उद्भट और वामन किसी ने नहीं लिखे हैं। इनके बाद रुद्रट, भोज, मम्मट और रुय्यक के समय तक नवाविष्कृत हैं। इनमें किसके द्वारा कितने नवाविष्कृत किये गये और आविष्कारक के बाद किस-किस ने स्वीकार किये उसका विवरण इस प्रकार है—

संख्या	नाम अलंकार	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
१	अधिक	१	०	१	१
२	अन्योन्य	२	०	२	२
३	अनुमान	३	१	३	३
४	असंगति	४	विरोध में	४	४
५	अवशर	५	०	०	०
६	उत्तर	६	२	५	५
७	उभयन्यास	७	०	०	०
८	एकावली	८	परिकर में	६	६
९	कारणमाला	९	हेतु में	७	७
१०	चित्र	१०	३	८	८
११	तद्गुण	११	०	९	९
१२	पर्याय	१२	४	१०	१०
१३	परिकर	१३	५	११	११
१४	परिसंख्या	१४	०	१२	१२
२५	प्रतीप	१५	साम्य में	१३	१३
१६	प्रत्यनीक	१६	०	१४	१४
१७	पूर्व	१७	०	०	०

संख्या	नाम अलङ्कार	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
१८	पिहित	१८	०	०	०
१९	भ्रान्तिमान	१९	६	१५	१५
२०	भाव	२०	७	०	०
२१	मत	२१	०	०	०
२२	मीलित	२२	८	१६	१६
२३	विषम	२३	विरोध में	१७	१७
२४	व्याघात	२४	०	१८	१८
२५	विशेष	२५	०	१९	१९
२६	समुच्चय	२६	९	२०	२०
२७	सार	२७	१०	२१	२१
२८	साम्य	२८	११	०	०
२९	स्मरण	२९	१२ स्मृति	२२	२२
३०	अहेतु	०	१३	०	०
३१	अभाव	०	१४	०	०
३२	अर्थापत्ति	०	१५	०	०
३३	आप्तवचन	०	१६	०	०
३४	उपमान	०	१७	०	०
३५	प्रत्यक्ष	०	१८	०	०
३६	वितर्क	०	१९	०	०
३७	संभव	०	२०	०	०
३८	समाधि	०	२१	२३	२३
३९	अतद्गुण	०	०	२४	२४
४०	मालादीपक	०	०	२५	२५

संख्या	नाम अलङ्कार	रुद्रट	भोज	मम्मट	रुय्यक
४१	विनोक्ति	०	०	२६	२६
४२	सामान्य	०	०	२७	२७
४३	सम	०	०	२८	२८
४४	उल्लेख	०	०	०	२९
४५	काव्यार्थापत्ति	०	०	०	३०
४६	परिणाम	०	०	०	३१
४७	विचित्र	०	०	०	३२
४८	विकल्प	०	०	०	३३
४९	भावोदय	०	०	०	३४
५०	भावसंधि	०	०	०	३५
५१	भावशबलता	०	०	०	३६
		२९	२१	२८	३६

इसके बाद जयदेव (जो गीतागोविन्द के प्रणेता जयदेव से भिन्न हैं) प्रणीत चन्द्रालोक में निम्नलिखित अलंकार अधिक दृष्टिगत होते हैं—

१ अत्युक्ति	५ उन्मीलित	९ प्रहर्षण	१३ सम्भावना
२ अनुगुण	६ उल्लास	१० प्रौढोक्ति	१४ स्फुटानुप्रास
३ अवज्ञा	७ परिकरांकुर	११ विकस्वर	१५ अर्थानुप्रास
४ असम्भव	८ पूर्वरूप	१२ विषादन	

अप्पय्य दीक्षित के कुवलयानन्द में निम्नलिखित १७ अलंकार जयदेव के चन्द्रालोक से अधिक दृष्टिगत होते हैं—

३

१ अनुज्ञा	५ छेकोक्ति	९ मिथ्याध्यवसिति	१३ ललित
२ अल्प	६ निरुक्ति	१० मुद्रा	१४ लोकोक्ति
३ कारकदीपक	७ प्रस्तुतांकुर	११ युक्ति	१५ विधि
४ गूढोक्ति	८ प्रतिषेध*	१२ रत्नावली	१६ विवृतोक्ति
			१७ विशेषक

यद्यपि ये १७ अलंकार चन्द्रालोक से कुवलयानन्द में अधिक हैं किन्तु इन अलंकारों के आविष्कर्त्ता अप्पय्य दीक्षित हैं या उनके पूर्ववर्ती अन्य कोई अज्ञात आश्चर्य हैं इसके निर्णय के लिये कोई साधन अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है।

शोभाकार कृत अलंकाररत्नाकर में ३५ अलंकार नवीन हैं—

यशस्कक्रुत अलंकारोदाहरण में ७ और भानुदत्त कृत अलंकारतिलक में २ अलंकार अधिक मिलते हैं।

इन तीनों ग्रन्थों में जो अलंकार अधिक दृष्टिगत होते हैं, उनमें बहुत से अलंकारों के तो केवल नामों में भेद है और बहुत से पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलंकारोंके अन्तर्गत आ जाते हैं। इनमें कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जिनमें कोई विशेष चमत्कार नहीं है इसलिए इन अलकारां का प्रचार प्रायः उन्हीं ग्रन्थों तक सीमित है जिनमें यह निरूपित किये गये हैं।

निष्कर्ष

इन तालिकाओं द्वारा विदित होता है कि बहुत से आचार्यों ने

* यह अलंकार यशस्कक्रुत 'अलंकारोदाहरण' में भी है।

अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अनेक अलङ्कारों को नहीं माना है। इसका संभवतः एक कारण तो यह हो सकता है कि कुछ आचार्यों ने उन्हीं अलंकारों का संक्षिप्त में उल्लेख किया है जिनको उन्होंने अपने विचार के अनुसार मुख्य समझे हैं। दूसरा कारण यह है कि कुछ आचार्यों ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित कुछ अलंकारों को सजातीय अलङ्कारों के अन्तर्गत मानकर स्वतंत्र नहीं माने हैं। जैसे दण्डी ने अनन्वय, उपमेयोपमा और सन्देह आदि छः अलंकारों को उपमा आदि के अन्तर्गत माना है, जिनको भामह ने स्वतंत्र अलंकार लिखे थे। तीसरा कारण यह है कि कुछ अलंकारों को विशेष चमत्कारक न होने के कारण छोड़ दिये हैं, जैसे, रुद्रट द्वारा निरूपित अवशर, पूर्व और भाव आदि। अस्तु।

अलंकारों का वर्गीकरण

प्रत्येक अलंकार में उक्ति-वैचित्र्य विभिन्न होने पर भी अलंकारों के कुछ मूल तत्व ऐसे हैं जिनके आधार पर अलङ्कारों को भिन्न-भिन्न समूह में विभक्त किया जा सकता है। जैसे उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा और प्रतीप आदि बहुत से अलङ्कारों का मूलाधार सादृश्य है। उपमा आदि अलङ्कारों में सादृश्य कहीं तो उक्ति-भेद से वाच्य रहता है और कहीं गम्यमान (छिपा हुआ-व्यंग्यार्थरूप) रहता है। इस प्रकार अलङ्कारों का पृथक्-पृथक् समूह अपने-अपने पृथक्-पृथक् मूल-तत्वों पर अवलम्बित है। इस बात पर आचार्य रुद्रट के पूर्व अर्थात् ईसा की नवम शताब्दी के पूर्व किसी आचार्य ने ध्यान नहीं दिया। सबसे प्रथम रुद्रट ने अलंकारों के मूलतत्वों पर विचार करके अपने निरूपित

अर्थालङ्कारों को (१) वास्तव, (२) औपम्य, (३) अतिशय और (४) श्लेष, इन चार मूल-तत्वों के आधार पर चार श्रेणियों में विभक्त किया है।

किन्तु रुद्रट का वर्गीकरण महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि इसमें अलंकारों के मूलतत्व का विभाजन यथार्थ नहीं हो पाया है। अतः उसके द्वारा अलंकारों के मूलतत्वों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है।

रुद्रट के पश्चात् रुय्यक और उसके शिष्य मंखक ने अलंकारसूत्र या अलंकारसर्वस्व में जो अलंकारों का वर्गीकरण किया है, वह मूल-तत्वों के आधार पर यथार्थ होने के कारण अधिक स्पष्ट और उपयुक्त है। वह इस प्रकार है—

अर्थालङ्कारों में निम्नलिखित अलङ्कारों को रुय्यक ने सात वर्गों में विभक्त किया है—

सादृश्य-गर्भ, विरोध-गर्भ, शृंखलाबन्ध, तर्कन्यायमूल, काव्यन्यायमूल, लोकन्यायमूल और गूढार्थप्रतीतिमूल।

सादृश्य या औपम्यगर्भ अर्थात् उपमा-मूलक निम्नलिखित २८ अलङ्कार* बतलाये हैं—

---

* इन अलंकारों में उपमेय उपमान भाव रहता है, अर्थात् इन अलंकारों का मूलकारण साधर्म्य (उपमा) है। साधर्म्य का वर्णन तीन प्रकार से किया जाता है—भेदाभेदतुल्य-प्रधान, अभेद-प्रधान और भेद-प्रधान। और साधर्म्य कहीं शब्द द्वारा स्पष्ट कहा जाता है और कहीं गम्यमान (छिपा हुआ) रहता है। अतएव इन २८ अलंकारों में जि

४ भेदाभेद तुल्यप्रधान—

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण ×।

८ अभेद प्रधान—*

६ आरोप मूल—

रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्ति, उल्लेख और अपन्हुति।

२ अध्यवसाय मूल—

उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति।

१६ गम्यमान औपम्य—+

जिस में जिस-जिस प्रकार का साधर्म्य रहता है, उसके आधार पर इनका अवान्तर वर्गीकरण भी रुय्यक ने कर दिया है।

× उपमा आदि ४ अलंकारों में उपमेय और उपमान के साधर्म्य में कुछ भेद नहीं कहा जाकर तुल्य साधर्म्य रहता है, अतः इनका मूल भेदाभेद तुल्य-प्रधान साधर्म्य है।

* रूपक आदि ८ अलंकारों में उपमेय और उपमान के साधर्म्य में अभेद कहा जाता है। अतः इनका मूल अभेद प्रधान साधर्म्य है। इनमें भी रूपक आदि ६ में तो उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है अतः आरोप-प्रधान रहता है और उत्प्रेक्षा में अनिश्चित रूप से एवं अतिशयोक्ति में निश्चित रूप से उपमेय में उपमान का अध्यवसाय किया जाता है, अतः ये दोनों अध्यवसाय-मूलक हैं।

+ तुल्ययोगिता आदि १६ अलंकारों में औपम्य अर्थात् उपमेय उपमान भाव या सादृश्य शब्द द्वारा स्पष्ट नहीं कहा जाता किन्तु छिपा

२ पदार्थगत – तुल्ययोगिता और दीपक ।

३ वाक्यार्थगत—प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना ।

३ भेदप्रधान—व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति ।

२ विशेषण वैचित्र्य—समासोक्ति और परिकर ।

१ विशेषण-विशेष्य वैचित्र्य—श्लेष ।

५ अप्रस्ततप्रशंसा, पर्यायोक्त, अर्थान्तरन्यास, व्याजस्तुति और आक्षेप ।

१२ विरोध मूल अलङ्कार - *

रहता है । अतः इनमें गम्यमान औपम्य रहता है । और वह भी भिन्न-भिन्न रीति से रहता है—दीपक और तुल्ययोगिता में उपमेय या उपमानों का या दोनों का एक धर्म एक पद में कहा जाता है, अतः पदार्थगत गम्यमान औपम्य रहता है । प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त और निदर्शना में वाक्यार्थगत गम्यमान औपम्य रहता है । व्यतिरेक और सहोक्ति में उपमेय और उपमान के परस्पर भेद में गम्यमान औपम्य रहता है। और विनोक्ति को, सहोक्ति के विरोधी होने के कारण इस वर्ग में रक्खा गया है । समासोक्ति और परिकर में विशेषण-वैचित्र्यगत गम्यमान औपम्य रहता है । अप्रस्तुतप्रशंसा को, समासोक्ति के विरोधी होने के कारण, अर्थान्तरन्यास को अप्रस्तुतप्रशंसा के सजातीय होने के कारण और पर्यायोक्त, व्याजस्तुति एवं आक्षेप को गम्यमान के प्रस्ताव प्रसंग के कारण इसी वर्गमें रक्खा गया है ।

* विरोध-मूलक वर्ग में ऐसे १२ अलङ्कार रक्खे गये हैं जिनक

विरोध, विभावना, विशेषोक्ति, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात, अतिशयोक्ति (कार्यकारण पौर्वापर्य), असंगति और विषम ।

४ शृङ्खलाबन्ध+ अलङ्कार—

कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार ।

१७ न्याय-मूल* अलङ्कार—

२ तर्कन्याय—

काव्यलिंग और अनुमान ।

८ काव्य-न्याय (वाक्यन्याय)—

यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, अर्थापत्ति, विकल्प, परिसंख्या, समुच्चय और समाधि ।

७ लोक-न्याय—

प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, और उत्तर ।

मूल कारण विरोधात्मक वर्णन है । सम अलङ्कार विरोधमूल न होने पर भी 'विषम' का विरोधी होने के कारण इसी वर्ग में लिखा है ।

+ शृङ्खलाबन्ध वर्ग में ऐसे ४ अलंकार हैं जिनमें शृङ्खला (साँकल) की तरह एक पद या वाक्य का दूसरे पद या वाक्य के साथ सम्बन्ध लगा रहता है ।

* तर्क आदि न्यायमूल में ऐसे १७ अलंकार हैं जो तर्क आदि विभिन्न न्यायों पर अवलम्बित हैं ।

३ गूढार्थप्रतीतिमूल अलङ्कार— ×

सूक्ष्म, व्याजोक्ति और वक्रोक्ति।

इनके सिवा स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त ये तीन अलङ्कार एवं रस और भाव से सम्बन्ध रखने वाले रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता यह सात तथा संसृष्टि और संकर को रुय्यक ने किसी विशेष वर्ग में नहीं रक्खा है।

यह अलङ्कार विषयक क्रमविकास सम्बन्धी संक्षिप्त विवेचन संस्कृत ग्रन्थों के अनुसार है। हिन्दी साहित्य के उपलब्ध ग्रन्थों में अलङ्कार विषय पर जो कुछ स्थूल रूप में लिखा गया है वह अधिकांश में संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर है। अतएव अलंकार विषयक हिन्दी के मुख्य ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण ही पर्याप्त है, और वह इस प्रकार है—

हिन्दी साहित्य में अलङ्कार-ग्रन्थ

हिन्दी में असंख्य अलङ्कार-ग्रंथ हैं। यहाँ उन्हीं का उल्लेख किया गया है जो लब्धप्रतिष्ठ उपलब्ध एवं अधिक प्रचलित हैं—

महाकवि केशव दास जी की कविप्रिया

हिन्दी के उपलब्ध ग्रन्थों में महाकवि केशव की कविप्रिया को प्रथम स्थान प्राप्त है। किसी समय हिन्दी-साहित्य-संसार में इसका बहुत प्रचार था। इसके आठ प्रभावों में साहित्य विषयक अन्य उपयोगी विषयों का वर्णन है। यह वर्णन अधिकांश में राजशेखर

× गूढार्थप्रतीति वर्ग में ऐसे ३ अलंकार हैं जिनमें गूढ अर्थ की प्रतीति होती है।

की काव्यमीमांसा केशव मिश्र के 'अलङ्कारशेखर' एवं 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के आधार पर है। नवें से सोलहवें प्रभाव तक शब्द और अर्थ के ३७ अलङ्कारों का निरूपण किया गया है। इनमें सुसिद्ध, प्रसिद्ध और विपरीत ये तीन अलङ्कार नवीन हैं, किन्तु ये महत्वपूर्ण नहीं हैं।

केशव ने उपमा, आक्षेप और रूपक आदि कुछ अलङ्कारों के उपभेद अधिकांश में काव्यादर्श से लिये हैं। खेद है कि महाकवि केशव के प्रकाण्ड पाण्डित्य और उनकी प्रतिभा के अनुरूप अलङ्कारों का विवेचन कविप्रिया में नहीं हो सका है। कविप्रिया का रचना काल १६५८ विक्रमीयाब्द है।

महाराजजशवन्तसिंह का भाषाभूषण

जोधपुर के महाराज जसवन्तसिंह (प्रथम) के भाषाभूषण की हिन्दी साहित्य में बहुत प्रतिष्ठा है। इसका कवि-समाज में बहुत अधिक प्रचार था। यह ग्रन्थ अप्पय्य दीक्षित के कुवलयानन्द में दी हुई लक्षण और उदाहरणों की कारिकाओं के आधार पर लिखा गया है। और उसी के अनुसार एक ही दोहा के पूर्वार्द्ध में अलङ्कार का लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिया गया है। इसमें ४ शब्दालङ्कार और १०० अर्थालङ्कार निरूपण किये गये हैं। भाषाभूषण के प्रणेता महाराजा जसवन्तसिंह का जन्म-काल विक्रमीयाब्द १६८७ है अतः भाषाभूषण का रचनाकाल अनुमानतः विक्रमीय अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समझना चाहिये।

कवि-प्रिया और भाषाभूषण दोनों ही ग्रन्थ ऐसे समय में लिखे

आये थे जब कि हिन्दी में अलङ्कार विषय के ज्ञान के लिये संभवतः अन्य कोई ग्रन्थ नहीं था। अतएव ये दोनों ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य में निस्सन्देह गौरव की वस्तु हैं।

अलङ्कार रत्नाकर

अलंकाररत्नाकर 'भाषाभूषण' का ही परिवर्द्धित रूप है, जैसे चन्द्रालोक का कुवलयानन्द। इसकी रचना कवि वंशीधर और दलपतिराय ने की है। इस ग्रन्थ का रचना काल १७९९ विक्रमाब्द है। इस ग्रन्थ में प्रत्येक अलंकार के अनेक उदाहरण दिखाकर विषय को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उस समय के अनुकूल इसकी रचना महत्वपूर्ण है।

भिखारीदासजी का काव्यनिर्णय

काव्यनिर्णय अधिकांश में काव्यप्रकाश और कुवलयानन्द के आधार पर लिखा गया है। इसमें लगभग १०० अर्थालंकार और १२ प्रमाणालंकार हैं। दासजी ने अलंकारों का क्रम न तो काव्यनिर्णय के आधारभूत काव्यप्रकाश या कुवलयानन्द के अनुसार ही रक्खा है और न अलंकारों के मूल तत्त्वों के आधार पर ही। यह क्रम-परिवर्तन एकमात्र दासजी की इच्छा पर निर्भर है। जैसा कि उनके—

"वही बात सिगरी कहे उलथो होत इकंक,
निज उक्तिहि करि बरनिये रहै सुकल्पित संक,
याते दुहु मिश्रित सङ्यो छमिहैंकविअपराधु।"

इस कथन से ज्ञात होता है।

काव्यनिर्णय में लक्षण और उदाहरणों द्वारा विषय का स्पष्टीकरण

अधिकांश में भ्रमक है। काव्यनिर्णय का समय स्वयं ग्रन्थकर्ता ने विक्रमाब्द १६०३ लिखा है।

शिवराजभूषण महाकवि भूषण का शिवराजभूषण हिन्दी साहित्य को गौरवान्वित करने वाला अपूर्व ग्रन्थ है। काव्य की प्रौढ़ रचना और चित्त को एक बार ही फड़का देने वाली रचना में महाकवि भूषण का विशेष स्थान है। इसके उदाहरणों में छत्रपति शिवाजी का यश वर्णन है।

मतिरामजी का ललितललाम, पद्माकरजी का पद्माभरण, दूलह का कविकण्ठाभरण, सोमनाथजी का रसपीयूष, गोकुल की चेतचन्द्रिका, गोविन्द का कर्णाभरण और लछिरामजी का रामचन्द्र भूषण एवं ग्वाल जी का अलंकारभ्रमभंजन आदि और भी अलंकार ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन सभी ग्रन्थों में लक्षण प्रायः कुवलयानन्द के आधार पर दिये गये हैं, और उदाहरण प्रायः स्वतन्त्र हैं। ये सभी ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के गौरव बढ़ाने वाले हैं।

हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थकर्ताओं के विषय में हम प्रथम भाग की भूमिका में कह चुके हैं कि वे अत्यन्त प्रतिभाशाली होते हुए भी उन्होंने अपना अधिक लक्ष्य काव्य की प्रौढ़, रचना पर ही रक्खा है, न कि विषय को स्वयं समझने और दूसरों को समझाने पर। अतएव इच्छा न रहने पर भी इस भाग में भी कहीं कहीं हिन्दी के प्राचीन ग्रन्थों के विषय में कुछ विचार प्रकट किये गये हैं। विषय को स्पष्ट करने के लिये बाध्य होकर ही इस कार्य में प्रवृत्त होना पड़ा है।

हिन्दी के आधुनिक अलङ्कार ग्रन्थ

जसवन्त जसो-भूषण

कविराजा मुरारीदान का यह ग्रन्थ आधुनिक हिन्दी ग्रन्थों में बड़ा महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में संस्कृत साहित्य ग्रन्थों की आलोचना की गई है। कविराजा जोधपुर राज्य के राज्यकवि थे और इन्होंने सुब्रह्मण्य शास्त्री जैसे विद्वान् से साहित्य-शिक्षा प्राप्त की थी*। जसवन्तजसोभूषण की रचना भी इन्हीं शास्त्रीजी की सहायता से की गई है। इस ग्रन्थ में प्राचीन साहित्याचार्यों की जिन अवहेलनात्मक शब्दों में आलोचना की गई है वह सर्वथा भ्रान्त एवं निर्मूल है। कविराजा का कहना है "अलंकारों के नामार्थ में ही लक्षण है, किन्तु इस रहस्य को प्राचीनाचार्यों ने नहीं समझा। प्राचीनाचार्यों को नामार्थ का ज्ञान होता तो वे लक्षण क्यों लिखते ?"

किन्तु उनका यह कहना केवल मिथ्यालाप है। अलंकारों का यथार्थ स्वरूप केवल नामार्थ द्वारा स्पष्ट नहीं हो सकता। अलंकारों के नामार्थ द्वारा अलंकारों के प्रधान चमत्कार का केवल आंशिक संकेत मात्र सूचित होता है। स्वयं कविराजा भी अलंकारों के नामार्थ मात्र द्वारा अलङ्कारों के लक्षण स्पष्ट करने में सर्वथा कृतकार्य नहीं हो सके हैं। उदाहरण रूप में देखिए 'वक्रोक्ति' का नामार्थ कविराजा ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

---

*जसवन्तजसोभूषण (पृ० ४८०) में स्वयं कविराजा द्वारा यह बात प्रकट की गई है।

"वक्र शब्दका अर्थ है कुटिल। इसका पर्याय है बाँका टेढा इत्यादि। वक्रोक्ति नाम की व्युत्पत्ति है वक्री कृत उक्ति—बाँकी की हुई उक्ति। उक्ति का बांका करना तो पर की उक्ति का ही होता है।"......"वक्रोक्ति में कहीं श्लेष होताहै परन्तु वह गौण रहता है।"

इससे बाद लिखते हैं—

'वक्र करन पर उक्ति को, नृप वक्रोक्ति निहार,
स्वर विकार श्लेषादि सौं, होत जु बहुत प्रकार।'

कविराजा ने 'वक्रोक्ति' नाम का अर्थ करते हुए जो यह लिखा है कि 'उक्ति का बाँका करना तो पर की उक्ति का ही हो सकता है'। यह अर्थ 'वक्रोक्ति' के अक्षरार्थ में कहाँ निकलता है? और 'स्वर विकार' तथा 'श्लेषादि' का अर्थ भी 'वक्रोक्ति' शब्द से कहां निकल सकता है? कविराजा का यह कहना कि 'वक्रोक्ति पर की उक्ति की ही हो सकती है' यह उनका प्रमाद है। क्योंकि स्वयं वक्ता भी अपनी उक्ति में वक्रोक्ति कर सकता है। जैसे—

"सिय कि पिय सँग परिहरहि, लखनु कि रहहहिं धाम।
राजु कि भूँजब भरत पुर, नृपु कि जियहिं बिनु राम॥"

इसमें श्रीराम-वनवास के प्रसंग में कैकेईजी के प्रति पौराङ्गनाओं ने स्वयं अपनी उक्ति में काकु-वक्रोक्ति की है पर इसमें वक्रोक्ति अलंकार नहीं है। क्योंकि प्राचीनाचार्यों ने वक्ता की उक्ति का किसी अन्य द्वारा ही अन्यथा अर्थ कल्पित किये जाने में वक्रोक्ति अलंकार को सीमाबद्ध कर दिया है। अतएव जहाँ स्वयं वक्ता की वक्रोक्ति होती है, वहाँ काक्वा-

क्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य अथवा अवस्था-विशेष में 'काकुध्वनि' होती है। वक्रोक्ति के नामार्थ के अनुसार तो पर-उक्ति और वक्ता की स्वयं-उक्ति दोनों ही ग्रहण की जा सकती है। इसीलिये कविराजा को भी वक्रोक्ति के नामार्थ की स्पष्टता में 'पर की उक्ति' आदि वाक्यों को, वक्रोक्ति के अक्षरार्थ में सम्भव न होने पर अगत्या जोड़ना पड़ा है। 'नामार्थ ही लक्षण है' यह सिद्धान्त तभी सिद्ध हो सकता था जब नाम के शब्दार्थ से अधिक कुछ न कह कर केवल अलंकारों के नामों के अक्षरार्थ से ही सब अलंकारों के सर्वाङ्ग लक्षण स्पष्ट करके दिखला देते। कविराजा द्वारा कल्पित इस भ्रांत सिद्धांतमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष अनिवार्यतः उपस्थित है। महान् आश्चर्य तो यह है कि जिस लक्षण-निर्माण के विषय में उन्होंने श्री भरतमुनि और भगवान् वेदव्यास आदि पर आक्षेप किया है उसी लक्षण-निर्माण के मार्ग का स्वयं कविराजा ने अनुसरण किया है। यहाँ तक कि अलँकारों के लक्षण के लिये उन्होंने जो छन्द लिखे हैं वे संस्कृत ग्रन्थों के प्रायः अनुवाद मात्र हैं। जैसा, कि वक्रोक्ति के लक्षण में लिखे हुये उनके उपर्युक्त दोहे से स्पष्ट है। देखिये, यह दोहा निम्नलिखित काव्य-प्रकाश की कारिका का अनुवाद मात्रा है—

"यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते,
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा।"

अर्थात् 'अन्य अभिप्राय से कहे गये वाक्य का दूसरे द्वारा श्लेष या काकु से अन्यथा (वक्ता के अभिप्राय के अतिरिक्त दूसरा अभिप्राय) कल्पना किया जाना'। यह बात वक्रोक्ति के नामार्थ से कदापि स्पष्ट

नहीं हो सकती, इसलिए लक्षण निर्माण किया जाना अनिवार्य है।

कविराजा ने उपमा के नामार्थ की स्पष्टता करते हुए यह भी कहा है—"उपमा के नामका साक्षात् अर्थ प्राचीनों के ध्यानमें नहीं आया। आया होता तो वे यह व्युत्पत्ति क्यों नहीं लिखते।"

कविराजा का यह आक्षेप भी सर्वथा निराधार है। जिस प्रकार कविराजा ने उपमा के नामार्थ की व्युत्पत्ति की है * उसी प्रकार काव्य प्रकाश में की गई है ×। केवल उपमा की ही नहीं कविराजा ने अन्य अलङ्कारों के नामों की जो व्युत्पत्ति की है, वह काव्यप्रकाश में की हुई व्युत्पत्ति का प्रायः अनुवाद मात्र है। हमने भी इस ग्रन्थ में अलङ्कारों के नाम का जो व्युत्पत्यर्थ लिखा है वह भी अधिकांश में काव्यप्रकाश के आधार पर ही है, इसके द्वारा ज्ञात हो सकता है कि यदि प्राचीनों को नामार्थ का ज्ञान न होता तो काव्यप्रकाशादिमें अलङ्कारों के नामार्थ की व्युत्पत्ति किस प्रकार लिखी जा सकती थी। इसके अतिरिक्त जसवंतजसोभूषण में किये गये अलङ्कार विषयक विवेचन के साथ हमारा अधिकांश में मतभेद है। किन्तु उसकी आलोचना स्थानाभाव के कारण अलङ्कारोंके प्रकरणमें नहीं की गई है। इस ग्रन्थ के मुद्रित होनेका समय वि० १९५४ है।

इस लेखक का अलङ्कारप्रकाश और काव्यकल्पद्रुम

अलङ्कारप्रकाशकी रचनाका समय विक्रमाब्द १९५३ (ई० १८९६)

---

* जसवंतजसोभूषण पृ० १७२।

× काव्यप्रकाश वामनाचार्य व्याख्या पृ० ६५८-६५९।

है। यह ग्रन्थ इस लेखक का प्रथम प्रयास था और उसमें अलङ्कार विषय का आलोचनात्मक अधिक विवेचन भी नहीं हो पाया था तथापि काव्य-मर्मज्ञ विद्वानों द्वारा इसका आदर किया गया और साहित्य-सम्मेलन की पाठ्य-पुस्तकों में उसको निर्वाचित किया गया। अलङ्कार प्रकाश में स्वीकृत गद्य में लिखे गये लक्षण और स्पष्टीकरण की शैली के आदर्श पर बहुत से अन्य विद्वानों द्वारा अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये हैं।

अलङ्कारप्रकाश का द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण **काव्यकल्प-द्रुम** का मुद्रणकाल वि० १९८३ (१९२७ ई०) है। अलंकारप्रकाश में केवल अलंकार विषय का निरूपण था उसके बाद काव्यकल्पद्रुम के दश स्तवकों में श्रव्य काव्य के ध्वनि (ध्वन्यान्तर्गत नवरस और भाव आदि) एवं गुणीभूत व्यंग्य, और काव्य के गुण, दोष आदि प्रायः सभी अंगों का यथासाध्य निरूपण किया गया था।

अलंकारप्रकाश और **काव्यकल्पद्रुम** उसके बाद अन्य लेखकों द्वारा और भी बहुत से ग्रन्थ हिन्दी में अलंकार विषय पर लिखे गये हैं। जिनमें मुख्य ग्रन्थ हिन्दी में कालक्रमानुसार श्रीजगन्नाथप्रसाद जी 'भानु' का **काव्यप्रभाकर**, श्रीभगवानदीनजी 'दीन' की **अलंकारमंजूसा**, श्रीरामशंकरजी शुक्ल 'रसाल' का **अलंकारपीयूष** और श्री अर्जुनदास जी केडिया का **भारतीभूषण** आदि हैं।

अलंकार विषय अत्यन्त जटिल है इस पर आचार्य श्रीमम्मट (जिनको विद्वद्-समाज में सरस्वती के अवतार की प्रतिष्ठा उपलब्ध है) आदि ने भी अपनी लेखनी अत्यन्त विचार और गम्भीरता के साथ

चलाई थी, आश्चर्य है कि कुछ आधुनिक लेखक उसके प्रति अपने गम्भीर उत्तरदायित्व का पालन नहीं करते। कहीं-कहीं तो विषय क्या है और हम लिख क्या रहे हैं इसके समझने में भी त्रुटि देखी जाती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण दीनजी की मंजूसा, भानुजी का काव्यप्रभाकर और रसालजी का अलंकारपीयूष है। इन्होंने ये ग्रन्थ वृहदाकार बनाकर बेचारे परीक्षार्थियों पर केवल मूल्य का असह्य भार ही नहीं रख दिया किन्तु विषय की अनभिज्ञता के कारण साहित्य की हत्या करके विद्यार्थियों के साथ अक्षम्य अन्याय भी किया है।

हमारे इस ग्रंथमें उदाहृत पद्यों के विषय में यहाँ प्रसङ्गगत यह सूचित किया जाना भी आवश्यक है कि जो उदाहरण अन्य ग्रन्थों से लिये गये हैं उन पर इनवरटेड कोमा अर्थात् पद्य के आदि और अन्त में " " ऐसे चिह्न लगा दिये गये हैं और उनकी सूची भी परिशिष्ट में लगा दी गई है।

जिन पद्यों पर वह चिह्न नहीं है, वे इस लेखक की रचना के हैं जिनमें संस्कृत ग्रन्थों से अनुवादित भी हैं। सम्भव है कि लेखक की रचना के उदाहृत पद्यों में कुछ पद्य ऐसे भी हों जिनके साथ प्राचीन हिन्दी ग्रन्थों के पद्यों का भाव-साम्य हो, उन्हें देखकर सहसा यह धारणा हो सकती है कि लेखक द्वारा प्राचीन हिन्दी ग्रन्थों के पद्यों का भावापहरण किया गया है। किन्तु यह कार्य इस लेखक की दृष्टि में अत्यन्त घृणास्पद है। वस्तुतः ऐसे भाव-साम्य का कारण केवल यही हो सकता है कि जिस संस्कृत ग्रंथ के पद्य का अनुवाद करके इस ग्रन्थ में लिखा गया है, उसी पद्य का अनुवाद हिन्दी के किसी प्राचीन ग्रन्थकार ने भी करके अपने ग्रन्थ में लिखा हो। ऐसी परिस्थिति में केवल भाव-साम्य ही क्यों किसी अंश में शब्द-साम्य भी हो सकता है।

प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ आधुनिक अलंकार-ग्रन्थों में उदा-

हृत पद्यों और गद्यात्मक लेखों के साथ भी इस (काव्यकल्पद्रुम) ग्रन्थ के गद्य-पद्यों में केवल भाव-साम्य ही नहीं, अधिकांश में अविकल शब्द-साम्य भी अवश्य दृष्टि-गत होगा। इसका कारण यह है कि अलंकार प्रकाश और काव्यकल्पद्रुम (तीसरे-संस्करण के पूर्व संस्करण) के बाद अलंकार विषय के जो हिन्दी में अन्य लेखकों द्वारा ग्रन्थ लिखे गये हैं प्रायः उनमें बहुत कुछ सामग्री लेखक के उक्त दोनों ग्रन्थों से ली गई है। कुछ लेखकों ने तो उक्त दोनों ग्रन्थों के विवेचनात्मक गद्य लेखों और उदाहृत पद्यों को कहीं-कहीं कुछ परिवर्तित रूप में और कहीं-कहीं अविकल रूप में ज्यों के त्यों अपने ग्रन्थों में रख दिये हैं। और उनके नीचे प्रायः अलंकारप्रकाश या काव्यकल्पद्रुम का नामोल्लेख नहीं किया है। अर्थात् अवतरण रूप से उद्धृत न करके उनका अपनी निजी सम्पत्ति के समान उपयोग किया है। जैसे—

स्व० लाला भगवानदीनजी 'दीन' ने अपनी **'अलंकारमंजूषा'** में अलंकारप्रकाश से बहुत कुछ सामग्री ली है। उनका दिग्दर्शन 'माधुरी' पत्रिका के भूतपूर्व सम्पादक साहित्यमर्मज्ञ पं० श्रीकृष्णबिहारीजी मिश्र ने 'समालोचक' पत्र में कराया है। जिसमें मिश्रजी ने अलंकारप्रकाश में लिखे गये अलंकारों के दोष प्रकरण में इस लेखक की रचना के अविकल रूप में पद्य और कुछ शब्द परिवर्तित रूप में गद्य का जो 'अलंकारमंजूषा' में अपहरण किया गया है, उसका १० पृष्ठों में अवतरण देकर दिगदर्शन कराया है।[1]

इसी प्रकार श्रीजगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने अपने **काव्यप्रभाकर** में **अलङ्कारप्रकाश** के गद्य-पद्यों का पर्याप्त अपहरण किया है *।

श्री रामशङ्कर शुक्ल एम० ए०, 'रसाल' जी तो इस विषय में

---

[1] देखिये त्रैमासिक समालोचक हेमन्त विक्रम सं० १९५९।

* इसका दिग्दर्शन इस ग्रन्थ के तृतीय संस्करण के प्राक्कथन में कुछ उद्धरण देकर कराया गया है।

सब से अधिक बढ़ गये हैं। **काव्यकल्पद्रुम** से लिये गये प्रत्येक अलंकारों के विवेचनात्मक आवरण को **'अलङ्कारपीयूष'** से हटा देने पर ही 'पीयूष' के निरावरण—असली—रूप की **'रसालता'** पाठकों को विदित हो सकती है। इस **अपहरण लीला** को भली प्रकार प्रकाश में लाने के लिये यहाँ स्थान कहाँ।+

पीयूष में ऐसा कोई अलंकार प्रकरण नहीं जिसमें हमारे **कल्पद्रुम** के गद्य और पद्यों का पर्याप्त अपहरण न किया गया हो। दो चार दोहों के नीचे "का० क०" यह चिह्न भी लगा दिया है। वह इसलिए कि इस चिह्न के रहित सभी छन्द 'रसालजी' के निजी समझ लिये जाँये।

'भारतीभूषण' में भो अर्जुनदासजी केडिया ने काव्यकल्पद्रुम के अलंकारों के गद्यात्मक विवेचन का पर्याप्त उपयोग किया है। अलंकारों की परस्पर में पृथक्ता दिखाने में तो अधिकाँश भाग **काव्यकल्पद्रुम** से ही लिया गया है*।

इस उल्लेख का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि इन विद्वान् लेखकों ने अपने ग्रन्थों में अलंकारप्रकाश और काव्यकल्पद्रुम की सामग्री का उपयोग क्यों किया। प्रत्युत अन्य विद्वानों द्वारा किसी लेखक के ग्रन्थ की सामग्री का उपयोग किया जाना तो पूर्व लेखक के गौरव का विषय है—ग्रन्थ लिखने की सफलता ही तभी समझी जाती है, जब अन्य

+ इसका भी दिग्दर्शन इस ग्रन्थ के तृतीय संस्करण के प्राक्कथन में कुछ उद्धरण दिखाकर कराया गया है।

* काव्यकल्पद्रुम के पूर्व संस्करण से मिलान करिये भारतीभूषण में वक्रोक्ति (पृ० ३५ नोट), श्लेष (पृ० ३६ सूचना), उपमा (पृ० ५३ पादटिप्पणी), रूपक (पृ० ८४), उल्लेख (पृ० १०४), उत्प्रेक्षा (पृ० १२४-१३२), अतिशयोक्ति (पृ० १४९), प्रतिवस्तूपमा (पृ० १६६) इत्यादि प्रायः सभी अलंकार।

व्यक्तियों को उसके द्वारा कुछ लाभ प्राप्त हो। किन्तु जिस ग्रन्थ से सामग्री ली जाय उसका नामोल्लेख किया जाना भी उचित और आवश्यक है। अन्यथा कालान्तर में यह भ्रम हो सकता है कि किसने किस ग्रन्थ से सामग्री ली है। अतएव यहाँ यह उल्लेख इसीलिए किया गया है कि काव्यकल्पद्रुम का यह संस्करण अब इन ग्रन्थों के बाद में प्रकाशित हो रहा है—कालान्तर में इस ग्रन्थ के लेखक पर प्रत्युत उन ग्रन्थों से अपहरण करने का दोषारोपण न किया जाय।

इसके अतिरिक्त स्व० लाला भगवानदीनजी की 'अलंकारमंजूषा' भानुजी के 'काव्यप्रभाकर' और रसालजी के 'अलंकारपीयूष' की इस ग्रन्थ के अलंकार प्रकरण में इसलिए उपेक्षा की गई है, कि इन तीनों ग्रन्थों की आलोचना के लिये स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की आवश्यकता है। दिग्-दर्शन के लिये दीनजी की 'व्यंग्यार्थमंजूषा' भानुजी के काव्यप्रभाकर और रसालजी के अलङ्कारपीयूष की संक्षिप्त रूप में आँशिक आलोचनाएँ 'माधुरी' पत्रिका में इस लेखक द्वारा की गई है।*

भारतीभूषण में केडियाजी भी अलंकारों के लक्षण और उदाहरण यथार्थ लिखने में सफलीभूत नहीं हो सके हैं। केडियाजी इस लेखक के मित्र थे। अतएव भारतीभूषण के संशोधन में इस लेखक ने भी अपना कुछ समय दिया था और केडियाजी के अनुरोध से सम-

---

* देखिये 'माधुरी' मासिक पत्रिका—

व्यंग्यार्थमंजूषा की आलोचना माधुरी वर्ष ६, खंड २, संख्या पृ० ३१३–३१८।

काव्यप्रभाकर की आलोचना माधुरी वर्ष ७, खंड १ संख्या पृ० ५४–६२ और संख्या ५ पृ० ८३२-३७।

अलंकारपीयूष की आलोचना माधुरी वर्ष ८, खंड २ संख्या पृ० २६०–२६५ और संख्या ५ पृ० ५८६–५९२।

समय पर अलंकार विषयक जटिल प्रश्नों को यथासाध्य समझाने की चेष्टा भी की गई थी। फिर भी केडियाजी ने भारतीभूषण की सर्वोत्कृष्टता दिखाते हुए अलंकारप्रकाश और काव्यकल्पद्रुम का—स्पष्ट नामोल्लेख न करके—कई स्थलों पर निःसार आलोचना की है। 'ग्रन्थकार का वक्तव्य' में भी आपने लिखा है—

'हिन्दी ग्रन्थों में कठिन अलंकारों के एक से अधिक उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। सरल अलंकारों के उदाहरण कुछ अधिक मिलते हैं वे कुवलयानन्द से अनुवादित हैं। अतः बहुत से ग्रन्थों में उदाहरण एक से हो गये हैं।" (भारतीभूषण पृ० ३५)

इसके प्रमाण में आपने कुछ ग्रन्थों के तीसरी 'असङ्गति' के उदाहरण उद्धृत किये हैं जिनमें अलंकारप्रकाश भी सम्मिलित है। किन्तु न तो हिन्दी ग्रन्थों में अधिकाधिक उदाहरणों का अभाव ही है और न अधिकांश में कुवलयानन्द से अनुवादित उदाहरण ही हैं*। फिर अधिक उदाहरण तभी उपयोगी हो सकते हैं जब उनका निर्वाचन, विषय के अनुकूल यथार्थ किया जाय, अन्यथा प्रत्युत अनर्थ हो जाता है। स्वयं केडियाजी साधारण अलंकारों के उदाहरणों के निर्वाचन में भी अधिकांश में भ्रान्त हो गये हैं। इसी तीसरी असङ्गति का उदाहरण भारतीभूषण में लक्षण के प्रतिकूल है ⊛ भारती-भूषण में लक्षोपमा का उदाहरण—

'गावत मलार मिल.........दरीचो में.........।' इत्यादि पृ० ७०

यह दिया है। इसके चतुर्थ चरण में 'मानों' का प्रयोग होने के कारण उत्प्रेक्षा प्रधान है और जिस 'अनादर' शब्द के प्रयोग के कारण आपने

---

* देखिए, काव्यकल्पद्रुम, काव्यनिर्णय, रामचन्द्रभूषण, शिवराजभूषण और ललितललाम आदि।

⊛ देखिये काव्यकल्पद्रुम के इस संस्करण में असंगति अलङ्कार प्रकरण।

इसमें लद्योपमा मान ली है, उस 'अनादर' शब्द के प्रयोग द्वा
'प्रतीप' सिद्ध होता है, न कि लद्योपमा ।

उपमान-लुप्ता मालोपमा का आप **'बानधारी पाथ सो न मा**
कुरुराज कैसो........' इत्यादि (पृ० ६०) यह उदाहरण दिया है
इसमें 'पाथ' और 'कुरुराज' आदि के बाद 'सा' श्रौती-उपमा-वाचक
शब्द का प्रयोग होने के कारण 'पाथ' आदि सभी उपमान होगये हैं*
जिनको आपने उपमेय समझा है ⊕ ।

हम नहीं समझते कि केडियाजी ने कौन से अलङ्कारों को कठि
समझा है । इस लेखक के विचार में यों तो सभी अलङ्कारों का विष
कठिन है । विशेषतः श्लेष, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, निदर्शना और पर्या
योक्ति आदि का ऐसा विषय है, जिस पर संस्कृत के सुप्रसिद्ध आचार्यों
ने बड़ी गम्भीर विवेचना द्वारा सूक्ष्मदर्शिता प्रदर्शित की है । अतए
इन अलङ्कारों का विषय विवेचन ही अलङ्कार ग्रन्थ के लेखक की परीक्षा
के लिए एक मात्र कसौटी है । किन्तु केडियाजी इन अलङ्कारों क
विवेचन तो कहाँ, पर्याप्त उदाहरण भी न लिख सके । अस्तु । यहाँ न
तो किसी ग्रन्थ की आलोचना अभीष्ट है और न अन्य ग्रन्थों से इ
ग्रन्थ की उत्कृष्टता दिखाना ही, अगत्या प्रसंगानुसार कुछ पंक्तियाँ लि
दी गई हैं ।

प्रस्तुत संस्करण के विषय में दो शब्द—

हर्ष का विषय है कि भगवान् श्रीगोविन्ददेवजी महाराज की कृपा से

---

* देखिये काव्यकल्पद्रुम के इस संस्करण में उपमान-लुप्ता
उपमा ।

⊕ इन के अतिरिक्त काव्यकल्पद्रुम के इस संस्करण में प्रसङ्गप्राप्त
अलंकार प्रकरण में भी इस विषय का दिग्दर्शन कराया गया है ।

इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग—अलङ्कारमञ्जरी के पञ्चम संस्करण का भी सुअवसर प्राप्त हुआ है। निःसन्देह काव्य-मर्मज्ञ सहृदय विद्वानों की गुण ग्राहकता का ही यह फल है। इस ग्रन्थ के दोनों भाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अतिरिक्त कलकत्ता और आगरा आदि के विश्वविद्यालयों (यूनिवर्सिटियों) की उच्च कक्षा के पाठ्य-ग्रन्थों में निर्वाचित हो गये हैं।

यों तो इस ग्रन्थ के तृतीय संस्करण को ही पूर्व संस्करण की अपेक्षा बहुत कुछ परिवर्द्धित एवं परिष्कृत कर दिया था। अन्य उपयोगी बातों के अतिरिक्त प्रत्येक अलंकार के नामार्थ का स्पष्टीकरण भी कर दिया गया था, जिसके द्वारा पाठकों को प्रत्येक अलंकार का स्थूल रूप ज्ञात होने में सुविधा रहती है। एवं विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिये उदाहरणों में भी पर्याप्त वृद्धि कर दी गई थी।

अब जिस प्रकार इसके प्रथम भाग-रसमञ्जरी के पञ्चम संस्करण में निरूपित विषयोंको आलोचनात्मक विवेचन द्वारा पूर्व संस्करणकी अपेक्षा परिष्कृत किया गया है, उसी प्रकार इस दूसरे भाग के इस चतुर्थ और पञ्चम संस्करण में अलंकार विषय को आलोचनात्मक गम्भीर विवेचन द्वारा परिष्कृत किया गया है। इसमें अनेक ऐसे महत्वपूर्ण ज्ञातव्य विषयों का समावेश किया गया है, जो अलंकार विषय के ज्ञान के लिये उपयोगी होने के कारण अत्यन्त आवश्यक हैं। उसका अनुभव काव्य-मर्मज्ञ विद्वानों को इस संस्करण को दृष्टिगत करने पर स्वयं हो सकता है।

सहायक ग्रन्थ — जिन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है, उन सहायक ग्रन्थों के जो संस्करण इस लेख के उपयोग में लिये हैं उनकी नामावली आगे लगा दी गई है। अतः इस ग्रन्थ में संस्कृत ग्रन्थों के अवतरणों के आगे जो पृष्ठ संख्या दी गई है, वह उन्हीं संस्करणों की है।

विनीति निवेदन

अलंकार का विषय अत्यन्त जटिल एवं विवादास्पद होने के कारण अलंकार विषय का परिमार्जित और निर्दोष निरूपण किया जाना बड़ा ही दुःसाध्य व्यापार है, यहाँ तक कि संस्कृत के जिन ग्रन्थों के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया है, उन ग्रन्थोंके सुप्रसिद्ध आचार्य और व्याख्याकारों का भी अनेक स्थलों पर परस्पर में मतभेद दृष्टिगत होता है। ऐसी परिस्थिति में उन ग्रन्थों का यथार्थ तात्पर्य समझ कर दूसरों को समझाने में एवं आलोचनात्मक विवेचन में सफलता प्राप्त करना इस लेखक जैसे अल्पज्ञ साधारण व्यक्ति के लिए सर्वथा असम्भव है। अतः एव इस ग्रन्थ में अनिवार्य रूप से अनेक त्रुटियों का होना स्वाभाविक है। आशा है विषय की क्लिष्टता पर लक्ष्य रख कर सभी त्रुटियों के विषय में काव्य-मर्मज्ञ गुण-ग्राही उदारचेता सहृदय जन क्षमा प्रदान करेंगे।

बस अब निम्नलिखित सूक्ति को प्रार्थना रूप में उद्धृत करते हुए इस प्राक्कथन को समाप्त किया जाता है—

‘अभ्यर्थके मय्यनुकम्पया वा,
साहित्यसर्वस्वसमीहया वा,
मदीयमार्या मनसा निबन्ध—
ममुं परीक्षध्वममत्सरेण।’
(गोपेन्द्रत्रिपुरहर भूपाल)

मथुरा
वि० सं० २००६

विनीत—
कन्हैयालाल पोद्दार

———

॥श्रीहरिः॥

काव्य-कल्पद्रुम

द्वितीय भाग

अलङ्कार मञ्जरी

अष्टम स्तवक[1]

मंगलाचरण

स्मरणमात्र से तरुणातप को कर करुणा हरता निःशेष;
जिसके निकट चमत्कृत रहतीं अगणित चपलाएँ सविशेष।
अखिल विश्व निज कृपा-वृष्टि से आप्यायित करता निष्काम
वही सतत इस कल्पद्रुम को सफल करै अभिनव घनश्याम

---

१ इसके प्रथम के सात स्तवक काव्य-कल्पद्रुम के प्रथम भाग रस-मंजरी में हैं उनमें वाचक आदि शब्द, वाच्य आदि अर्थ, अभिधा आदि वृत्ति और ध्वनि रस एवं भाव आदि का विवेचन किया गया है। इस दूसरे भाग अलंकार मंजरी में अलंकार विषय का विवेचन है।

अलङ्कार

अलङ्कार पद में 'अलं' और 'कार' दो शब्द हैं। इनका अर्थ शोभा करने वाला'[१] है। अलंकार काव्य के बाह्य शोभाकारक धर्म हैं अतः इनकी अलङ्कार संज्ञा है।

आचार्य दण्डी[२] ने अलंकारों को काव्य के शोभाकारक धर्म बताये हैं। किन्तु आचार्य वामन [३] ने गुणों को ही काव्य के शोभाकारक धर्म कहे हैं। अतएव आचार्य मम्मट[४] ने गुण और अलंकार का पृथक्करण करते हुए कहा है कि गुण काव्य के साक्षात् धर्म हैं और अलंकार काव्य के अङ्गभूत शब्द और अर्थ के शोभाकारक धर्म हैं। उनका कहना है कि काव्य की आत्मा रस है अतः रस अंगी है; और शब्द एवं अर्थ काव्य के अंग हैं—काव्य, शब्द और अर्थ रूप हैं। जिस प्रकार हार आदि आभूषण कामिनी के शरीर को चमत्कृत करते हैं उसी प्रकार अनुप्रास और उपमा आदि अलंकार काव्य के उत्कर्षक हैं। अर्थात् रसात्मक काव्य में अलंकार शब्द और अर्थ के चमत्कार द्वारा रस के उत्कर्षक होते हैं और रस रहित काव्य में अलंकार वाच्यार्थ के उत्कर्षक होते हैं। किन्तु रसात्मक काव्य में भी अलंकार रस के सर्वत्र उत्कर्षक

---

१ 'अलंकरोतीति अलंकारः'।

२ 'काव्यशोभाकरान्धर्मान् अलंकारान्प्रचक्षते।'

काव्यादर्श २।१

३ 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः।'

काव्यालंकार सूत्र ३।१

४ 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्,
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।

काव्यप्रकाश ८।६७

नहीं होते। अर्थात् न तो अलंकार रस के सर्वत्र उत्कर्षक ही होते हैं और न रस के साथ सर्वत्र अलंकारों की स्थिति ही रहती है[१]। किन्तु गुण रस के सदैव उत्कर्षक होते हैं और रस के साथ गुणों की सर्वत्र स्थिति भी रहती है। आचार्य मम्मट के इस विवेचन द्वारा अलंकार और गुण का भेद स्पष्ट हो जाता है।

अलङ्कारों का शब्द और अर्थगत विभाग

अलंकार प्रधानतः दो भागों में विभक्त हैं। शब्दालङ्कार और अर्थालंकार। शब्द को चमत्कृत करने वाले अनुप्रास आदि अलंकार शब्द के आश्रित रहते हैं, अतः वे शब्दालंकार कहे जाते हैं। अर्थ को चमत्कृत करने वाले उपमा आदि अलंकार अर्थ के आश्रित रहते हैं, अतः वे अर्थालंकार कहे जाते हैं। और जो अलंकार शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित रहकर दोनों को चमत्कृत करते हैं, वे उभयालंकार कहे जाते हैं। अलंकारों का शब्द और अर्थ-गत विभाजन अन्वय[२] और व्यतिरेक[३] पर निर्भर है। अर्थात् जो अलंकार किसी विशेष शब्द की स्थिति रहने पर ही रह सकता है और उस शब्द के स्थान पर उसी अर्थ वाला दूसरा शब्द रख देने पर नहीं रहता, वह शब्दालंकार है। जो अलंकार शब्दाश्रित नहीं रहता अर्थात् जिन शब्दों के अर्थ द्वारा

---

१ देखिये, इनके उदाहरणों के लिये रसमंजरी छठा स्तबक।

२ कारण के रहने पर कार्य का अवश्य रहना 'अन्वय' है अर्थात् जिसके रहने पर उसके साथ रहने वाले दूसरे की स्थिति रहती है उसे अन्वय कहते हैं जैसे जहाँ जहाँ धूआँ होता है वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य होती है।

३ कारण के अभाव में कार्य का न होना 'व्यतिरेक' है अर्थात् जिसके न रहने पर उसके साथ रहने वाले दूसरे की स्थिति भी नहीं रहती उसे व्यतिरेक कहते हैं। जैसे जहाँ अग्नि नहीं होती है, वहाँ धूआँ भी नहीं रहता।

किसी अलंकार की स्थिति रहती हो, यदि उन शब्दों के स्थान पर उसी अर्थ वाले दूसरे शब्द रख देने पर भी उस अलंकार की स्थिति रह सकती हो, वह अर्थालंकार है। निष्कर्ष यह है कि जो अलंकार शब्द के आश्रित रहते हैं, वे शब्द के और जो अर्थ के आश्रित रहते हैं, वे अर्थ के माने जाते हैं। इसी सिद्धान्त पर शब्दालंकार और अर्थालंकार का विषयविभाजन किया गया है।

शब्दालंकार

जैसा कि भूमिका में दिखलाया गया है उक्तिवैचित्र्य ही अलंकार है। भिन्न-भिन्न उक्तिवैचित्र्य के कारण भिन्न-भिन्न अलंकार माने गये हैं अलंकारों के नाम उनके सामान्य लक्षणों के द्योतक हैं। अतः अलंकारों के निरूपण में उनके नामों का स्पष्टीकरण करना उपयुक्त है। इसीलिये प्रत्येक अलंकार के नाम का अर्थ, भी लक्षण के साथ स्पष्ट किया जायगा।

(१) वक्रोक्ति अलंकार

'वक्रोक्ति' का अर्थ है वक्र उक्ति।

किसी के कहे हुए वाक्य का किसी अन्य व्यक्ति द्वारा—श्लेष से अथवा काकु-उक्ति से अन्य कर्थ कल्पना किये जाने को वक्रोक्ति अलङ्कार कहते हैं।

अर्थात् वक्ता ने जिस अभिप्राय से जो वाक्य कहा हो, उस वाक्य का श्रोता द्वारा भिन्न अर्थ कल्पना करके उत्तर दिया जाना। भिन्न अर्थ की कल्पना दो प्रकार से हो सकती है—श्लेष द्वारा और 'काकु' द्वारा। अतः वक्रोक्ति के दो भेद हैं—श्लेष-वक्रोक्ति और काकु-वक्रोक्ति।

श्लेष-वक्रोक्ति

वक्ता के वाक्य का श्लिष्ट शब्द के श्लेषार्थ से अन्य द्वारा जहाँ भिन्नार्थ कल्पना किया जाता है, वहाँ श्लेष-वक्रोक्ति होती है।

जिस शब्द या पद के एक से अधिक अर्थ होते हैं उसको श्लिष्ट शब्द या श्लिष्ट पद कहते हैं। श्लिष्ट शब्द* या पद का कहीं भंग होकर और कहीं पूरे शब्द या पद का भिन्नार्थ किया जाता है। उसी के अनुसार श्लेष-वक्रोक्ति दो प्रकार की होती है। पद-भंग-श्लेष-वक्रोक्ति और अभंग-पद-श्लेष-वक्रोक्ति। जहाँ श्लिष्ट शब्द या पद को भंग (खंड) करके भिन्नार्थ कल्पना किया जाता है वहाँ भंग-पद-श्लेष-वक्रोक्ति होती है और जहाँ पूरे (अखंड) शब्द या पद का भिन्नार्थ कल्पना किया जाता है वहाँ अभंग-पद-श्लेष-वक्रोक्ति होती है।

पद-भंग-श्लेश-वक्रोक्ति

अयि गौरवशालिनि ! माननि ! आज सुधास्मित क्यों बरसाती नहीं ?
निज-कामिनी को प्रिय ! गौ[1], अवशा[2] अलिनी[3] भी कभी कहि जाती कहीं
यह कौशलता[4] भवदीय प्रिये ! पर दर्भ-लता[5] न दिखाती यहीं,
मुद-दायक हों गिरिजा, प्रिय से यों विनोद में मोद बढ़ाती रही ॥ १ ॥

श्री शंकर पार्वती के इस क्रीड़ालाप में 'गौरवशालिनि' सम्बोधन पद को पार्वतीजी ने—गौ, अवशा और अलिनी—इस प्रकार भंग

---

* श्लिष्ट शब्द और श्लेष का अधिक स्पष्टीकरण आगे श्लेष अलंकार के प्रकरण में किया गया है।

१ गाय। २ किसी के बस में न रहने वाली स्वतन्त्र। ३ भौंरे की मादा। ४ चातुर्य। ५ डाभ की लता।

[खंडित] करके श्लेष द्वारा अन्यार्थ अल्पना किया है । अतः पद-भंग श्लेष वक्रोक्ति है ।

अभंग-पद श्लेष-वक्रोक्ति

प्यारी, काहे आज तुम वामा ह्वै वतराल,
हम तो वामा हैं सदा का अचरज की बात ॥ २ ॥

यहाँ नायक द्वारा कहे हुये वामा (टेढ़ी) पद का नायिका द्वारा अन्यार्थ—स्त्री वाचक अर्थ—कल्पना करके उत्तर दिया है

को तुम ? हैं घनस्याम हम, तौ बरसौ कित जाय,
नहिं, मनमोहन हैं प्रिये ! फिर क्यों पकरत पाँय ॥ ३ ॥

यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा कहे हुए अपने नाम घनश्याम और मनमोहन पदों को मानवती राधिकाजी ने 'मेघ' और 'मनको मोहनेवाला' ये अन्यार्थ कल्पना किये हैं ।

काकु-वक्रोक्ति

जहाँ 'काकु' उक्ति में अन्य द्वारा अन्यार्थ कल्पना किया जाता है वहाँ काकु-वक्रोक्ति होती है ।

'काकु' एक विशेष प्रकार की कंठ-ध्वनि होती है ।

"मंद-मंद मारुत बहैरी चहुँ ओरन तें,
मोरन के सोरन अपार छबि छायँगे ।
चारों ओर चपला चमकि-चित चोरैं लेति,
दादुर दरेरो देत आनँद बढ़ावैंगे ।
बरषा बिलोकि बीर । बरसे बधूटी वृन्द,
बोलत पपीहा पीउ पीउ मन भायँगे ।
'वल्लभ' बिचार हिय कहुरी समुझी सखी,
ऐसे समै नाथ का बिदेस तें न आवैंगे" ॥४१॥ [४०]

यहाँ—'ऐसे समै नाथ का विदेसतें न आयँगे' यह काकु उक्ति है। इस वाक्य में नायिका ने नायक के आने का निषेध किया है, किन्तु सखी द्वारा इसी वाक्य का काकु से अन्यार्थ कल्पना करके यह उत्तर दिया गया है कि 'नायक क्यों न आवेंगे—अवश्य आवेंगे।

काकु-वक्रोक्ति अलङ्कार वहीं होता है जहाँ किसी एक व्यक्ति द्वारा कहे हुए वाक्य का अन्य व्यक्ति द्वारा भिन्न अर्थ कल्पना किया जाता है। जहाँ अपनी ही उक्ति में काकु-उक्ति होती है वहाँ काकाक्षिप्त गुणीभूतव्यंग होता है न कि वक्रोक्ति अलङ्कार जैसे—

"अब सुख सोवत सोच नहिं, भीख माँग भव खाहिं;
सहज एकाकिन्ह के भवन कबहुँक नारि खटाहिं ! ॥५॥ [२२]

पार्वतीजी के प्रति सप्तऋषियों ने 'कबहुँक नारि खटाहिं' स्वयं इस उक्ति में काकु उक्ति की है। इसके द्वारा वक्ता के कहते ही वाच्यार्थ —'एकाकी के घर में नारी नहीं खटाती' इस विपरीत अर्थ में बदल जाता है—अन्य द्वारा अन्यार्थ कल्पना नहीं किया गया है, अतः यहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार नहीं है।

———

(२) अनुप्रास अलंकार

वर्णों के साम्य को 'अनुप्रास कहते हैं'

'अनुप्रास' पद 'अनु' 'प्र' और 'आस' मिलकर बना है। 'अनु' का अर्थ है रस के अनुकूल अर्थात् वर्णनीय रस के व्यंजक वर्णों का प्रयोग किया जाना। 'प्र' का अर्थ है 'प्रकर्ष' अर्थात् वर्णों का प्रयोग पास पास किया जाना। और 'आस' का अर्थ है वर्णों का

बारंबार रक्खा जाना। निष्कर्ष यह है कि अनुप्रास में वर्णनीय रस के अनुकूल वर्णों का समीप समीप में बारंबार प्रयोग किया जाता है।

वर्णों का साम्य कहने का अभिप्राय यह है कि स्वरों की समानता न होने पर भी केवल वर्णों के साम्य में 'अनुप्रास' हो सकता है।

अनुप्रास के भेद इस प्रकार हैं—

१ वर्णानुप्रास
 छेकानुप्रास
 वृत्यानुप्रास
२ शब्दानुप्रास

छेकानुप्रास

अनेक वर्णों के एक बार सादृश्य होने को छेकानुप्रास कहते हैं।

छेक का अर्थ है चतुर। चतुर जनों को प्रिय होने के कारण इसे छेकानुप्रास कहते हैं। 'रस सर' ऐसे प्रयोगों में छेकानुप्रास नहीं हो सकता—छेकानुप्रास में वर्णों का उसी क्रम से प्रयोग होना चाहिये, जैसे 'सर सर'[1]। उदाहरण—

अरुन बरन रवि उदित ह्वै चन्द मन्द-दुति कीन्ह,
काम छाम-तरुनीन[2] के गण्ड-पाण्डु-छवि लीन्ह ॥६॥

'रुन रन' 'चन्द मन्द' और 'गण्ड पाण्डु' में दो दो वर्णों की एक बार समानता है।

मन्द मन्द चलि अलिन कों करत गन्ध मद-अन्ध,
कावेरी-वारी-पवन पावन परम सुछन्द ।॥ ७ ॥

१ 'स्वरूपतः क्रमतश्च' साहित्यदर्पण परिच्छेद १०।३ वृत्ति।

२ कामदेव के ताप से पीड़ित कामिनी जनों के कपोल की पीत कान्ति के समान।

यहाँ 'गन्ध' और 'अन्ध' में संयुक्त वर्ण 'न' और 'ध' की; 'कावेरी' और 'वारी' में असंयुक्त 'व' और 'र' की और 'पावन पवन' में 'प' 'व' 'न' की एक बार आवृत्ति है।

"नेम व्रत संजम के पींजरै परे को जब
लाजकुल-कॉनि प्रतिबन्धहिं निवारि चुकीं,
कौन गुन गौरव को लंगर लगावै जब
सुधि बुधि ही कौ भार टेक करि टारि चुकीं।
जोग 'रतनाकर' में साँस घूँटि बूडै कौन
ऊधौ! हम सूधौ यह वानक विचार चुकीं,
मुक्ति-मुकता कौ मोल माल ही कहाँ है जब,
मोहन लला पै मन-मानिक ही वारि चुकीं ॥"॥८॥[१७]

यहाँ चतुर्थ चरण में 'मुक्ति-मुकता' में 'म' और 'क' की, 'मोल माल' में 'म' और 'ल' की और 'मन-मानिक' में 'म' और 'न' की आवृत्ति है।

एक वर्ण के एक बार सादृश्य में छेकानुप्रास नहीं होता है[१]। काव्यप्रकाश की 'प्रदीप'[२] और 'उद्योत' व्याख्या में एवं साहित्यदर्पण[३] में एक वर्ण के एक बार सादृश्य में वृत्त्यनुप्रास माना गया है। भारतीभूषण में जो एक वर्ण के एक बार सादृश्य में 'छेकानुप्रास' बतलाया है, वह भूल है।

वृत्त्यनुप्रास

वृत्ति-गत अनेक वर्णों की अथवा एक वर्ण की, अधिक

---

१ 'अनेकस्मिन्निति वचनाच्च असकृदेवंविधरूपोपनिबन्धे सति छेकानुप्रासता न तु सकृदिति मन्तव्यम्'—उद्भटाचार्य—काव्यालङ्कारसार-संग्रहवृत्ति पृ० ४ बोम्बे सीरीज।

२ देखिये प्रदीप पृ० ४०६ आनन्दाश्रम-संस्करण।

३ साहित्यदर्पण में वृत्त्यनुप्रास के लक्षण में लिखा है 'एकस्य सकृदपि'।

५

वार आवृत्ति किये जाने को वृत्यनुप्रास कहते हैं।

वृत्ति—

भिन्न-भिन्न रसों के वर्णन में भिन्न-भिन्न वर्णों के प्रयोग करने का नियम है। ऐसे नियम-बद्ध वर्णों की रचना को वृत्ति कहते हैं। वृत्ति तीन प्रकार की होती हैं—उपनागरिका, परुषा और कोमला। आचार्य वामन आदि ने इन वृत्तियों को क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पांचाली के नाम से लिखा है।

उपनागरिका वृत्ति—

माधुर्य गुण की व्यंजना करनेवाले वर्णों की रचना को उपनागरिका वृत्ति कहते हैं।

उपनागरिका वृत्ति में ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर मधुर एवं अनुस्वार सहित और समास रहित अथवा छोटे समास की रचना होती है।"[1]

अलि पुंजन की मद गुंजन सौं वन कुंजन मंजु बनाय रह्यो ;
लगि अंग अनंग तरंगन सौं रति रंग उमंग बढाय रह्यो।
विकसे सर कंजन कम्पित कै रजरंजन लै छिरकाय रह्यो,
मलयानिल मंद दसौं दिसि मैं मकरंद अमंद बहाय रह्यो ॥ ६।

यहाँ माधुर्य गुण-व्यंजक म, र, न और सानुस्वार वर्णों की अनेक वार आवृत्ति है और छोटे समास हैं।

चंचल अतंत मान गंजन है खंजन के
मीन-मद भंजन निकाई भरे दौना द्वै।
अंजन सुहातु हैं कुरंग हू लजातु चित्त-
रंजन लखातु हैं अनंग के खिलौना द्वै।

---

१ माधुर्य गुण का अधिक विवेचन रस मंजरी के छठे स्तवक में किया जा चुका है।

सुघर सलौना जुग टौना इटलौना लसैं
स्याम रंग बिंदु त्यों गुलाबी रंग कोना द्वै;
मेरे जान आनन-सरोज-पाँखुरी हैं दृग,
खेलत तहाँ हैं मंजु मानों भृंग छौना द्वै ॥१०॥

यहाँ म, न, ज, आदि वर्णों की अनेक वार आवृत्ति है।

"रस सिंगार मंजन किए कंजनु भंजनु दैन.
अंजनु रंजनु हूँ बिना खंजन गंजनु नैन ॥"११॥ [४३]

यहां ज और न की अनेक वार आवृत्ति है।

एक वर्ण की आवृत्ति में उपनागरिकावृत्ति-गत वृत्त्यनुप्रास—

चंदन चंदक चाँदनी चंदसाल नव बाल,
नित ही चित चाहुतु चतुर ये निदाघ के काल ॥१२॥

यहाँ 'च' वर्ण की अनेक वार आवृत्ति है।

साहित्य दर्पण में एक वर्ण की एक ही वार की आवृत्ति में वृत्त्यनुप्रास माना है, जैसे—"सुंदर सुखमा ऐन"।

परुषा वृत्ति—

'ओज' गुण की व्यंजना करने वाले वर्णों की रचना को परुषावृत्ति कहते हैं।

इसमें ट, ठ, ड, ढ आदि वर्णों की अधिकता, रेफ सहित संयुक्ताक्षर और द्वित्व वर्णों की कठोर रचना होती है।

"हननाहट भौ घनघोरन कौ ठननाहट कातर मत्थ ठयो,
छननाहट औनन बान छुवै फननाहट तोपन भूरि भयो।
कटि लुत्थन पै कति लुत्थ परीं बदि बुत्थन बुत्थन बात बढे,
अनयास चढ़े गिरि व्यूढन पै हट रूढ सुब्यूढ प्रयास चढ़े ॥"१३॥[८

---

१ ओजगुण का अधिक विवेचन प्रथम भाग के छठे स्तवक में किया गया है।

यहाँ कर्णार्जुन-युद्ध के वर्णन में न, द, ट, त्थ वर्णों की अनेक आवृत्ति और टवर्ग की अधिकता वाली कठोर रचना है।

"गत-बल खान दलल हुव खान बहादुर युद्ध,
सिव सरजा सलहेरि[1] ढिंग क्रुद्धदरि[2] किय युद्ध।
क्रुद्धदरि किय युद्धद्ध्रुव[3] अरि अद्दद्धरि[4] धरि,
मुंडड्डुरि[5] तहँ रुंडड्डुकरत[6] डुंडड्डग[7] भरि,
खेदिद्दर[8] बर छेद्दय[9] करि मेदद्दधि[10] दल,
जंगग्गति[11] सुनि रंगग्गलि[12] अब्ररंगग्गत[13] बल॥"१५॥

यहाँ भी टवर्ग और द्वित्व वर्णों वाली कठोर रचना है।

कोमलावृत्ति—

माधुर्य और ओजगुण-व्यंजक वर्णों के अतिरिक्त शेष वर्णों की रचना को कोमलावृत्ति कहते हैं।

"फल-फूलों से हैं लदी डालियाँ मेरी,
वे हरी पत्तलें भरी थालियाँ मेरी,
मुनि-बालाएँ हैं यहाँ आलियाँ मेरी,
तटनी की लहरें और तालियाँ मेरी,
क्रीड़ा-सामिग्री बनी स्वयं निज छाया।
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया॥"१६॥

---

१ एक किला, जिसे शिवाजी के मंत्री मोरोपंत ने फतह किया था। २ क्रोध करके। ३ निश्चय युद्ध किया। ४ आधे आधे काट कर। ५ मुंड डालकर। ६ रुंड डकार रहे हैं। ७ डुंड (हाथ कटे कबंध) डग भरते हैं। ८ दर (स्थान-मोरचों) से खदेड़ कर। ९ छेद डाला। १० सेना की मेद—चर्बी—को दही की जैसे फेंट डाला। ११ जङ्ग का हाल। १२ रंग गल गया। १३ बल गत हो गया।

यहाँ प्रायः माधुर्य और ओजगुण-व्यंजक वर्णों के अतिरिक्त वर्णों की रचना है। ल, य, र, आदि की कई बार आवृत्ति है।

"ख्याल ही की खेल में अखिल ख्याल खेल खेल
गाफिल है भूल्यो दुख दोष की खुसाली तैं,
लाख लाख भाँति अवलाखि लखे लाख लाख
अलख लख्यो न लखी लालन की लाली तैं।
प्रभु प्रभु 'देव' प्रभु सौं न पल पाली प्रीति
दै दै करताली ना रिझायो बनमाली तैं,
झूठी झिलमिल की झलक ही मैं भूल्यो नल-
मल की पखाल खल! खाली खाल पाली तैं॥"१७॥[२७]

यहाँ प्रायः माधुर्य और ओजगुण-व्यंजक वर्णों को छोड़कर शेष वर्णों की अधिकता है और ख, ल, प, आदि वर्णों की कई वार आवृत्ति है।

शब्दानुप्रास (लाटानुप्रास)

शब्द और अर्थ दोनों की आवृत्ति में तात्पर्य की भिन्नता होने को शब्दानुप्रास (लाटानुप्रास) कहते हैं।

लाटानुप्रास में शब्द और अर्थ दोनों की अर्थात् एकार्थक शब्दों की पुनरुक्ति होती है—केवल तात्पर्य (अन्वय) में भिन्नता रहती है। इसमें शब्द या पदों की आवृत्ति होने के कारण इसकी शब्दानुप्रास या पदानुपास संज्ञा है।

यमक अलङ्कार में भी शब्द या पदों की आवृत्ति होती है, किन्तु यमक में जिन शब्दों की आवृत्ति होती है उनका अर्थ भिन्न-भिन्न होता शब्दानुप्रास में एक ही अर्थ वाले शब्द या पदों की आवृत्ति होती है।

पद की आवृत्ति—

१—बहुत से पदों की अर्थात् वाक्य की आवृत्ति।

२—एक ही पद की आवृत्ति।

बहुत पदों की आवृत्ति—

वे घर हैं बन ही सदा जो है बंधु-वियोग,
वे घर हैं बन ही सदा जो नहिं बंधु-वियोग ॥१८॥

पूर्वार्द्ध में जो पद हैं वे ही प्रायः उत्तरार्ध में हैं। उनका दोनों स्थान पर एक ही अर्थ है—केवल तात्पर्य भिन्न है। पूर्वार्द्ध में बन्धुजनों के वियोग होने पर घर को वन और उत्तरार्द्ध में बन्धुजनों के समीप रहने पर वन को घर कहा गया है।

"सूत सिरताज† ! मद्रराज* ! हय साज आज,
अस्त्रन समाज के इलाज को करैया मैं।
गेरैं गजराजी[1] गजराज सम गाज गाज,
गदाराज-गाज[2] के इलाज को करैया मैं।
वैनतेय[3] आज काद्रवेय से अरीन काज,
पत्थ रूप बाज[4] के इलाज को करैया मैं।
धर्मराज-राज के इलाज को करैया कुरु-
राज-हित राज के इलाज को करैया मैं !!"१९।[द

भारत-युद्ध में अपने सारथी शल्य के प्रति कर्ण के इन वाक्यों में 'इलाज को करैया मैं' इस वाक्य की, जिसमें शब्द और अर्थ भिन्न नहीं है, आवृत्ति है। अन्वय (सम्बन्ध) पृथक्-पृथक् होने के कारण तात्पर्य मात्र में भिन्नता है।

---

†—सारथियों में शिरोमणि। *—मद्र देश का राजा शल्य। १ हाथियों की पंक्ति। २ गदा से लड़ने वाले भीमसेन की गर्जना। ३ शत्रु रूप सर्पों के लिए गरुड़ रूप। ४ अर्जुन रूप बाज पक्षी।

एक पद की आवृत्ति—

कमलनयन ! आनँद-दयन ! दरन सरन-जन पीर,
करि करुना करुनायतन ! नाथ ! हरहु भौ भीर ॥ २० ॥

यहाँ एकार्थक 'करुणा' पद की आवृत्ति है। पहिले 'करुणा, का 'करि' के साथ और दूसरे 'करुणा' का 'आयतन' के साथ सम्बन्ध है।

सितकर-कर-छबि-जस-बिभा बिभाकरन सम भूप।
पौरुष-कमला कमला तेरे निकट अनूप[1] ॥ २१ ॥

यहाँ 'सितकर कर' में 'कर' शब्द की आवृत्ति है। और 'विभा विभाकर' में 'विभा' की आवृत्ति है और 'कमला' शब्द की आवृत्ति है।

साहित्यदर्पण में अनुप्रास के दो भेद और माने गये हैं श्रुति-अनुप्रास और अंत्यानुप्रास। दन्त, तालु और कंठ आदि एक विशेष स्थान से उच्चारण किये जाने वाले वर्णों की आवृत्ति हो वहाँ श्रुति अनुप्रास और पद के अन्त में अथवा पाद के अन्त में स्वर सहित पदों की आवृत्ति हो वहाँ 'अंत्यानुप्रास' माना गया है—

"नभ लाली चाली निसा चटकाली धुनि कीन।
रति पाली आली ! अनत आये बनमाली न" ॥२२॥[४३]

यहाँ लाली, चाली, काली और पाली आदि पदों के अन्त में 'ली' वर्ण की 'ई' स्वर सहित आवृत्ति है। किन्तु वृत्यनुप्रास में स्वर सहित, स्वर रहित एवं सभी प्रकार के वर्णों के साम्य को ग्रहण किया गया है। अतः ये दोनों भेद भी वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत ही है, न कि पृथक्।

---

१ राजा के प्रति किसी कवि की उक्ति है—हे विभाकरन सम = सूर्य के समान राजन् ! तेरे यश की कान्ति सितकर-कर = चंद्रमा के किरणों के समान उज्ज्वल है। पौरुष-कमला = पराक्रम-रूप लक्ष्मी और कमला = लक्ष्मीजी तेरे निकट रहती हैं।

(३) यमक अलङ्कार

निरर्थक वर्णों की अथवा भिन्न-भिन्न अर्थवाले सार्थक वर्णों की क्रमशः आवृत्ति[1] या उनके पुनः श्रवण[2] को यमक कहते हैं।

लक्षण में 'क्रमशः इसलिये कहा गया है कि यमक में वर्णों की आवृत्ति उसी क्रम से होनी चाहिये, जैसे—'सर सर'। 'सर रस' में यमक नहीं हो सकता, क्योंकि वर्णों की आवृत्ति क्रमशः नहीं है।

यमक में भी वर्णों का एक विशेष प्रकार से न्यास ही होता है। अतः यमक एक विशेष प्रकार का अनुप्रास ही है।

'यमक' में स्वर सहित निरर्थक और सार्थक दोनों प्रकार के वर्णों की आवृत्तिहोती है। यमक में वर्णों का प्रयोग तीन प्रकार से होता है—

(१) सर्वत्र अर्थात् जितनी बार आवृत्ति हो वह निरर्थक वर्णों की हो।

(२) एक बार निरर्थक वर्णों की और दूसरी बार सार्थक (अर्थ वाले) वर्णों की आवृत्ति हो।

(३) सर्वत्र सार्थक (अर्थवाले) वर्णों की आवृत्ति हो। जहाँ सार्थक वर्णों की आवृत्ति में यमक होता है वहाँ भिन्न-भिन्न अर्थ वाले वर्णों की आवृत्ति होती है, न कि एकार्थक वर्णों की।

---

१ यमक के सम्बन्ध में जहाँ जहाँ 'आवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ-वहाँ इसके साथ पुनः श्रवण भी समझना चाहिये।

२ 'यमक' और 'चित्र' अलङ्कार में 'ड' और 'ल' तथा 'व' और 'ब' एवं 'ल' और 'र' वर्ण अभिन्न समझे जाते हैं। जैसे—'भुजलतां जडतामबलाजनः' इसमें एक बार 'जलतां; और दूसरी बार 'जडतां' का प्रयोग है। इनकी ध्वनि एक समान सुनी जाती है। इसलिये लक्षण में 'पुनः श्रवण' कहा गया है अर्थात् वर्णों की आवृत्ति के सिवा जहाँ आवृत्ति न होकर वर्णों का समान श्रवण होता है वहाँ भी यमक होता है।

यमक 'पादावृत्ति' और 'भागावृत्ति' दो प्रकार का होता है और इनके अनेक उपभेद होते हैं—

छन्द के चौथे विभाग को पाद कहते हैं। ऐसे पूरे पाद की आवृत्ति को पादावृत्ति कहते हैं।

पाद के आधे विभाग की अथवा तीसरे या चौथे विभाग की या इससे भी छोटे विभाग की आवृत्ति को 'भागावृत्ति' यमक कहते हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के वर्णों का उदाहरण—

"पूनावारी[१] सुनि के अमीरन[२] की गति,
लई भागिवे को मीरन समीरन[३] की गति है।
मारयो जुरि जङ्ग जसवन्त[४] जसवन्त जाके,
संग केते रजपूत रजपूतपति है॥
भूषन भनै यों कुलभूषन भुसिल,
सिवराज, तोहि दीन्हीं सिवराज बरकति है।
नौहू खण्ड दीप[५] भूप भूतल के दीप[६] आजु,
समै के दिलीप[७] दिलीपति को सिदति[८] है॥" २३॥ [४७]

यहाँ 'समीरन अमीरन' में मीरन शब्द दोनों स्थानों पर निरर्थक है। 'जसवन्त जसवन्त' में 'भूपन सूपन' में 'सिवराज सिवराज' आदि में दोनों स्थानों पर भिन्न-भिन्न अर्थ वाले सार्थक शब्द हैं। और 'दिलीप दिली-पति' में पहिला 'दिलीप' शब्द सार्थक और दूसरा निरर्थक है।

निरर्थक वर्णों की आवृत्ति का यमक (भागावृत्ति 'मुख' यमक)—

---

१ पूनावाली। २ अधिकारी (नायक)। ३ पवन की गति से भग गये। ४ जोधपुर नरेश जसवन्तसिंह को साथ रखकर। ५ द्वीप। ६ दीपक। ७ अयोध्या के राजा सूर्यवंशी महाराज दिलीप। ८ दिल्ली के पति—बादशाह को कष्ट देता है।

सुमनचारु[1] यही न अशोक के सुमनचापप्रदीपक हैं नये,
मधु सुशोभित बौर रसाल भी सुमद कारक क्या यह है नहीं ॥ २४ ॥

यहाँ 'सुमन चा' निरर्थक वर्णों की आवृत्ति में यमक है।

एक बार निरर्थक और दूसरी बार सार्थक वर्णों की आवृत्ति का यमक—

"लै चुभकी चलि जात जित जित जल-केलि अधीर,
कोजतुकेसरि-नीर से तिति तिति के सरि नीर"॥२५॥ [४३]

यहाँ 'केसरिनीर' तीसरे पाद में सार्थक है और चौथे पाद में निरर्थक है।

और भी—

"अन्दर ते निकसीं न मन्दिर को देख्यो द्वार,
बिन रथ पथ ते उघारे पाँव जाती हैं ?
हवाहू न लागती ते हवा ते विहाल भईं,
लाखन की भीर में सम्हारती न छाती हैं ॥
भूषन भनत सिवराज तेरी धाक सुनि,
हयादारी चीर फारी मन झुंझलाती हैं।
ऐसी परीं नरम हरम बादशाहन की,
नासपाती खातीं ते बनासपाती खाती हैं ॥"२६॥ [४७]

यहाँ पहला शब्द 'नासपाती' सार्थक एवं दूसरा 'नासपाती' निरर्थक है।

सर्वत्र सार्थक वर्णों की आवृत्ति का यमक—

---

१ केवल अशोक के सुमन चारु (सुन्दर फूल) ही सुमनचाप। (कामदेव) उद्दीपन नहीं करते हैं किन्तु वसन्त ऋतु क्या में रसाल (आम) के बौर भी मदकारक नहीं है।

"ऊँचे घोर मन्दर† के अन्दर रहन वारी
ऊँचे घोर मन्दर* के अन्दर रहाती हैं।
[१]कन्दमूल भोगकरैं [२]कन्दमूल भोग करैं
तीन बेर[3] खातीं सो तौ तीन बेर[४] खातीं हैं॥
भूखन[५] सिथिल अंग भूखन[६] सिथिल अंग
बिजन[७] डुलातीं ते वै बिजन[८] डुलाती हैं।
भूषन भनत सिवराज वीर देरे त्रास
नगन[९] जड़ातीं ते वै [१०]नगन जड़ातीं हैं॥"२८॥[४३]

यहाँ कई सार्थक वर्णों की आवृत्ति का यमक है।

और भी—

"वर जीते सर-मैन के ऐसे देखे मैं न,
हरिनी के [११]नैनानतें हरि! नीके [१२]यह नैन॥"२८॥[४३]

यहाँ तीसरे पाद के 'हरिनीके' और चौथे पाद के 'हरिनीके' दोनों ही सार्थक है। अतः सार्थक वर्णों की आवृत्ति का यमक है।

'अर्द्ध-पादावृत्ति 'आद्यन्त समुच्चय' यमक—

जलजातहु जु लजात चख छवि भख छिपि जलजात,
जलजात सु लखि सवतनहि सवतन ही जलजात[13]॥२६॥

प्रथम पाद के 'जलजात' पाद की दूसरे पाद में, तीसरे पाद में और

---

† मकान। * पर्वत।

१ व्यंजन। २ शाक इत्यादि। ३ दिन में तीन बार। ४ बेर के तीन फल। ५ जेवरों से। ६ भूख से। ७ पंखा। ८ जंगल में। ९ आभूषणों में नग (हीरा इत्यादि) बैठवाना। १० नग्न। ११ मृगी के। १२ हे हरि! उसके नेत्र नीके हैं। १३ यह किसी नायिका का वर्णन है। इसके चख (नेत्रों) की छवि से जलजात (कमल) लजाते हैं, तथा

चौथे पाद में आवृत्ति है। तथा तीसरे पाद के 'सवतनही' की चौथे पाद में आवृत्ति है। इस प्रकार के यमक की समुच्चय संज्ञा है।

पाद के तीसरे भाग की आवृत्ति 'पंक्ति' यमक—

मधु-विकासित हो नलिनी घनी मधुर-गन्धित पुष्करिणी बनी,
मधु-पराग विलोभित हो महा मधु पराग भरे स्थित हैं वहाँ[1]॥३०॥

प्रथम पाद के आदि भाग के तिहाई भाग 'मधु' की तीनों पादों के आदि भाग में आवृत्ति है।

भागावृत्ति आदिमध्य यमक—

सुमुखि के मुख के मद से बढ़े सम सुगन्धित पुष्प समूह[2] ने,
मधुप पुंज बुला मधु-लालची व कुल आ कुल आ उनने करी॥३१॥

पाद के चौथाई भाग के दूसरे खण्ड 'कुल आ' की तीसरे खण्ड में आवृत्ति है।

दिवि-रमनी रमनीय कित है रति रति सम ही न,
हरि बनिता बनिताहि छिन मनमथ-मथ बस कीन[3]॥३२॥

झख (मीन) छिपि जलजात (जल में छिप जाते) हैं और जब यह जल जान (जल भरने को जाती) है तब इसके, लखि सब तनहि (सारे शरीर की शोभा को देख कर) सवतन ही (सौतों का हृदय) जल जाता है।

१ मधु (बसन्त) में पुष्करिणी (छोटी छोटी तलइयाँ) कमलनियों के मधुर गन्ध से सुगन्धित हो रही हैं और उनके मधु-लोभ के कारण आये हुए प्रमत्त भौंरे वहाँ उन पर बैठे हुए शोभित हैं।

२ सुमुखि (सुन्दर मुख वाली तरुणी) के मुख की मदिरा के कुल्ले से बढ़े हुए पुष्प-समूह ने मधु के लोभी मधुप-पुञ्ज (भौंरों के समूह) को बुला लिया। उन्होंने आकर वकुल (मोरछली के वृक्ष) को आकुल (व्याप्त) कर लिया है।

३ भगवान् विष्णु द्वारा महादेवजी को मोहिनी रूप दिखाने का

'रमनी' 'रति' और 'मथ' की उन्हीं पादों के तीसरे भागों में आवृत्ति है।

अग्निपुराण[१] के अनुसार यमक के दो भेद हैं 'अव्यपेत' और 'व्यपेत'।

'अव्यपेत' का अर्थ है व्यवधान (अन्तर) का न होना। अर्थात् जिन पदों या वर्णों की आवृत्ति होती है उन वर्णों का या पदों का एक दूसरे के समीप होना। जैसे ऊपर के दोहे में 'रमणी रमणी' आदि पदों का यमक है। दोनों 'रमणी' पद निकट हैं—इनके मध्य में कोई और वर्ण (अक्षर) नहीं है, इस प्रकार के सन्निकट पदों के यमक को अव्यपेत कहते हैं। और 'व्यपेत' का अर्थ है पदों के बीच में व्यवधान (अन्तर) होना अर्थात् जिन पदों या वर्णों की आवृत्ति होती है उन पदों या वर्णों का एक दूसरे से समीप न होना। जैसे ऊपर के "मधु विकासित हो नलिनी....................." में 'मधु' शब्द का यमक है। 'मधु' पद चारों पादों के आदि में है--उनके मध्य में अन्य पद है अतः यहाँ व्यपेत यमक है। इन दोनों भेदों का उल्लेख काव्यादर्श और सरस्वतीकण्ठाभरण में भी है। 'कविप्रिया' में केशवदासजी ने भी इन्हें लिखा है। कविप्रिया के टीकाकारों ने 'अव्यपेत' और 'व्यपेत' का अर्थ न समझ कर 'य' और 'प' के लिपि भ्रम के कारण इन भेदों को अव्ययेत और सव्ययेत के नाम से लिख दिया है। रीति-ग्रन्थों के

वर्णन है। हरि (विष्णु) ने वनिता (स्त्री) का ऐसा अनुपम रूप धारण करके जिसकी तुलना में दिविरमणी (अप्सरा) की रमणीयता तो कहाँ रति (काम की स्त्री) भी रत्ती भर भी सम नहीं, मन्मथमथ (कामदेव को जीतने वाले महादेवजी) को अपने वश में कर लिया।

१ "यमकं साऽव्यपेतं च व्यपेतं चेति तद्द्विधा,
आनन्तर्यादव्यपेतं व्यपेत व्यवधानतः ॥"

कुछ आधुनिक प्रणेताओं ने भी उसी का अन्धानुसरण[२] ही नहीं किया किन्तु कुछ का कुछ समझ लिया है[१]।

---

(४) श्लेष अलङ्कार ।

श्लिष्ट-शब्दों से अनेक अर्थों का अभिधान (कथन) किए जाने को श्लेष कहते हैं।

श्लेष शब्द श्लिष धातु से बना है। श्लिष्ट का अर्थ है चिपकना या मिलना। श्लिष्ट शब्द में एक से अधिक अर्थ चिपटे रहते हैं, अतः जिस शब्द के एक से अधिक अर्थ होते हैं उसे श्लिष्ट शब्द कहते हैं। श्लिष्ट शब्द दो प्रकार के होते हैं—सभंग और अभंग। जिस पूरे शब्द के दो अर्थ होते हैं वह अभंग श्लिष्ट शब्द कहा जाता है। ऐसे शब्दों के प्रयोग द्वारा अभंग श्लेष होता है। जिस पूरे शब्द का अर्थ भिन्न होता है और शब्द के भंग (खंडित) करने पर भिन्न अर्थ होता है वह सभंग-श्लिष्ट-शब्द कहा जाता है। ऐसे शब्दों के प्रयोग में सभंग श्लेष होता है।

अभंग और सभंग श्लेषों में जहाँ दोनों अर्थों में (या जब दो से अधिक अर्थ हों उन सभी अर्थों में) प्रकृत† का वर्णन किया जाता है। वहाँ प्रकृत मात्र आश्रित श्लेष कहा जाता है। जहाँ सभी

---

१ देखिये कविप्रिया की ला० भगवानदीनजी की प्रियाप्रकाश टीका पृ० ३७३। और पण्डित रामशंकर शुक्ल का अलङ्कारपीयूष पृ० २२७ आश्चर्य है कि आपने अव्यपेत को अभंग और व्यपेत को सभंग मान लिया है। जब कि यमक के इन भेदों का अभंग और सभंग से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

† जिसका वर्णन करना कवि को प्रधानतया अभीष्ट होता है उ

अर्थों में अप्रकृत[१] का वर्णन किया जाता है वहाँ अप्रकृत मात्र आश्रित श्लेष कहा जाता है और जहाँ एक अर्थ में प्रकृत का वर्णन और दूसरे अर्थ में (या जहाँ एक से अधिक अर्थ हों वहाँ उन सभी में) अप्रकृत का वर्णन होता है वहाँ प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष कहा जाता है। श्लेष में विशेषण[२] पद तो सर्वत्र श्लिष्ट होते हैं किन्तु विशेष्य† पद कहीं श्लिष्ट और कहीं श्लिष्ट नहीं होते हैं। श्लेष के भेद इस प्रकार हैं—
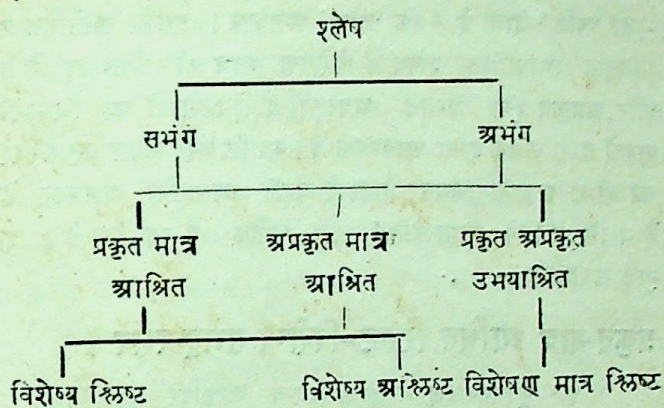
प्रकृति या प्रस्तुत या प्राकरणिक अर्थ कहते हैं प्रकृत या प्रस्तुत आदि प्रयोग का प्रायः उपमेय के लिये किया जाता है।

१ जिसका वर्णन किया जाना प्रधान न हो उसे अप्रकृत या अप्रस्तुत या अप्राकरणिक कहते हैं। अप्रकृत या अप्रस्तुत आदि का प्रयोग प्रायः उपमान के लिए किया जाता है।

२ विशेषण उसे कहते हैं जिसके द्वारा विशेष्य के गुण या अवस्था का प्रकाश होता है। विशेषण प्रायः विशेष्य पद के पूर्व रहता है। जैसे—नया घर, गुणवान् मनुष्य में 'नया' और 'गुणवान्' विशेषण है।

† विशेष्य उसे कहते हैं जिससे किसी वस्तु या व्यक्ति का बोध होता है। जैसे घर, मनुष्य आदि।

इसके अनुसार 'प्रकृत मात्र-आश्रित' और 'अप्रकृत मात्र-आश्रित' श्लेष में विशेष्य का श्लिष्ट होना नियत (अनिवार्य) नहीं अर्थात् कहीं विशेष्य श्लिष्ट होता है और कहीं विशेष्य श्लिष्ट न होकर केवल विशेषण ही श्लिष्ट होता है। किन्तु प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में विशेष्य श्लिष्ट नहीं हो सकता—केवल विशेषण ही श्लिष्ट होता है। क्योंकि जहाँ विशेष्य और विशेषण दोनों श्लिष्ट होते है वहाँ शब्द-शक्ति-मूला ध्वनि[1] होती है न कि 'श्लेष' अलङ्कार। इसके अतिरिक्त प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में विशेषण मात्र की श्लिष्टता में प्रकृत और अप्रकृत (या प्रस्तुत अप्रस्तुत) दोनों विशेष्यों का भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन होना आवश्यक है। क्योंकि जहाँ केवल प्रकृत-विशेष्य का ही शब्द द्वारा कथन होता है वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है न कि श्लेष। 'समासोक्ति' और 'श्लेष में यही भेद है। इनके कुछ उदाहरण—

प्रकृत-मात्र आश्रित श्लिष्ट-विशेष्य सभङ्ग-श्लेष।

> है[2] पूतनामारण में सुदक्ष जघन्य काकोदर था विपक्ष,
> की किन्तु रक्षा उसकी दयालु, शरण्य ऐसे प्रभु हैं कृपालु ॥२३॥

यहाँ श्री राम और श्री कृष्ण दोनों की स्तुति कवि को अभीष्ट होने के कारण दोनों ही प्रस्तुत हैं अतः प्रकृत-मात्र आश्रित है। 'पूतना-मारण' और 'काकोदर' पदों का भंग होकर दो अर्थ होते हैं अतः सभंग है।

---

१ देखिये, हमारी रसमंजरी चतुर्थ स्तबक।

२ श्री राम पक्ष में अर्थ—पूत-नामा = पवित्र नाम है, रण में सुदक्ष हैं काकोदर (इन्द्र के पुत्र जयन्त विपक्षी) की भी रक्षा करने वाले हैं। श्री कृष्ण-पक्ष में अर्थ—पूतना-मारण=पूतना राक्षसी को मारने में चतर, काकोदर=कालिय सर्प, जो विपक्षी था उसकी भी रक्षा करने वाले

'प्रभु' पद विशेष्य श्लिष्ट है। इसके श्री राम और श्रीकृष्ण दोनों अर्थ हो सकते हैं।

प्रकृति-मात्र आश्रित अश्लिष्ट विशेष्य सभङ्ग श्लेष।

"नांही नांही करैं थोरे मांगें बहु देन कहैं
मंगन को देखि पट[१] देत बार बार हैं,
जाको मुख देखें भली प्रापति की घटी[२] होत
सदा सुभजनमन[३] भाये निरधार हैं;
भोगी[४] ह्वै रहत विलसत अवनी के मध्य
कनकन[५] जोरे दान पाठ परवार हैं,
'सेनापति' बैननि की रचना विचारो जामें
दाता अरु सूम दोऊ कीने इकसार हैं॥"३४॥[६१]

यहाँ दाता और सूम दोनों का वर्णन कवि को अभीष्ट है, अतः दोनों प्रस्तुत होने से प्रकृत-मात्र आश्रित है। 'सुभजनमन' और 'कन-कन' आदि पदों का भंग होकर दो अर्थ होते हैं अतः 'सभंग' है। दाता और सूम दोनों विशेष्य पद पृथक् पृथक् शब्द द्वारा कहे गये हैं अतः विशेष्य श्लिष्ट नहीं है।

---

१ दातापक्ष में वस्त्र दान सूमपक्ष में घर का दरवाजा बन्द कर देना।

२ दाता-पक्ष में घटी—समय, सूम पक्ष में घटी—कमी।

३ दाता-पक्ष में सुन्दर भजन में मन रहना, सूम-पक्ष में शुभ जन्म नहीं।

४ दाता-पक्ष में भोगों को भोगने वाला, सूम-पक्ष में मर कर धन पर सर्प होने वाला।

५ दाता-पक्ष में सुवर्ण का न जोड़ना, सूम-पक्ष में अन्न के कन-कन (दाना-दाना) जोड़ कर रखना।

६

प्रकृतमात्र आश्रित श्लिष्ट-विशेष्य अभंग श्लेष—

करन कलित है चक्र नित पीताम्बर छवि चारु,
सेवक-जन-जड़ता हरन हरि ! श्रिय करहु अपारु[1] ॥ ३५॥

यहाँ श्री विष्णु और सूर्य दोनों की स्तुति अभीष्ट है, अतः दो प्रस्तुत होने से प्रकृतमात्र आश्रित है। 'करन' आदि अभंग पदों अर्थात् पूरे शब्दों के ही दो दो अर्थ हैं न कि 'पूतनामारण' आदि की तरह पदों का भंग होकर। अतः अभग है। 'हरि' पद विशेष्य श्लिष्ट है—इसके विष्णु और सूर्य दो अर्थ हैं।

प्रकृत-मात्र आश्रित अश्लिष्ट विशेष्य अभंग श्लेष—

करन कलित है चक्र नित पीताम्बर युत वेस,
सेवक-जन-जड़ता हरैं माधव और दिनेस ॥३६॥

इसमें माधव और हरि दोनों विशेष्य के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग है। अतः विशेष्य अश्लिष्ट है।

और भी—

वारुनि के संजोग सौं[2] अतुल राग[3] प्रकटाय,
बढ़त जात स्मर वेग अरु दिनमनि अस्त लखाय ॥३७॥

---

१ करन (हाथों) में सुदर्शन चक्र लिए हुए पीताम्बर से शोभित सेवकजनों का अज्ञान हरने वाले श्री हरि (विष्णु)—अथवा करन (किरणों) से और कालचक्र से युत पीताम्बर (पीले आकाश) से शोभित सेवक जनों की मूर्खता हरने वाले हरि (श्रीसूर्य) प्रचुर लक्ष्मी प्रदान करें।

२ कामदेव के पक्ष में मदिरा का पान और सूर्य के पक्ष में वारुणी (पश्चिम दिशा)।

कामदेव के पक्ष में अत्यन्त अनुराग और सूर्य के पक्ष में अरुण।

यहाँ कामदेव और सूर्य दोनों प्रस्तुतों का वर्णन है। विशेष्य-पद 'स्मर' और 'दिनमनि' दोनों पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा कहे गये हैं।

अप्रकृत मात्र आश्रित श्लिष्ट-विशेष्य सभंगश्लेष का उदाहरण—

सोहतु हरि-कर संग सौं अतुल राग दिखराय[1],
तो मुख आगे अलि तऊ कमलाभा छिपजाय ॥३८॥

यहाँ मुख के उपमान कहे जाने के कारण कमला (लक्ष्मी) और कमल दोनों अप्रस्तुत हैं। विशेष्य पद 'कमलाभा' श्लिष्ट है इसका 'कमलाभा' और 'कमल-आभा' इस प्रकार भंग होकर दो अर्थ होते हैं।

अप्रकृतमात्र आश्रित श्लिष्ट-विशेष्य-अभंग श्लेष—

लुब्ध खिलीमुख सो विकल बन में करत निवास,
तिन कमलन की हरत छवि तेरे नयन सहास[2] ॥३९॥

यहाँ विशेष्य 'कमल' शब्द श्लिष्ट है—इसके कमल और मृग दोनों अर्थ हैं। कमल और मृग दोनों नेत्रों के उपमान होने के कारण

---

१ श्री राधिकाजी के प्रति सखी की उक्ति है। आपकी मुख शोभा के आगे हरि (विष्णु) के हाथों के स्पर्श से अतुलराग (अनुराग) प्राप्त कमला (लक्ष्मी) की भा (कान्ति) छिप जाती है। अथवा हरि (सूर्य) के कर (किरण) के स्पर्श से अधिक राग (रक्त) होने वाली कमल की आभा (कांति) छिप जाती है।

२ इसके दो अर्थ हैं। कमल-पक्ष—सुगन्धि के लोभी, शिलीमुखों (भौरों) के डर से बन (जल) में रहने वाले कमलों की छवि तेरे नेत्र हर लेते हैं। मृग-पक्ष—लुब्ध-शिलीमुख अर्थात् मृगों को मारने वाले लुब्धकों के वाणों से डर कर वन में रहने वाले कमल अर्थात् मृगों के नेत्रों की छवि तेरे नेत्र हरते हैं। कमल नाम मृग का भी है 'मृगप्रभेदे कमलः' विश्वकोष।

अप्रस्तुत हैं। और पूर्वार्द्ध में विशेषण हैं वे भी श्लिष्ट हैं—कम और मृग दोनों के पक्ष में समान हैं। 'शिलीमुख' और 'वन' शब्द का भंग न होकर दो अर्थ होते हैं अतः अभंग है।

"कहा भयो जग में विदित भये उदित छवि लाल।
तो होठन की रुचिर रुचि पावत नहीं प्रवाल॥"४०॥

यहाँ विशेष्य 'प्रवाल' श्लिष्ट है—इसके मूँगा और वृक्ष के नवीन दल दो अर्थ हैं। ये दोनों अधर के उपमान हैं अतः दोनों ही अप्रकृत हैं। 'प्रवाल' शब्द का भंग न होकर दो अर्थ होते हैं अतः अभंग है।

अप्रकृत मात्र आश्रित अश्लिष्ट विशेष्य अभंग श्लेष—

हरि-कर सों रमनीय अति अतल राग जुत सोहि,
कमलरु कमला विगत छवि तो मुख आगे होहिं॥४१॥

यहाँ कमल और कमला (लक्ष्मी) दोनों विशेष्य पदों का पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा कथन हो जाने के कारण विशेष्य अश्लिष्ट है। यहाँ मुख (प्रस्तुत) का वर्णन है, अतः कमल और कमला दोनों अप्रकृत हैं और विशेषण 'राग' शब्द अभंग के ही दो अर्थ हैं अतः अभंग है।

रहैं सिलीमुख सौं बिकल सदा बसत बन ऐन।
तिन कमलन अरु मृगन की छवि छीनत तव नैन॥४२॥

इसमें अप्रकृत कमल और मृग विशेष्यों के लिये पृथक्-पृथक् शब्दों का प्रयोग होने के कारण अश्लिष्ट विशेष्य है।

प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित सभंग अश्लिष्ट विशेष्य श्लेष—

पृथुकार्तस्वरपात्र है, भूसित परिजन लोक।
कवि तुम बरन्यौ नृप भवन कै वरन्यो निज ओक॥४३॥

राजा के महल के वर्णन में 'पृथु कार्तस्वर पात्र' का अर्थ है बड़े-बड़े स्वर्ण के पात्रों से युक्त, और 'भूसित परिजन लोक' का अर्थ है

आभूषणों से शोभित परिजन लोगों से युक्त। और कवि के घर के वर्णन में 'पृथुकार्तस्वरपात्र' का अर्थ है—बालकों के आर्तनाद से युक्त और भूषित परिजन लोक का अर्थ है भूमि पर शयन करने वाले कुटुम्बीजनों से युक्त। यहाँ राजा के महल का और कवि के घर का वर्णन किया गया है। कवि के घर का वर्णन प्रकृत है और राजा के महल का वर्णन अप्रकृत।

प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित अभंग श्लेष—

लघु[1] पुनि मलिन[2] स-पक्ष[3] गुन च्युत[4] ह्वै नर और सर,
पर-भेदन[5] में दक्ष भयदायक किहिं के न हों ॥४८॥

यहाँ उपमेय होने के कारण 'नर' प्रकृत है। उपमान होने के कारण 'शर' अप्रकृत है। 'परभेदन में दक्ष' और 'गुनच्युत' आदि पदों का भंग न होकर दो अर्थ होते हैं, अतः अभंग है। 'नर' और 'शर' विशेष्यों के लिए भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग है, अतः अश्लिष्ट विशेष्य है।

श्लेष शब्दालङ्कार है या अर्थालङ्कार

इस विषय में आचार्यों का मतभेद है।

रुय्यक[6] का मत तो यह है कि सभंग-श्लेष शब्दालङ्कार है और अभंग-श्लेष अर्थालङ्कार है। क्योंकि सभंग श्लेष में जतुकाष्ठ न्याय[7]

---

१ नर के अर्थ में नीच, वाण के अर्थ में छोटे। २ मलिनहृदय, वाण पक्ष में काले। ३ जिसके पक्षपात करने वाले हों वाण पक्ष में पंख वाले। ४ गुणों से हीन, वाण पक्ष में धनुष की डोर से छूटकर। ५ दूसरों में फूट डालने में चतुर, वाण पक्ष में दूसरों के अंग छेदन करने में समर्थ। ६—देखिये अलंकारसर्वस्व श्लेष प्रकरण।

७ जतु का अर्थ है लाख (चपड़ा) वह लकड़ी से भिन्न होती हुई भी उस पर चिपकी रहती है इस न्याय के अनुसार।

के अनुसार दूसरा शब्द या पद भिन्न होने पर भी एक शब्द या पद में चिपका रहता है। जैसे—'पूतना मारण में सुदत्त..............' (सं० ३३) और 'पूतनामा रण में सुदत्त' ये भिन्न-भिन्न अर्थवाले दो पद 'पूतनामारण में सुदत्त' पद में चिपके हुए हैं। इसलिए सभंग श्लेष शब्दालङ्कार है। 'करन कलित..............' (सं० ३५) आदि अभंग श्लेष में 'एक वृन्त फल द्वय'[1] न्याय के अनुसार एक ही शब्द या पद में दो अर्थ लगे हुए रहते हैं। इसलिए अभंग श्लेष अर्थालङ्कार है।

आचार्य उद्भट[2] ने सभंग को शब्द-श्लेष और अभंग को अर्थ-श्लेष बताकर भी दोनों को अर्थालंकार ही माना है। उनका कहना है कि केवल शब्द की विचित्रता के कारण सभंग श्लेष को शब्द-श्लेष माना जाता है किन्तु उसे शब्दालंकार नहीं मानना चाहिये। क्योंकि वस्ततः श्लेष अर्थ के ही आश्रित है। जब तक श्लेष अलकार में एक से अधिक अर्थों की प्रतीत नहीं होगी श्लेष अलंकार कहा ही न जा सकेगा। अतः श्लेष को अर्थालंकार ही मानना युक्तियुक्त है।

मम्मट

आचार्य मम्मट ने अभंग और सभंग दोनों प्रकार के श्लेषों को शब्दालंकार माना है। उनका कहना है कि गुण, दोष और अलंकारों का शब्द और अर्थ गत विभाग अन्वय और व्यतिरेक[3] पर निर्भर है। अभंग श्लेष जहाँ अर्थाश्रित होगा वहीं अर्थालंकार माना जायगा शब्दाश्रित होने पर नहीं। क्योंकि जहाँ शब्दाश्रित अभंग श्लेष होगा वहाँ तो शब्दालंकार ही माना जायगा।

---

१ एक गुच्छे में दो फल लगे हुए हों उस प्रकार।

२ देखिये काव्यालंकारसारसंग्रह प्रथम वर्ग।

३ इसका स्पष्टीकरण पेज ५९ में किया गया है।

—करन ललित..................' (सं० ३५) में 'कर' और 'पीताम्बर' आदि शब्दों के स्थान पर 'हाथ' और 'पीला वस्त्र' आदि पर्याय शब्द कर देने पर दो अर्थ नहीं हो सकते, अतः यह अभंग-श्लेष शब्द श्लेष हैं। अभंग श्लेष अर्थालंकार ही हो सकता है जहाँ शब्द परिवर्तन करने पर भी दो अर्थ बने रहते हैं। जैसे—

लिये सुचाल विसाल वर स-मद सुरंग अचैन,
लोग कहैं बरने तुरग मैं बरने तुव नैन॥ ४५ ॥ [६]

इसमें कामिनी के नेत्र और घोड़े का वर्णन हैं। 'सुचाल' 'अचैन' के स्थान पर इसी अर्थ वाले दूसरे शब्द परिवर्तन कर देने पर भी दोनों अर्थ हो सकते हैं।

आचार्य मम्मट ने उद्भटाचार्य के मत की आलोचना में कहा है कि सभंग को शब्द-श्लेश और अभंग को अर्थ-श्लेष स्वीकार करके भी फिर दोनों को अर्थालंकार कहना तो कहाँ का न्याय है? क्योंकि विचित्रता ही तो—

अलङ्कार है विचित्रता जहाँ अर्थ में हो वहाँ अर्थाङ्कर और जहाँ शब्द में हो वहाँ शब्दालङ्कार माना जाना चाहिये। केवल अनेक अर्थ होने के कारण अर्थ का सहयोग मानकर श्लेष को अर्थालङ्कर नहीं कहा जा सकता। अर्थ के सहयोग की अपेक्षा तो अनुप्रास, वक्रोक्ति और यमक आदि में भी रहती है, फिर वे अर्थाङ्कार न माने जाकर शब्दालङ्कार क्यों माने जाते हैं? यहीं क्यों शब्द के गुण और दोषों में भी अर्थ का सहयोग अपेक्षित है, क्योंकि अर्थ के सहयोग द्वारा ही गुण लौर दोषों का निर्णय हो सकता है और अर्थ के गुण दोषों में भी शब्द के सहयोग की अपेक्षा रहती है, क्योंकि शब्द के द्वारा ही उनका प्रतिपादन किया जाता है। फिर भी गुण और दोषों का शब्द और अर्थगत विभाग है। निष्कर्ष यह है कि शब्द और अर्थ अन्योन्याश्रित

हैं—एक के सहयोग के बिना दूसरे में गुण, दोष और अलङ्कार का प्रतिपादन नहीं हो सकता। अतएव जहाँ जिसकी प्रधानता हो वह वही मानना चाहिये[१]। अर्थात् जिस अलङ्कार की विचित्रता शब्द के आश्रित हो उसे शब्दालङ्कार और जिसकी अर्थ के आश्रित हो उसे अर्थालङ्कार मानना उचित है। अतः जहाँ शब्द बदल देने पर श्लेष न रहे ऐसा अभंग शब्द अपरिवर्तनशील श्लेष और सभंग दोनों श्लेषों में शब्द के आश्रित चमत्कार होने के कारण इन्हें शब्दालङ्कार ही माना जाना उचित है।

श्लेष का अन्य अलङ्कारों से पृथक्करण।

श्लेष का विषय बहुत व्यापक है क्योंकि श्लेष की स्थिति बहुत से अलंकारों में रहती है, श्लेष प्रायः सभी अलंकारों का शोभाकारक है[२]। अतएव श्लेष का विषय बड़ा महत्वपूर्ण और विवाद-ग्रस्त है। संस्कृत ग्रन्थों में इस पर बहुत कुछ विवेचन किया गया है। पर हिन्दी के किसी भी रीति-ग्रन्थ में इस विषय पर मार्मिक विवेचन दृष्टिगत नहीं होता।

कुछ[१]आचार्यों का मत है कि जहाँ श्लेष होता है, वहाँ कोई दूसरा अलङ्कार अवश्य रहता है—अन्यअलङ्कार से विविक्त (स्वतन्त्र) शुद्ध श्लेष का उदाहरण नहीं हो सकता। उनका कहना है कि जैसे—

'पूतनामारण में सुदत्त..........' (सं० ३३) आदि प्रकृत मात्र अथवा "सोहत हरि कर संग सों....." आदि (सं० ३६)

---

१ "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति"।

२ "श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो बक्रोक्तिषु श्रियम्॥" काव्यादर्श २।३६३

—यहाँ 'बक्रोक्ति का प्रयोग उक्ति-वैचित्र्य अर्थात् सभी अलंकारों के लिये है, न कि केवल वक्रोक्ति नाम के अलङ्कार के लिये।

१ 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' के प्रणेता आचार्य उद्भट आदि।

अप्रकृत मात्र वर्णन के श्लेष के उदाहरणों में प्रकृतों का अथवा अप्रकृतों का 'पूतनामारण में सुदक्ष' आदि एक धर्म का कथन होने के कारण श्लेष के साथ तुल्ययोगिता अलङ्कार रहता है।[1]

'लघु पुनि मलिन सपक्ष........' (सं० ४४) आदि प्रकृत अप्रकृत दोनों के वर्णन वाले श्लेष के उदाहरणों में प्रकृत अप्रकृत दोनों का 'गुन च्युत' आदि एक धर्म कथन होने के कारण श्लेष के साथ दीपक अलङ्कार[2] भी है।

'पृथुकार्तस्वर पात्र ....' (सं० ४२) ऐसे उदाहरणों में श्लेष के साथ संदेह अलङ्कार रहता है[3]। और—

मुदित करन जन-मन विमल राजतु है असमान,
रम्य सकलकल पुर लसतु यह ससिबिंब समान[4] ॥४६॥

ऐसे उदाहरण में श्लेष के साथ उपमा अलंकार रहता है।

अतः इस मत के प्रतिपादकों का कहना कि उक्त उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है कि स्वतंत्र श्लेष का उदाहरण नहीं हो सकता। और सर्वत्र यदि अन्यान्य अलंकार ही मान लिये जाये जायँगे तो श्लेष नाम का कोई अलंकार ही न रहेगा, अतएव जहाँ श्लेष के साथ तुल्ययोगिता आदि कोई अन्य अलंकार हो वहाँ उसका (अन्य अलंकार का) आभास झलक) मात्र समझ कर—'निरवकशो विधिरपवादः'—न्याय[5] के

---

१ देखिये नवम स्तवक में तुल्ययोगिता का लक्षण।

२ देखिये नवम स्तवक में दीपक का लक्षण।

३ देखिये नवम स्तवक में सन्देह अलंकार का लक्षण।

४ यह नगर चन्द्रमा के समान शोभित है—चन्द्रमा असमान (आकाश) में स्थित है, नगर भी असमान (अपनी समता दूसरे में नहीं रखता) है। चन्द्रमा सकल-कल (सम्पूर्ण कला युक्त) रमणीय है, यह नगर भी स-कलकल (शब्द युक्त) है।

५ इस न्याय का तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु की रहने के लिये

अनुसार उस अन्य अलंकार का (जिसकी स्थिति श्लेष के बिना भी हो सकती है) बाधक अर्थात् अन्य अलंकारों को हटानेवाला मानकर श्लेष को प्रधान समझना चाहिये। इस रीति से श्लेष स्वतन्त्र अलंकार माना जा सकता है।

आचार्य मम्मट इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि यह बात नहीं है कि दूसरे अलंकार के बिना विविक्त (स्वतन्त्र) श्लेष नहीं हो सकता[1]। पूर्वोक्त "पूतनामारण में सुदक्ष ......" जिसमें तुल्ययोगिता अलंकार श्लेष के साथ बताया जाता है—शुद्ध श्लेष का उदाहरण है, नकि तुल्ययोगिता का। क्योंकि तुल्ययोगिता में जिन प्रकृतों या अप्रकृतों का वर्णन किया जाता है, उन सबका एक ही धर्म कहा जाता है, जैसे—

"सर्व ढके सोहत नहीं उघरे होत कुवेस,
अर्ध ढ़के छबि पातु है कवि-अच्छर कुच केस" ॥४७॥

ऐसे उदाहरणों में कवि-अच्छर (कविता), कुच और केश इन तीनों प्रकृतों का "अर्ध ढके छबि पातु है" यह एक ही धर्म कहा गया है किन्तु इसके विपरीत श्लेष अलंकार में जिन प्रकृतों या अप्रकृतों का अथवा प्रकृत अप्रकृत दोनों का वर्णन किया जाता है उन सबके श्लिष्ट (दो अर्थ वाले) शब्द द्वारा पृथक्-पृथक् धर्म कहे जाते हैं। जैसे पूर्वोक्त- "है पूतनामारण में सुदक्ष" में श्री राम और श्रीकृष्ण इन दोनों प्रकृतों के पृथक् पृथक् धर्म कहे गये हैं-श्रीरामविषयक अर्थ में पूतनामा (पवित्र नाम) और रण में सुदक्ष आदि धर्म कहे गये हैं और श्रीकृष्णविषयक अर्थ में पूतना राक्षसी को मारने में चतुर आदि धर्म कहे गये हैं अतः

किसी विशेष स्थान के अतिरिक्त अन्य स्थान नहीं होता वह वस्तु उस दूसरी वस्तु को— जिसके लिये कि अन्यत्र भी स्थान हो—उस स्थान से हटाकर वहाँ स्वयं प्रधानता प्राप्त कर लेती है।

[1] देखिए काव्यप्रकाश नवमोल्लास श्लेष-प्रकरण।

'पूतनामारण में सुदच्छ......' में केवल शुद्ध श्लेष है तुल्ययोगिता का मिश्रण नहीं है। और 'लघु पुनि मलिन सपच्छ (सं. ४४)' में भी शुद्ध श्लेष ही है—दीपक अलंकार मिला हुआ नहीं है। दीपक में भी प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक धर्म कहा जाता है किन्तु यहाँ 'लघु', 'मलिन' और गुनच्युत आदि शब्दों द्वारा नर और शर के पृथक्-पृथक् धर्म कहे गये हैं।

आचार्य मम्मट के मत का यह तात्पर्य नहीं है कि श्लेष के साथ अन्य अलंकार मिश्रित होते ही नहीं हैं। उनका कहना तो यह है कि 'श्लेष, शुद्ध भी होता है और अन्य अलंकार से मिश्रित भी। किन्तु जहाँ श्लेष के साथ कोई अन्य अलंकार सम्मिलित होता है वहाँ न तो सर्वत्र श्लेष ही माना जा सकता है और न सर्वत्र अन्य अलंकार ही किन्तु वहाँ दोनों में जो प्रधान होता है, उसे ही मानना चाहिये। जैसे—

'पृथुकार्तस्वरपात्र..................' (सं० ४३) में श्लेष के साथ सन्देह अलंकार का मिश्रण है, पर सन्देह गौण है—सन्देह का आभास मात्र है अर्थात् वह श्लेष का अंग है—श्लेष का सहायक होकर उस (श्लेष) की पुष्टि करता है। प्रधान चमत्कार श्लेष ही में है—कवि को श्लेषार्थ में (दो अर्थों में) ही चमत्कार दिखाना अभीष्ट है। किन्तु 'मुदित करन जन-मन विमल...........' (सं० ४७) में उपमा के साथ श्लेष मिश्रित होने पर भी उपमा प्रधान है। अतः यह उपमा का उदाहरण है, न कि श्लेष का। यदि यहाँ श्लेष को उपमा का बाधक मानकर श्लेष ही माना जायगा तो पूर्णोपमा का कोई उदाहरण ही न मिलेगा। पूर्णोपमा में इस प्रकार के श्लेष का होना अनिवार्य्य है। यदि यह कहा जाय कि—'पुर ससिबिंब समान'। श्लेष रहित पूर्णोपमा का उदाहरण हो सकता है—इसका उत्तर यह है कि इसमें समान धर्म का कथन नहीं है। अतः यह धर्म लुप्ता लुप्तोपमा का उदाहरण है न कि पूर्णोपमा का। और न 'है मनोज्ञ मुख कमल सम' यही श्लेष-रहित

पूर्णोपमा का उदाहरण हो सकता है। क्योंकि 'मनोज्ञ' शब्द, जो मुख और कमल दोनों में समान-धर्म का बोध कराने वाला है, श्लिष्ट है। अतः इसमें अर्थ-श्लेष है।

निष्कर्ष यह है कि उद्भटाचार्य आदि तो 'मुदित करन जन-मन विमल ········' में 'सकलकल' (जो सामन धर्म है) पद में शब्द-श्लेष होने के कारण श्लेष को उपमा का बाधक मानकर श्लेष अलंकार मानते हैं। पर आचार्य मम्मट कहते हैं कि इसे यदि श्लेष मानते हो तो फिर 'है मनोज्ञ मुख कमल सम' में (जिसको श्लेष रहित पूर्णोपमा का उदाहरण मानते हो) 'मनोज्ञ' शब्द को—जिसमें अर्थ-श्लेष है, उपमा का बाधक क्यों नहीं मानते? यदि शब्द-श्लेष को उपमा का बाधक मानते हो तो अर्थ-श्लेष को उपमा का बाधक क्यों नहीं मानते? अतएव जिस प्रकार 'है मनोज्ञ मुख कमल सम' में अर्थ-श्लेष को उपमा का बाधक नहीं मानते हो उसी प्रकार 'सकलकल' में शब्द-श्लेष भी उपमा का बाधक नहीं माना जा सकता। प्रत्युत पूर्णोपमा का श्लेष के बिना स्वतन्त्र स्थान न होने के कारण—पूर्वोक्त 'निरवकाशो विधिरप-वादः' इस न्याय के अनुसार उपमा, श्लेष की बाधक है, अतः यहाँ उपमा ही माननी होगी, न कि श्लेष।

आचार्य मम्मट यह भी कहते हैं कि यह आपत्ति भी नहीं हो सकती कि उपमा तो गुण या क्रिया के सादृश्य में ही हो सकती है, न कि शब्द-मात्र के सादृश्य में। 'सकलकल' में गुण-क्रियात्मक सादृश्य नहीं है, केवल शब्द-मात्र का सादृश्य है[1]। अतः यहाँ उपमा किस प्रकार सम्भव है? इसका उत्तर यह है कि वास्तव में यह बात नहीं है, केवल शब्द के सादृश्य में भी उपमा होती है। आचार्य रुद्रट ने[2] गुण

---

१ चन्द्रमा के पक्ष में 'सकलकल' का अर्थ संपूर्ण कला युक्त है और नगर के पक्ष में स-कलकल का शब्दायमान अर्थ है।

२ "स्फुटमर्थालंकारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु,

और क्रिया की भाँति शब्द-साम्य को भी उपमा के सादृश्य का प्रयोजक बतलाया है। अतः 'मुदित करन जन-मन विमल..........' में उपमा ही है न कि श्लेष।

केवल उपमा ही नहीं, श्लेष-मिश्रित अन्य अलंकारों में भी अनेक स्थलों पर श्लेष गौण होकर अन्य अलंकार की पुष्टि करता है। जैसे—

सखि, यह अचरज ह्वै हमें लखि तुव दृगन-विलास,
कृष्ण-रंग-रत तउ करत करन-निकट नित बास[१] ॥ ४८ ॥

इसमें 'कृष्ण' और 'करन (कर्ण)' शब्द श्लिष्ट हैं अतः विरोधाभास के साथ श्लेष है किन्तु श्लेष की प्रधानता नहीं, आभास मात्र है अर्थात् श्लेष, विरोधाभास का अंग है क्योंकि श्लेष के बिना यहाँ विरोध का आभास नहीं हो सकता। अतः श्लेष का बाधक होकर विरोधाभास ही प्रधान है। प्रश्न हो सकता है कि जिस प्रकार विरोध के आभास में विरोधाभास अलंकार माना जाता है, उसी प्रकार श्लेष के आभास में यहाँ श्लेष क्यों नहीं मान लिया जाय? इसका उत्तर यह है कि वास्तविक विरोधात्मक वर्णन में तो दोष माना गया है इसलिये विरोध के आभास में ही अलंकार माना जाता है। किन्तु वास्तविक श्लेष में कोई दोष नहीं। और न श्लेष के आभासमें चमत्कार ही है। जहाँ श्लेष की प्रधानता होती है वहीं श्लेष अलंकार माना जा सकता है। इस वर्णन में विरोध के आभास में ही चमत्कार होने के कारण विरोधाभास की

"आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः।"

रुद्रट काव्यालंकार ४।३२

१ हे सखि, तेरे कटाक्षों का विलास आश्चर्य-कारक है कृष्ण रंग में रँगे हुए (कज्जल लगे हुये) होकर भी (श्लेष) थे पाण्डवपक्षीय श्रीकृष्ण में अनुरक्त रहकर भी) कर्ण के समीप—दीर्घ होने के कारण कानों तक (श्लेषार्थ—कौरवपक्षीय कर्ण के समीप) रहते हैं।

प्रधानता है अतः पूर्वोक्त 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' न्याय के अनुसार यहाँ विरोधाभास ही माना जाना युक्तसंगत है, न कि श्लेष। और—

अरि-कमला संकोच रवि गुनि-मानस सु मराल[1]।

इसमें रूपक के साथ श्लेष है। 'मानस' शब्द श्लिष्ट है—इसके चित्त और मानसरोवर दो अर्थ हैं—यहाँ राजा को विद्वानों के चित्तरूपी मानसरोवर में निवास करने वाला हंस कहना अभीष्ट है। अतः रूपक प्रधान है। किन्तु मानस (चित्त) में मानसरोवर के श्लेषार्थ के बिना रूपक नहीं बन सकता अतः यहाँ रूपक का श्लेष अंग है। और—

नहिं भंगुर गुन कंज सम तुम गाढ़े गुनवार।

यहाँ व्यतिरेक के साथ श्लेष है। 'गुण'[२] शब्द श्लिष्ट है। कमल की अपेक्षा राजा को उत्कृष्ट कहना अभीष्ट है अतः व्यतिरेक प्रधान होने के कारण श्लेष उसका पोषक होकर अंगभूत है। एवं—

अनुरक्ता संध्या तथा दिनहू सनमुख आत।
तउ न समागम ह्वै अहो बिधि गति कही न जात[3] ॥ ४६ ॥

यहाँ सायंकाल के वर्णन में 'अनुरक्ता' आदि श्लिष्ट शब्दों के विशेषणों द्वारा परस्पर में अनुरक्त नायक-नयिका के व्यवहार की प्रतीति भी कवि ने कराई है। अतः समासोक्ति के साथ श्लेष है। प्रकरण के

---

१ देखो आगे रूपक अलंकार का प्रकरण।

२ राजा के विषय में गुण का अर्थ धैर्य आदि गुण और कमल के विषय में कमल की दंडी में जो तन्तु होते हैं वे।

सायंकाल का वर्णन—संध्या अनुरक्ता (रक्तवर्ण) है और दिन उसके पुरोगामी है—सम्मुख है। फिर भी उनका संयोग नहीं होता है दैवगति विचित्र है। दूसरा अर्थ—नायिका अनुरक्ता (नायक में अनुरक्त) है और नायक भी उसके पुरोगामी (संमुख) है फिर भी उनका मिलना नहीं होता।

अनुसार सायंकाल के वर्णन की प्रधानता होने के कारण श्लेष समासोक्ति का सहायक मात्र है।

आचार्य मम्मट के श्लेषविषयक इसी मत को उनके परवर्ती हेमचन्द्र[1] और विश्वनाथ[2] आदि ने भी स्वीकार किया है।

निष्कर्ष यह है कि जहाँ एक से अधिक अलंकारों की स्थिति होती है वहाँ किस अलंकार को मानना चाहिए, इस निर्णय के लिये यही देखना आवश्यक है कि उनमें कौनसा अलंकार प्रधान है। और जहाँ जिस अलंकार की प्रधानता होती है वही माना जाता है।

श्लेष और ध्वनि का पृथक्करण—

अलंकारों के अतिरिक्त शिलष्ट शब्दों का ध्वनिकाव्य के साथ भी बहुत कुछ सम्बन्ध है। श्लेष अलंकारों में शिलष्ट शब्दों द्वारा एक से अधिक जितने अर्थ होते हैं, वे सब अभिधा शक्ति द्वारा वाच्यार्थ होते हैं। श्लेष की ध्वनि में अतिव्याप्ति न होने के लिए ही श्लेष अलंकार के लक्षण में 'अभिधान' पद का प्रयोग किया गया है अर्थात् श्लेष में जो दो या दो से अधिक अर्थ होते हैं वे शब्द द्वारा स्पष्ट कहे जाते हैं। पूर्वोक्त उदाहरणों द्वारा स्पष्ट है कि श्लेष अलङ्कार में एक से अधिक सभी अर्थ अभिधा शक्ति के अभिधेय—वाच्यार्थ होने के कारण उनका एक ही साथ ज्ञान हो जाता है। ध्वनि में एक के सिवा दूसरे अर्थ का एक साथ बोध नहीं होता—अभिधा द्वारा एक वाच्यार्थ का बोध हो जाने पर प्रकरण आदि के कारण अभिधा की शक्ति रुक जाती है—वह दूसरे अर्थ का बोध नहीं करा सकती। उसके बाद दूसरा अर्थ (व्यंग्यार्थ) ध्वनित होता है। जैसे—

---

१ काव्यानुशासन पेज २३१-२३२।

२ साहित्यदर्पण श्लेष-प्रकरण।

मधुर गिरा सतपच्छ जुत मद उद्धत अब आय,
धार्तराष्ट्र हैं गिरि रहे काल-विवस भुवि माँय[1] ॥५०॥

यह शरद का वर्णन है। अतः शरद वर्णन के प्रकरण में धार्तराष्ट्र आदि पदों का हंस आदि अर्थ बोध कराके अभिधा शक्ति रुक जाती है। फिर धार्तराष्ट्र आदि श्लिष्ट पदों का जो दुर्योधन आदि अर्थ प्रतीत होता है वह व्यग्यार्थ से ध्वनित होता है।

अप्पय्य दीक्षित ने जहाँ विशेष्य-वाचक पद श्लिष्ट होता है (जैसे उक्त 'धार्तराष्ट्र' पद श्लिष्ट है) वहाँ प्रकृत अप्रकृत उभयाश्रित गूढ़ श्लेष अलंकार माना है, न कि ध्वनि[2]। जैसे—

उदयारूढ़ सुकान्तिमय मंडल रक्त सुहाय,
राजा यह मृदु-करन सों लोगन हिय हरषाय[3] ॥५१॥

---

१ प्रकरण-गत वाच्यार्थ—मधुर गिरा (मीठी ध्वनि करने वाले), सत्पक्ष (सुन्दर पंखों वाले) मदोन्मत्त धार्तराष्ट्र अर्थात् हंस, काल के विवश (शरद्ऋतु के समय) अब मानसर से पृथ्वी पर आ रहे हैं। व्यंग्यार्थ यह है—मधुर गिरा (मधुर भाषी), सत्पक्ष (भीष्म, द्रोण आदि से सहायता पाने वाले), मदोन्मत्त होकर धार्तराष्ट्र अर्थात् धृत-राष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कौरव अब काल विवश (मृत्यु के वश होकर) भूमिशायी हो रहे हैं।

२ ध्वनि की स्पष्टता के लिए इस ग्रन्थ का प्रथम भाग रसमंजरी का चतुर्थ स्तवक देखिये।

३ प्रकरण गत अर्थ—उदय होते हुए चन्द्रमा का वर्णन है—उदयाचल पर आरूढ़ रक्त मण्डल वाला प्रकाशमान चन्द्रमा मृदु करों (कोमल या अल्प प्रकाश वाली किरणों) से लोगों के हृदय हर्षित कर रहा है। दूसरा अर्थ—राजा का वर्णन है—यह नवीन अभिषिक्त तेज-स्वी राजा अभिवृद्धि पाकर मृदुकरों से (राज-कर अल्प लगाकर), रक्त-मण्डल—देश को अपने में अनुरक्त (प्रेमी) करके अपनी प्रजा को हर्षित कर रहा है।

इसमें विशेष्य-वाचक 'राजा' पद श्लिष्ट है—इसके चन्द्रमा और नृप दो अर्थ हैं। अप्पय्य दीक्षित का कहना है "इस प्रकार के उदाहरणों में काव्यप्रकाश आदि में शब्द-शक्ति मूला ध्वनि मानी गई है, वह चन्द्रमा और राजा के उपमेय उपमान भाव में जो उपमा प्रतीत होती है, उसी में संभव है—अप्राकृत नृप के वर्णन में नहीं। यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब अप्राकृत नृप के अर्थ का शीघ्र बोध नहीं होता है तो यहाँ ध्वनि क्यों नहीं मानी जाय? यह ठीक है कि अप्राकरणिक नृप के अर्थ का प्राकरणिक चन्द्रमा के अर्थ के समान उतना शीघ्र बोध नहीं होता है किन्तु विलम्ब से अर्थ का बोध होने मात्र से ही ध्वनि नहीं मानी जा सकती। यदि अप्राकृतिक नृप का अर्थ विलम्ब से प्रतीत होता है तो यहाँ गूढ़-श्लेष कहा जा सकता है[1]।" हमारे विचार में दीक्षितजी का यह मत ठीक नहीं, ऐसे उदाहरणों में श्लेष न मानकर ध्वनि मानना ही युक्ति-संगत है। इस विषय में पण्डितराज[2] ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है यद्यपि आचार्य दण्डी ने भी जिस संस्कृत पद्य का यह अनुवाद है उसको श्लेष अलंकार के उदाहरण में लिखा है। किन्तु दण्डी के समय में 'ध्वनि' सिद्धान्त का प्रतिपादन ही नहीं हुआ था[3]।

---

(५) पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार

भिन्न भिन्न आकार वाले शब्दों का वस्तुतः एक अर्थ न होने पर भी एक अर्थ सा प्रतीत होने को 'पुनरुक्तवदाभास' कहते हैं।

---

१ देखिये कुवलयानंद श्लेष-प्रकरण।

२ देखिये रसगंगाधर पृ० ३९७-९८।

३ देखिये हमारा संस्कृत-साहित्य का इतिहास दूसरा भाग।

पुनरुक्तवदाभास का अर्थ पुनरुक्ति का आभास (झलक) मात्र होना है अर्थात् जहाँ पुनरुक्ति जैसी प्रतीत होती हो—वस्तुतः पुनरुक्ति न हो। 'यमक' अलकार में एक आकार वाले भिन्नार्थक शब्दों का और इसमें भिन्न-भिन्न आकार वाले भिन्नार्थक शब्दों का प्रयोग होता है। इसमें और यमक में यह भेद है।

इसके दो भेद हैं—

(१) शब्दगत। पुनरुक्ति के आभास का शब्द के आश्रित होना—शब्द परिवर्तन कर देने पर पुनरुक्ति के आभास का न रहना। यह सभंग और अभंग दो प्रकार का होता है।

(२) शब्दार्थ उभयगत। पुनरुक्ति के आभास का शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित होना।

शब्द-गत सभंग पुनरुक्तवदाभास—

सहसारथि सूत सु लसत तुरग आदि पद सैन,
अरिवधदेह सरीर हो नृप, तुम धीरज ऐन[1] ॥ ५२ ॥

यहाँ 'सारथि' और 'सूत' आदि शब्दों का रूप तो भिन्न-भिन्न हैं किन्तु इनका अर्थ एक ही प्रतीत होता है—पुनरुक्ति सी मालूम होती है। पर 'सहसारथिसूत' का सहसा, रथी, सूत इस प्रकार भंग करने पर भिन्न-भिन्न अर्थ हो जाते हैं। सारथि और सूत के स्थान पर इसी अर्थ वाले अन्य शब्द कर देने पर पुनरुक्तिका आभास नहीं रहता अतः शब्दाश्रित है।

---

१ राजा के प्रति कवि का वाक्य है—हे राजन्, सहसा (बलपूर्वक) रथी (योद्धागण), सूत (सारथी) तथा तुरग (घोड़ा) आदि सैन्य से तुम शोभित हो और अरि (शत्रुओं) को वध-देह (वधदा-ईहा) अर्थात् मारने की चेष्टा वाला तुम्हारा शरीर है, धैर्य के स्थान हो।

शब्द-गत अभंग पुनरुक्तवदाभास—

क्यों न होय छितिपाल वह नीतिपाल जग एक,
जाके निकट जु रहत नित सुमनस बिबुध अनेक ॥ ५३ ॥

यहाँ 'सुमनस' और बिबुध' पदों का रूप जुदा-जुदा हैं, पर इनका एक ही अर्थ प्रतीत होता है —सुमनस, और बिबुध शब्दों का अर्थ देवता है। किन्तु यहाँ सुमनस का अर्थ सुन्दर मन वाले और बिबुध का अर्थ विद्वान् है। और इन पदों का भंग न होकर ही भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं, इसलिये शब्दगत अभंग पुनरुक्तवदाभास है। यहाँ 'सुमनस' और 'बिबुध' के स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्द बदल देने पर पुनरुक्ति का आभास नहीं हो सकता इसलिये शब्द-गत है।

शब्दार्थ उभय-गत पुनरुक्तवदाभास—

वन्दनीय किहिंके नहीं वे कविंद मति मान,
सुरग गयेहू काव्य रस जिनको जगत जहान ॥५४॥

यहाँ 'जगत' और 'जहान' पदों का अर्थ एक सा प्रतीत होता है किन्तु 'जगत' का अर्थ प्रकाशित है और 'जहान' का अर्थ है 'सारे संसार में, जगत शब्द के स्थान पर 'उदित', प्रकाश' इत्यादि शब्द बदल देने पर पुनरुक्ति प्रतीत नहीं होती इसलिये शब्द-गत है और 'जहान' के स्थान पर 'लोक' आदि शब्द बदल लेने पर भी पुनरुक्ति का आभास होता है, इसलिये अर्थ-गत है अतएव शब्दार्थ उभय-गत पुनरुक्तवदाभास है।

(६) चित्र अलङ्कार

वर्णों की रचना विशेष प्रकार से करने पर जो छंद कमल आदि आकार में पढ़े जा सकें वहाँ 'चित्र' अलङ्कार होता है।

चित्र का अर्थ है प्रतिकृति (तस्वीर) चित्र अलङ्कार में पुष्प, पक्षी और पशु आदि की आकृति के अनुसार वर्णों की रचना की जाती है। इसके कमल, छत्र,पद्म, धनु अश्व, हस्ती और सर्वतोभद्र आदि अनेक आकार होते हैं। 'चित्र' अलङ्कार में कुछ विशेष चमत्कार नहीं होता है न यह रस का उपकारी ही है। केवल रचना करने वाले कवि की एक प्रकार की निपुणता-मात्र है। यह कष्ट-काव्य माना गया है। पण्डितराज का कहना है कि इसे काव्य में स्थान देनाही अनुचित है। इसके अधिक भेद न दिखा कर एक ही उदाहरण देते हैं—

कमल-आकार-बन्ध चित्र—

प्रत्येक दूसरा वर्ण एक ही प्रयुक्त होने से कमल के आकार का चित्र होता है।

नैन-बान हन बैन भन ध्यान लीन मन कीन,
चैन है न दिन रैन तन छिनछिन उन बिन छीन ॥५॥

इस दोहे में प्रत्येक दूसरा वर्ण 'न' है। यह दोहा दर्पण, चक्र, मुष्टिका, हार, हलकुण्डी, चामर, चौकी, कपाटबन्ध आदि बहुत से चित्र-बन्धों का उदाहरण है। विस्तार-भय से अधिक-चित्र न दिखाकर कमल-बन्ध चित्र यहाँ दिखाते हैं।
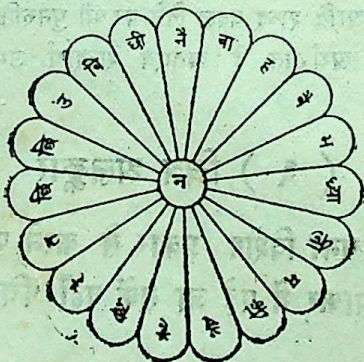
नवम स्तवक

—:०:—

अर्थालङ्कार

'अलङ्करणमर्थानामर्थालङ्कार इष्यते
तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम् ॥'[1]
अग्निपुराण ३४४।१

अर्थालङ्कारों में सादृश्य-मूलक अलङ्कार प्रधान है। सादृश्य-मूलक सभी अलङ्कारों का प्राणभूत उपमा अलङ्कार है। अतः उपमा, अलङ्कारों का शिरोरत्न है[2] क्योंकि सादृश्य-मूलक अनेक अलङ्कारों का उपमा अलङ्कार उत्थापक है[3]। जिस प्रकार नाट्य के रङ्गमञ्च पर नटी अनेक भूमिका

---

१ अर्थों को अलंकृत (शोभित) करने वाले अर्थालङ्कार कहे जाते हैं। अर्थालङ्कार के बिना शब्द-सौन्दर्य मनोहर नहीं हो सकता।

२ 'अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥'
—अलङ्कारशेखरमें राजशेखर के नाम से उद्धृत।

३ उपमेयोपमा, अनन्वय, प्रतीप, रूपक, स्मरण, भ्रान्तिमान्, सन्देह, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, व्यतिरेक, सहोक्ति, और समासोक्ति आदि सादृश्य-मूलक सभी अलङ्कार 'उपमा' अलङ्कार पर निर्भर हैं। इन अलङ्कारों में सादृश्य कहीं तो उक्ति-भेद से वाच्य होता है और कहीं व्यङ्ग्य। और सादृश्य ही उपमा है इसलिये 'उपमा' अलङ्कार अनेक अलङ्कारों का उत्थापक है।

भेद से नृत्य करती हुई प्रेक्षकों का मनोरंजन करती है, उसी प्रकार उपमा रूपी नटी अनेक उक्ति-वैचित्र्य से नृत्य करती हुई काव्य-मर्मज्ञों को मनोमुग्ध करती है[1]। अतः सर्वप्रथम उपमा का निरूपण किया जाता है—

(१) उपमा

दो पदार्थों के साधर्म्य को उपमान उपमेय भाव से कथन करने को 'उपमा' कहते हैं।

अर्थात् उपमेय और उपमान में सादृश्य की योजना करने वाले समान-धर्म का सम्बन्ध उपमा है[२]।

'उपमा' का अर्थ[3] है समीपता से किया गया मान—एक वस्तु के समीप में दूसरी वस्तु के स्वरूप का तुलनात्मक ज्ञान कराना। उपमा अलंकार में उपमेय में उपमान के समानधर्म का ज्ञान कराया जाता है। जैसे—'चन्द्रमा के समान मुख कान्तिमान् है'। इसमें मुख में चन्द्रमा के समान कान्ति का ज्ञान कराया गया है।

उपमा अलंकार के लिये प्रथम उपमा के चारों अंग उपमेय, उपमान, समान-धर्म और उपमावाचक-शब्द का समझ लेना आवश्यक है। जैसे—

'हरि-पद कोमल कमल से।'

---

१ 'उपमैषा शैलूषी संप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रञ्जयति काव्यरंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः॥'-चित्रमीमाँसा।

२ 'सादृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धो ह्युपमा'—काव्यप्रकाशकी वामनाचार्यकृत बालबोधिनी टीका।

३ 'उपसामीप्यात् मानम् इत्युपमा'—काव्यप्रकाशकी बाल-बोधिनी टीका।

इसमें 'हरि-पद' उपमेय है। 'कमल' उपमान है। 'कोमल' समान धर्म है। और 'से' उपमा-वाचक-शब्द है।

उपमेय—जो उपमा देने के योग्य हो अर्थात् जिसको उपमा दी जाती है—जिसको किसी के समान कहा जाता है। जैसे यहाँ 'हरि-पद' उपमेय है। हरि-पद को कमल के समान कहा गया है। उपमेय को वर्ण्य, वर्णनीय, प्रस्तुत, प्रकृत और विषय आदि भी कहते हैं।

उपमान—जिसकी उपमा दी जाती है अर्थात् उपमेय को जिसकी समता दी जाती है। जैसे यहाँ कमल के समान हरि-पद कहा गया है। अतः कमल उपमान हैं। उपमान को अवर्ण्य, अवर्णनीय अप्रस्तुत अप्रकृत और विषयी आदि भी कहते हैं।

समान धर्म—उपमेय और उपमान दोनों में समानता से रहने वाले गुण, क्रिया आदि धर्म को समान-धर्म या साधारण धर्म कहते हैं। जैसे—यहाँ 'कोमल' समान धर्म है—कोमलता रूप धर्म पद और कमल दोनों में ही है।

उपमा-वाचक-शब्द—उपमावाचक-शब्द उपमेय और उपमान की समानता सूचक सादृश्य-वाचक शब्द को कहते हैं। जैसे यहाँ 'से' शब्द हरि-पद और कमल दोनों की समानता बतलाता है।

लक्षण में दो पदार्थों का साधर्म्य इसलिए कहा गया है कि 'अनन्वय' अलङ्कार में भी उपमेय और उपमान का साधर्म्य होता है, किन्तु अनन्वय में उपमेय और उपमान दो पदार्थ नहीं होते-एक ही वस्तु होता है, जैसे—

है रन रावन-राम को रावन-राम समान।

इसमें श्रीराम और रावण का युद्ध ही उपमेय है और वही उपमान भी है। उपमा में उपमेय और उपमान दो पदार्थ होते है जैसे 'हरि-पद कोमल कमल से' में पद और कमल दो भिन्न भिन्न वस्तु हैं।

उपमा के प्रधान दो भेद हैं। पूर्णोपमा और लुप्तोपमा। इनके श्रौती या शाब्दी और आर्थी आदि अनेक भेद होते हैं—

पुर्णोपमा

जहाँ उपर्युक्त उपमेय आदि चारों अङ्ग शब्दों द्वारा कहे जाते हैं वहाँ 'पुर्णोपमा' होती है।

इसके दो भेद हैं—श्रौती या शाब्दी और आर्थी।

श्रौती उपमा—

इव, यथा, वा, सी, से, सो, लौं, जिमि इत्यादि सादृश्य सम्बन्ध-वाचक शब्दों के प्रयोग में श्रौती उपमा होती है। 'इव' आदि शब्द साधर्म्य (समान-धर्म के सम्बन्ध) के साक्षात् वाचक हैं। इन शब्दों में से कोई भी एक शब्द जिस शब्द के बाद लगा रहता है वही उपमान समझ लिया जाता है। इसलिये इव आदि शब्द अपनी अभिधा-शक्ति द्वारा ही सादृश्य-सम्बन्ध का बोध करा देते हैं। यद्यपि इव आदि शब्द उपमान से ही सम्बद्ध (लगे हुए) रहने के कारण उपमान के ही विशेषण हैं अर्थात् उपमान में रहने वाले साधारण-धर्म के बोधक हैं पर शब्द-शक्ति के सामर्थ्य के कारण ये श्रवण-मात्र से ही षष्ठी विभक्ति की तरह उपमान-उपमेय का साधर्म्य-सम्बन्ध बोध करा देते हैं। जैसे—'राजाकी सेना' में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग केवल राजा शब्द के साथ ही हुआ है, तथापि वह राजा का सम्बन्ध सेना में बोध करा देती है। इसी प्रकार 'चन्द्रसा मुख' इस वाक्य में 'सा' शब्द उपमान-चंद्र से सम्बद्ध है अर्थात् 'चन्द्र' शब्द के बाद लगा हुआ है पर चंद्रमा के सादृश्य का मुख में बोध करा देता है। अतएव 'इव' आदि शब्दों के श्रवण-मात्र से ही उपमेय उपमान के सादृश्य के सम्बन्ध का बोध हो जाने के कारण इनके प्रयोगों में श्रौती अर्थात् शाब्दी उपमा कही जाती है।

श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण—

"हो जाना लता न आप लता-संलग्ना,
करतल तक तो तुम हुई नवल-दल मग्ना,
ऐसा न हो कि मैं फिरूँ खोजता तुमको,
है मधुप ढूँढ़ता यथा मनोज्ञ सुमन को॥"५६॥ [५०]

जनकनंदिनी के प्रति श्री रघुनाथजी की इस उक्ति में उत्तरार्द्ध में श्रौती पूर्णोपमा है। रघुनाथजी उपमेय हैं, मधुप उपमान है, ढूँढ़ता समान-धर्म है, और 'यथा' श्रौती उपमा-वाचक शब्द है।

यद्यपि इस उपमा द्वारा जानकीजी के अङ्गों की सुन्दरता और कोमलता की जो ध्वनि निकलती है वह व्यंग्यार्थ अवश्य है, किन्तु इस व्यंग्यार्थ के ज्ञान के बिना ही यहाँ उपमा के वैचित्र्य में ही चमत्कार है। अलङ्कारों का सामान्य लक्षण 'व्यंग्य के बिना चमत्कार होना कहा गया है। इसका तात्पर्य यही है कि अलङ्कारों में व्यंग्यार्थ की व्यजना होने पर भी कवि को उसकी विवक्षा (कथन की इच्छा) नहीं रहती। केवल वाच्यार्थ की विचित्रता का चमत्कार ही अलङ्कारों में कवि को अभीष्ट होता है[२]।

"जा दिन ते छबि सौं मुसकात कहूँ निरखे नँदलाल बिलासी,
ता दिन ते मन ही मन में 'मतिराम' पियें मुसकानि सुधा सी।
नेक निमेष न लागत नैन चकी चितवे तिय देव-तिया सी,
चंदमुखी न हलै न चलै निरवात-निवास में दीपसिखा सी॥"५७॥[४८]

श्रीनंदनंदन के दर्शनजन्य गोपांगना की जड़ अवस्था को यहाँ चतुर्थ चरण में निर्वात-दीपशिखा की उपमा दी गई है। 'चंदमुखी' उपमेय है,

१ देखिये रसमञ्जरी प्रथम स्तबक।
२ 'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मत :॥'

निर्वात-दीपक-शिखा (पवन से न हिलाई गई दीपक की लौ) उपमान है 'न चलै न हिलै' समान-धर्म और 'सी' उपमा-वाचक शब्द है।

"धारि कै हिमंत के सजीले स्वच्छ अंबर कौं,
आपने प्रभाव को अडंबर बढ़ाए लेति,
कहै 'रतनाकर' दिवाकर उपासी जानि,
पाला कंज-पुंजनि पै पारि मुरझाए लेति।
दिन के प्रभाव औ प्रभा की प्रखराई पर—
निज सियराई–सँवराई–छबि छाए लेति,
तेज-हत-पति-मरजाद-सम ताकौ मान,
चाव–चढ़ी कामिनी ल जामिनी दबाए लेति ॥"५८॥८

यहाँ हेमन्त ऋतु की रात्रि को कामिनी की उपमा दी गई है। 'जामिनी' उपमेय, 'कामिनी' उपमान, 'दबाए लेति' समान-धर्म और शाब्दी-उपमा-वाचक शब्द है।

आर्थी उपमा—

तुल्य, तूल, सम, समान, सरिस, सदृश, इत्यादि उपमा-सूचक शब्दों के प्रयोग में आर्थी उपमा होती है। क्योंकि 'तुल्य आदि शब्द समान-धर्म वाले उपमान और उपमेय दोनों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। जैसे, 'चन्द्रमा के तुल्य मुख' इस वाक्य में उपमेय(मुख)के साथ, 'मुख है तुल्य चन्द्रमा के' इस वाक्य में उपमान(चन्द्रमा) के साथ और 'चन्द्रमा तथा मुख तुल्य हैं' इस वाक्य में उपमान और उपमेय अर्थात् चन्द्रमा और मुख दोनों के साथ 'तुल्य' आदि शब्दों का सम्बन्ध रहता है। अर्थात् तुल्य आदि शब्द कहीं उपमेय के साथ, कहीं उपमान के साथ और कहीं दोनों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। अतएव 'तुल्य' आदि शब्द 'इव' आदि शब्दों की तरह साधर्म्य के साक्षात् वाचक नहीं हैं। अर्थात् 'इव' आदि शब्द जिस शब्द के बाद लगे हुए होते हैं उसको शब्द-शक्ति

की सामर्थ्य से उपमान जान लिया जाता है। किन्तु तुल्य आदि शब्द जिस शब्द से सम्बन्ध रखते हैं उसका उपमान होना अनिवार्य नहीं है। इनके प्रयोग में उपमेय उपमान का बोध अर्थ का विचार करने पर विलंब से ही होता है[१]। इसी कारण 'तुल्यादि' शब्द आर्थी-उपमा-वाचक हैं।

आर्थी पूर्णोपमा—

बिजय करन दारिद-दमन दरन सकल दुख-दुंद,
गिरिजा-पद मृदु कंज सम बंदत हौं सुख-कंद ॥ ५६ ॥

यहाँ 'गिरिजा-पद' उपमेय है, 'कंज' उपमान है, 'कोमल' समान-धर्म और 'सम' आर्थी उपमा-वाचक शब्द है।

"पूरी हुई होगी प्रतिज्ञा पार्थ की इससे सुखी,
पर चिह्न पाकर कुछ न उसके, व्यग्र चिंतायुत दुखी।
राजा युधिष्ठिर उस समय दोनों तरफ क्षोभित हुए,
प्रमुदित न विमुदित उस समय के कुमुद सम शोभित हुए॥"६०॥५०

सूर्यास्त के समय जयद्रथ के बध का अनुमान करने वाले 'युधिष्ठिर' उपमेय हैं, 'कुमद' उपमान है, 'प्रमुदित न विमुदित' सामन-धर्म और 'सम' आर्थी उपमा-वाचक शब्द है!

देवजी ने भावविलास में उपमा के उदाहरण में निम्नलिखित छंद लिखा है—

"राति जगी अँगराति इतै गहि गैल गई गुन की निधि गोरी,
रोमबली त्रिबली पै लसी कुसुमी अँगिया हू लसी उर जोरी।
ओछे उरोजनि पै हँसिकै कसिकै पहिरी गहरी रंग बोरी,
पैरि सिंवार सरोज—सनाल चढ़ी मनों इन्द्र—बधूनि की जोरी ॥६१॥[२७]

---

१ 'आध्यांमुपमानोपमेयनिर्णयविलम्वेनास्वादविलम्बः तदभावः श्रौत्यामिति'—काव्यप्रकाश की टीका उद्योत उपमा-प्रकरण।

इसमें 'मनो' शब्द का प्रयोग अनुचित है। 'मनों' शब्द उत्प्रेक्षा का ही वाचक है—न कि उपमा का, अतः यहाँ उपमा नहीं।

लुप्तोपमा

उपमेय, उपमान, समान-धर्म और उपमा-वाचक शब्द में से एक, दो अथवा तीन का लोप हो जाने में—लुप्तोपमा होती है।

लोप का अर्थ है कहा नहीं जाना। इसके भेद निम्नलिखित होते हैं—
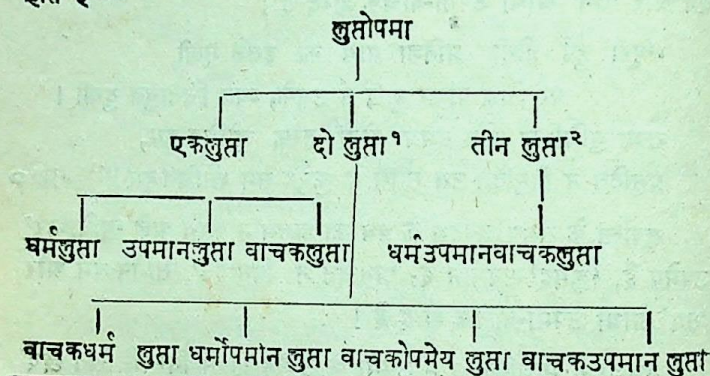
१ धर्मोपमेय लुप्ता में केवल उपमान और वाचक शब्द का कथन होने में और उपमेयोपमान लुप्ता में केवल समान धर्म और वाचक शब्द का कथन होने में कुछ चमत्कार न होनेके कारण ये दोनों भेद दो लुप्ता के नहीं माने गये हैं।

२ वाचक, धर्म और उपमेय तीनों के लोप में 'रूपकातिशयोक्ति' एक स्वतन्त्र अलंकार माना गया है। धर्म-उपमान-उपमेय लुप्ता और-वाचकोपमेय-उपमान लुप्ता में एक में केवल वाचक का और दूसरी में केवल समान-धर्म ही का कथन होने से उपमा नहीं हो सकती है। अतः तीन लुप्ता का केवल एक ही भेद होता है।

धर्म-लुप्ता—

"कुन्द-इन्दु सम देह उमारमन करुना-अयन
जाहि दीन वर नेह करौ कृपा मर्दन-मयन ॥"६२॥[२२]

यहाँ श्रीशिवजी का देह उपमेय है। कुन्द और इन्दु उपमान हैं। और 'सम' आर्थी उपमा-वाचक शब्द है। गौर-वर्ण आदि धर्मों का कथन नहीं है अतः धर्म-लुप्ता उपमा है। 'सम' के स्थान पर 'सो' कर देने पर यहाँ धर्म-लुप्ता श्रौती उपमा हो जायगी। धर्म-लुप्तोपमा को दण्डी ने [1]'वस्तूपमा' कहा है।

उपमान-लुप्ता—

जिहिं तुलना तुहि दीजिये सुवरन सौरभ माहिं,
कुसुम-तिलक चम्पक! अहो! हौं नहिं जानौ ताहि ॥६३॥

यहाँ उपमान का कथन नहीं है अतः उपमान-लुप्ता आर्थी उपमा है। श्रौती उपमा उपमान-लुप्ता नहीं हो सकती क्योंकि श्रौती उपमा के वाचक 'इव' आदि शब्द, जिस शब्द के बाद लगाये जाते हैं वह उपमान हो जाता है। जैसे इस उदाहरण में चम्पा का फूल वर्णनीय होने के कारण उपमेय है। किन्तु यदि 'चम्पक सो सुन्दर कुसुम ढूढ़हु मिलिहै नांहि।' कहा जाय तो चम्पा के बाद 'सो' श्रौती उपमा-वाचक शब्द होने के कारण वह (चम्पक) उपमान हो जाता है—उपमेय नहीं रहता। अतः श्रौती उपमा उपमान-लुप्ता नहीं हो सकती[2]।

वाचक-लुप्ता—

"नील-सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन,
करौ सो मम उर-धाम सदा छीर-सागर-सयन ॥"६४॥[२२]

---

१ देखिये काव्यादर्श उपमा प्रकरण।
२ देखिये काव्यप्रदीप लुप्तोपमा प्रकरण।

यहाँ उपमा-वाचक-शब्द नहीं कहा गया है।

वाचक-धर्म लुप्ता—

नीति निपुन निज धरम चित चरित सबै अवदात,
करत प्रजा रंजन सदा नृप-कुंजर विख्यात ॥॥६५॥

यहाँ 'नृप' उपमेय और 'कुंजर' उपमान है। साधारण-धर्म और वाचक-शब्द नहीं कहे गये हैं अतः, वाचक-धर्म-लुप्ता है।

वाचक-धर्म-लुप्ता उपमा और रूपक का पृथक्करण

वाचक-धर्म-लुप्ता उपमा के और सम-अभेद रूपक के उदाहरण एक समान प्रतीत होते हैं, पर जहाँ उपमान के धर्म की प्रधानता होती हैं वहाँ रूपक होता है और जहाँ उपमेय के धर्म की प्रधानता होती है वहाँ उपमा होती है। जैसे यहाँ 'नीति निपुन' आदि धर्म (विशेषण) राजा (उपमेय) के लिए ही संभव हो सकते हैं, न कि उपमान—कुंजर (हाथी) के लिए। अतः यहाँ उपमेय (राजा) के धर्म की प्रधानता कही जाना उपमा का साधक और रूपक का बाधक है।[1]

"मुनि कुल बधू झरोखनि झांकति रामचंद्र-छबि चंद-बदनिया,
'तुलसिदास'प्रभुदेखिमगनभई प्रेम-बिबस कछुसुधि न अपनियां॥"६६॥[२२]

यहाँ 'बदन' उपमेय और चन्द्र उपमान है। साधारण-धर्म और वाचक शब्द नहीं हैं। यहाँ भी 'झांकति' आदि धर्म बदन (उपमेय) की प्रधानता के कारण हैं अतः उपमा है न कि रूपक।

और 'मुख ससि लसत सहास' में उपमा हैं क्योंकि 'हँसना' धर्म-मुख उपमेय में ही संभव है न कि उपमान—चंद्रमा में।

---

१ साधक और बाधक की स्पष्टता आगे संकर अलङ्कार में देखिए।

धर्मोपमान लुप्ता—

भूँ भूँ करि मरिहै वृथा केतकि कंटक मांहि,
रे अलि ! मालति कुसुम सम खोजत मिलि है नांहि।

'खोजत मिलि है नांहि' पद के कारण उपमान और धर्मलुप्ता है।

वाचकोपमेय लुप्ता[1]**—**

छबि सो रति आचरति है चलि अवलोकहु लाल ! ॥६८॥

दूती द्वारा किसी नायिका की प्रशंसा है। 'रति' उपमान और 'छवि' समान धर्म है—उपमेय और वाचक शब्द नहीं हैं।

वाचक-उपमान लुप्ता—

दाड़िम दसन सु सित-अरुन है मृग-नयन बिसाल।
केहरि कटि अति छीन है लसत मनोहर बाल ॥६९॥

'दसन' आदि उपमेय और सित-अरुन आदि साधारण-धर्म हैं। वाचक शब्द और उपमान (दाड़िम के दाने आदि) का लोप है दसन; नेत्र और कटि के केवल दाड़िम, मृग और सिंह उपमान नहीं हो सकते किन्तु दाड़िम के दाने, मृग के नेत्र और सिंह की कटि उपमान हो सकते हैं, जिनका यहाँ कथन नहीं किया गया है।

धर्म-उपमान-वाचक लुप्ता—

"कुञ्जर-मनि कंठा कलित उरन्ह तुलसिका माल,
वृषभ-कंध केहरि ठवन बलनिधि बाहु बिसाल ॥"७०॥[२२]

यहाँ 'ठवन' उपमेय है। स्कंध का उपमान वृष का स्कंध हो सकता है—वृष के स्कंध की ही उपमा स्कंध को दी जा सकती है, न कि

---

१ इसके उदाहरण संस्कृत-ग्रन्थों में 'कान्त्या स्मरवधूयन्ती' इत्यादि क्यच् प्रत्यय के प्रयोग में स्पष्ट दिखाये जा सकते हैं—न कि हिन्दी भाषा में।

केवल वृष की अतः उपमान तथा समान धर्म एवं उपमा-वाचक शब्द का लोप है।

धर्मोपमेयवाचकलुप्ता का काव्यनिर्णय में भिखारी दासजी ने यह उदाहरण दिया है—

"नभ ऊपर सर बीचि युत कहा कहौं बृजराज!
तापर बैठ्यो हौं लख्यो चक्रवाक जुग आज ॥" ७१ ॥ [४६]

इसमें नायिका के अङ्गों के केवल उपमान कहे गये है।

और लछीरामजी ने रामचन्द्र-भूषण में यह उदाहरण दिया है—

"चपल स्याम-घन चपला सरजू तीर।
मुकुट-माल मय बारिज़ भ्रमर जँजीर ॥" ७२ ॥ [५५]

इसमें भी धर्म, उपमेय और वाचक-शब्द नहीं हैं—केवल उपमान हैं। केवल उपमान के कथन में रूपकातिशयोक्ति होती है अतः न तो ये दोनों उदाहरण लुप्तोपमा के हैं और न धर्म, उपमेय और उपमा-वाचक शब्द के लोप में उपमा हो ही सकती है। यदि ऐसे उदाहरणों में उपमा मान ली जाय तो फिर 'रूपकातिशयोक्ति' का अस्तित्व ही न रहेगा।

उक्त भेदों के सिवा उपमा के और भी अनेक भेद होते हैं। जैसे—

बिंबप्रतिबिंबोपमा—

जहां उपमेय और उपमान के कहे हुए भिन्न भिन्न धर्मों का परस्पर बिंबप्रतिबिंब भाव होता है वहां बिंब-प्रतिबिंबोपमा होती है।

[1]आगे ऐन्द्री-धनु कढ रहा रम्य बल्मीक से यों—
नानारंगीकिरण नभ में रत्न के हों मिले ज्यों।

१ यह मेघदूत में मेघ के प्रति यक्ष की उक्ति है। हे मेघ देख! तेरे सामने बल्मीक (गिरिश्रृङ्ग अथवा सूर्य-प्रभा) से इन्द्र का रमणीय धनुष, रत्नों की अनेक रंग की प्रभा के समान निकल रहा है। इसके

तेरा नीला वपुष जिससे होयगा कांतिधारी—
जैसे बर्हावृत-मुकुट से गोप-वेशी मुरारी ॥७३॥

यहाँ इन्द्र-धनुष युक्त नील मेघ को मयूर-पक्ष के मुकुट धारण किये हुए श्रीकृष्ण की उपमा दी गई है। साधारण-धर्म भिन्न-भिन्न हैं—नील मेघ का धर्म इन्द्र-धनुष और श्रीकृष्ण का धर्म मयूर-पिच्छ का मुकुट कहा गया है। इन दोनों में समान-धर्म का बिंब-प्रतिबिंब भाव है[१]।

वस्तु-प्रतिवस्तु-निर्दिष्ट उपमा—

जहाँ उपमान और उपमेय का एक ही समान धर्म शब्द-भेद से कहा जाता है, वहाँ वस्तुप्रतिवस्तुनिर्दिष्ट उपमा होती है।

विकसित नील-सरोज सम प्रफुलित दृगन लखाय,
मृगनयनी हिय भाव सब मोहि दिये समुझाय ॥७४॥

यहाँ उपमान कमल का 'विकसित' और उपमेय नेत्र का 'प्रफुल्लित' एक ही धर्म है—केवल शब्द-भेद है।

'प्रतिवस्तूपमा' अलङ्कार में और इस वस्तु-प्रतिवस्तु-निर्दिष्ट उपमामें क्या भेद है, इसका स्पष्टीकरण आगे प्रतिवस्तूपमा में किया गया है।

श्लेषोपमा—

जहाँ श्लिष्ट शब्दों द्वारा समान-धर्म का कथन किया जाता है, वहां श्लेषोपमा होती है।

संयोग से तेरी नीली घटा ऐसी शोभित होगी, जैसे मयूरपंख के मुकुट से श्यामसुन्दर कृष्ण गोप-वेष में शोभा पाते है।

१ दर्पण में मुख के बिंब का प्रतिबिंब गिरता है उसी प्रकार एक धर्म के सादृश्य का दूसरे धर्म में प्रतिबिंब गिरने को बिंब-प्रतिबिंब भाव कहते हैं।

यह अर्थ-श्लेष और शब्द-श्लेष द्वारा दो प्रकार की होती है।

अर्थश्लेषोपमा—

प्रतिद्वन्द्वी शशि का प्रिये ! परिपूरित मकरन्द ।
तेरा मुख अरविंद सम शोभित है सुखकन्द ॥ ७५ ॥

'अरविंद' उपमान और 'मुख' उपमेय दोनों के समान-धर्म 'श[illegible] का प्रतिद्वन्द्वी'[1] और 'पूरित मकरंद' श्लिष्ट पदों द्वारा कहे गये हैं 'शशि का प्रतिद्वन्द्वी' आदि पदों के पर्याय शब्दों द्वाराभी समान-ध[illegible] बोध हो सकता है। अतः अर्थ-श्लेष मिश्रित उपमा है। यहाँ श्लेष गौ[illegible] और उपमा प्रधान है।

कभी सत्य तथैव असत्य कभी मृदुचित्त कभी अति क्रूर लखाती,
कभी हिंसक और दयालु कभी सुउदार कभी अनुदार दिखाती,
धन-लुब्धक भी बनती कब ही व्यय में कर मुक्त कभी दग आती,
नृप-नीति की हैन प्रतीति सखे ! गणिका सम रूप अनेक बनाती ॥७[illegible]

यहाँ 'नृपनीति' उपमेय और 'गणिका' उपमान है। इन दोनों [illegible] समान-धर्म 'कभी सत्य तथैव असत्य कभी' आदि श्लिष्ट पदों द्वारा [illegible] हैं। इन पदों से पर्याय शब्दों द्वारा भी नृपनीति और गणिका दोनों [illegible] समान-धर्म का बोध हो सकता है। यहाँ भी अर्थ-श्लेष मि[illegible] श्लेषोपमा है।

शब्द-श्लेषोपमा—

"पूरन गँभीर धीर बहु बाहिनी[2] को पति,
धारत रतन महा राखत प्रमान है,

---

१ चन्द्रमा पक्ष में शत्रु और मुख पक्ष में प्रतिद्व[illegible] (मुकाबिला) करने वाला। २ समुद्र पक्ष में नदी, राजा के [illegible] में सेना।

लखि, 'द्विजराज' करै हरष अपार मन,
पानिप विपुल अति दानी छमावान है।
सुकवि 'गुलाब' सरनागत अभयकारी,
हरि-उर धारी उपकारी महान है,
बलावंध सैलपति साह कवि-कौल-भानु,
रामसिंह भूनलेंद्र सागर समान है॥"७७॥ [१०]

यहाँ राजा रामसिंह को सागर की उपमा दी गई है। 'वाहिनीपति' और 'द्विजराज' आदि विशेषण पद-श्लिष्ट हैं—समुद्र और राजा दोनों का बोध कराते हैं। इन पदों के शब्दपरिवर्तन करने पर ये विशेषण राजा रामसिंह और समुद्र दोनों का बोध नहीं करा सकते। इसलिये यह शब्द-श्लेषोपमा है। 'रतन' आदि कुछ शब्द परिवर्तनशील भी हैं। पर यहाँ अपरिवर्तनशील शब्दों में शब्द-श्लेषोपमा का उदाहरण दिखाया गया है। आचार्य दण्डी ने इस भेद को समानोपमा नाम से लिखा है।

वैधर्म्योपमा—

जहाँ उपमेय और उपमान का धर्म एक दूसरे के विपरीत होता है, वहाँ वैधर्म्योपमा होती है।

"दृग थिरकौहे अधखुले देह थकौहे ढार,
सुरत-सुखित सी देखियत दुखित गरभ के भार।"७८॥ [४३]

यहाँ गर्भ-भार से व्यथित तरुणी को रति-थकित सुखित नायिका की उपमा दी गई है। दुखित और सुखित धर्म एक दूसरे के विपरीत हैं।

नियमोपमा—

जहां एक ही (नियमित) उपमान में सादृश्य नियंत्रित कर दिया जाता है वहां नियमोपमा होती है।

१ समुद्र के पक्ष में चन्द्रमा, राजा के पक्ष में ब्राह्मण।

तो मुख सम इक कमल ही दूजो कोउ न लखाय।

यहाँ 'ही' के प्रयोग द्वारा मुख का सादृश्य केवल कमल ही में होना कहा गया है। अन्यत्र उसका अभाव सूचित होता है।

अभूतोपमा अथवा कल्पितोपमा

"उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पटपीत उढ़ाये,
नील-जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव जिमि[1] तडित छिपाये" ॥८०॥

यहाँ पीताम्बर ओढ़े हुए श्यामविग्रह श्रीरामचन्द्रजी को स्थिर बिजली द्वारा आच्छादित नील-मेघ की उपमा दी गई है। बिजली का स्थिर रहना असम्भव होने के कारण यह अभूतोपमा है।

"कहि 'केशव' श्री वृषभानु-कुमारि सिँगार सिँगारि सबै सरसै,
स-विलास चितै हरि-नायक त्यों रतिनायक-सायक से बरसै।
कबहुँ मुख देखति दर्पन लै उपमा मुख की सुखमा परसै,
जिमि[2] आनँदकन्द सु पूरनचन्द दुर्‌यो रबि-मंडल में दरसै॥"८१॥[७]

यहाँ दर्पण में मुख देखती हुई श्रीराधिकाजी के मुख को सूर्य के मण्डल के अन्दर दीखते हुए चन्द्रमा की उपमा दी गई है। सूर्यमंडल में चन्द्रमा का दृश्य होना असम्भव होने के कारण यह भी अभूतोपमा है।

समुच्चयोपमा—

जहां उपमान के अनेक धर्मों का समुच्चय[3] होता है, वहां समुच्चयोपमा होती है।

---

१ मूल पाठ 'मनो' है। उपमा के उदाहरण के लिये 'मनो' के स्थान पर 'जिमि' किया गया है।

२ केशवदासजी का पाठ 'जनु' है। यहाँ उपमा का उदाहरण बनाने के लिये 'जनु' के स्थान पर 'जिमि' कर दिया गया है।

३ इकट्ठा होना।

रमनी-मुख रमनीय यह जोबन ललित विलास,
चंपक-कुसुम समान सब रूप रंग दुति बास ॥८२॥

यहाँ उपमान (चंपक पुष्प) के रूप, रंग, द्युति और सुगंध आदि अनेक धर्मों से उपमा दी गई है।

राधा के सखि बदन में दुति ही इक न समान,
आल्हादकता हू रहत है यामें चंद समान ॥८३॥

यहाँ 'कांति' गुण और 'अल्हादकता' क्रियाओं के समुचय द्वारा उपमा दी गई है। अतः समुच्चयोपमा है।

रसनोपमा—

बहुत से उपमान और उपमेयों में यथोत्तर उपमेय को उपमान कथन किये जाने को 'रसनोपमा कहते हैं।

'रसना' कहते हैं कटि के आभूषण करधनी को जिस प्रकार करधनी में सोने की एक कड़ी दूसरी कड़ी के साथ—एक के पीछे दूसरी यथोत्तर सांकल की तरह गुंथी रहती है उसी प्रकार इस उपमा में उपमेय और उपमान का सम्बन्ध रहता है। यह अभिन्न-धर्मा और भिन्न-धर्मा दोनों प्रकार की होती है।

"कुल सी मति, मति सो जु मन मन ही सो गुरु दान ॥"

यहाँ 'मति' उपमेय है फिर यही 'मति' मन उपमेय का उपमान है ?, 'मन' भी 'दान' उपमेय का उपमान है। इन सबका 'गुरुता' रूप एक ही साधारण धर्म कहा गया है।

बच सी माधुरि मूरती मूरति सी कल कीर्ति,
कीरति लौं सब जगत में छाइ रही तब नीति ॥८४॥

यहाँ 'मूरति' आदि उत्तरोत्तर उपमानों के माधुरी, कल, और छाइ रही, भिन्न-भिन्न धर्म कहे गये हैं।

उपर्युक्त सारे उदाहरण वाच्योपमा के हैं क्योंकि इनके वाच्यार्थ में ही उपमा स्पष्ट कही गई है।

उपमा लक्ष्योपमा तथा व्यंग्योपमा भी होती है। यथा—

लक्ष्योपमा—

सरसिज-सोदर हैं प्रिये ! तेरे दृग रमणीय ॥८५॥

नेत्रों को कमल के सहोदर (एक उदर से उत्पन्न भ्राता) कहा गया है। किन्तु नेत्रों को कमल के सहोदर कहना नहीं बन सकता अतः मुख्यार्थ का बाध है। कमल के सहोदर का लक्ष्यार्थ यहाँ कमल के समान समझा जाता है अतः लक्षणा द्वारा सादृश्य लक्षित होने के कारण लक्ष्योपमा है[1]।

व्यंग्योपमा—

मनरंजन हो निशिनाथ तथा उडुराज सुशोभित हो सच ही,
करते तुम मोद कुमोद[2] को भी समता अपनी सहते न कहीं।
पर गर्व वृथा करते तुम चन्द्र ! न ध्यान कभी धरते यह ही,
कहिये किसने कर खोज कभी भुविमण्डल देख लिया सच ही ? ॥८६॥

यहाँ वाच्यार्थ में स्पष्ट उपमा नहीं दी गई है। चन्द्रमा के प्रति किसी वियोगी की इस उक्ति में 'कभी बाहिर नहीं निकलने वाली मेरी प्रिया का मुख जो तेरे समान है, तूने नहीं देखा है' इस व्यंग्यार्थ की ध्वनि में यह उपमा है कि मेरी प्रिया का मुख चन्द्रमा के समान है।

''परम पुरुष के परम दृग दोनों एजु,
भनत पुरान वेद बानी औ पढ़ गई।
कवि 'मतिराम' द्योसपति वे निसापति ये,
काहू की निकाई कहूँ नेक न बढ़ गई।

---

१ 'लक्ष्योपमा' लाक्षणिक शब्द के प्रयोग में होती है। लक्षणा की स्पष्टता रसमञ्जरी के दूसरे स्तवक में की गई है।

२ कुमुद अर्थात् कुमुदिनी अथवा मोद रहित अर्थात् आनन्द रहित—दुष्ट।

सूरज के सुतन करन महादानी भयो,
बाही के विचार मति चिंता में मढ़ गई।
तोहि पाट बैठत कमाऊँ के उदोतचन्द !
चन्द्रमा की करज करेजे सों कढ़ गई[1]॥"८७॥[४८]

यहाँ राजा उद्योतचन्द्र को कर्ण की उपमा स्पष्ट नहीं दी गई है। ध्वनि से प्रकट होती है।

उपमा के निरवयवा, सावयवा, समस्तवस्तुविषया, एकदेशविवर्तिनी और परंपरिता आदि भेद भी होते हैं—
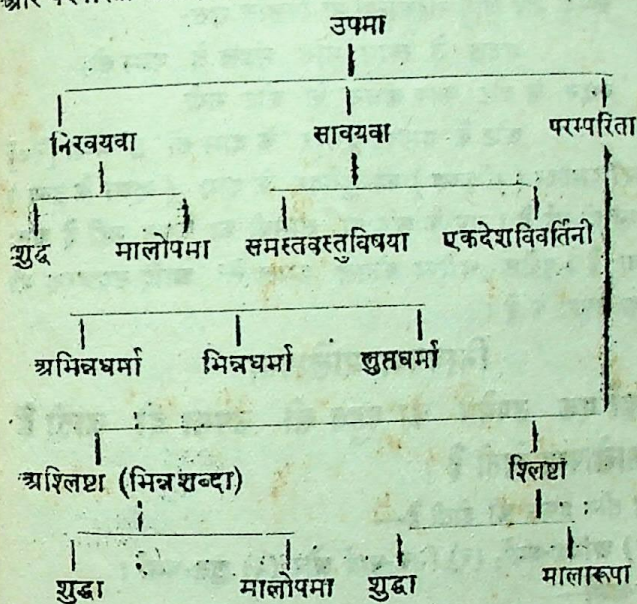
[1] सूर्य और चन्द्रमा दोनों विराट् भगवान् के नेत्र हैं। एक दिनपति है और दूसरा निशापति। दोनों के समान प्रताप हैं। किन्तु सूर्य-वंश के पुत्र महादानी कर्ण के समान चंद्रमा के वंशमें दानशील पुत्र न था। इस बात का चंद्रमा को बड़ा दुःख था। अब उसके वंशमें (चंद्र-वंशमें)

निरवयवा—

इसमें उपमान और उपमेय के अङ्ग या सामग्री नहीं कही जाती।

शुद्ध निरवयवा—

"गोकुल-नरिंद इन्द्रजाल सो जुटाय ब्रज—
बालन भुलाय कै लुटाय घने भाम सों,
बिज्जुल से बास अंग उज्जल अकार करि
बिबिध बिलास रस हास अभिराम सों।
जान्यों नहिं जातु पहिचान्यों ना त्रिलात रास-
मंडल ते स्याम भास मंडल ते धाम सो,
बाहन के जोट काय कंचन के कोट गयो
ओट कै दमोदर दुरोदर के दाम सो ॥"ग्वाल [२०]

यहाँ दामोदर (श्रीकृष्ण) को दुरोदर के दाम (जूआ के द्रव्य) की उपमा दी गई है। जूए के अंग या सामग्री का कथन नहीं है अतः निरवयवा है। पूर्वोक्त 'हरिपद कोमल कमल से' आदि उदाहरण भी निरवयवा उपमा के हैं।

निरवयवा मालोपमा

जहाँ एक उपमेय को बहुत सी उपमा दी जाती है वहां मालोपमा होती है।

यह तीन प्रकार की होती है—

(१) अभिन्न-धर्मा, (२) भिन्न-धर्मा और (३) लुप्त-धर्मा।

अभिन्न-धर्मा—

"जैसे मद-गलित गयंदनि के वृन्द देखि,
कंपत मकंदत मयंद कढ़ि जात है,

कर्ण के समान दानी उद्योतचन्द्र के सिंहासनारूढ़ होने पर चन्द्रमा का वह दुःख जाता रहा।

कहैं 'रतनाकर' फनिंदनि के फंद फारि
जैसे बिनता को प्रिय-नंद कढ़ि जात है।
जैसे तारकासुर के असुर समूह सालि
स्कंद जगबंद निरद्वंद कढ़ि जात है,
सूबा-सरहिंद-सेन मारि यौं गुबिंद कढ्यौ
ध्वंसि ज्यौं बिधुंतुद कौं चंद कढ़ि जात है ॥"८६॥[१७]

गुरु गोविन्दसिंह को मयंद (सिंह), बिनतानन्द (गरुड़), स्कन्द और चन्द्र की चार उपमाएँ दी गई हैं। इनमें "कढ़ि जात है" एक ही समान-धर्म कहा गया है, अतः अभिन्न-धर्मा मालोपमा है।

भिन्न-धर्मा मालोपमा—

"मित्र ज्यों नेह निबाह करै कुल-कामिनि ज्यों परलोक सुधारन,
संपति दान कौं साहिब ज्यों गुरु-लोगन ज्यों गुरु-ज्ञान प्रसारन।
'दासजू' भ्रातन सी बल-दाइनि मातुसी है नित दुःख निवारन,
या जग में बुधवंतन की बर विद्या बड़ी वित ज्यों हितकारन ॥"९०॥[४६]

यहाँ विद्या को मित्र और कुल-कामिनी आदि अनेक उपमाएँ दी गई हैं। इनके 'नेह निभाना' और 'परलोक सुधारना' आदि पृथक् पृथक् धर्म कहे गये हैं, अतः भिन्न-धर्मा है।

लुप्तधर्मा मालोपमा—

"इन्द्र जिमि जंभ[1] पर बाडव[2] सु अंभ पर
रावन स-दंभ पर रघुकुल-राज हैं।
पौन बारि-वाह[3] पर शुम्भ रति-नाह[4] पर
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।

---

१ जंभासुर एक राक्षस। २ बाड़वाग्नि। ३ मेघ। ४ कामदेव।

दावा[1] द्रुम-दंड पर चीता मृग-झुंड पर

'भूषन' वितुंड[2] पर जैसे मृगराज है,

तेज तम-अंस[3] पर कान्ह जिमि कंस पर

त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज है ॥"६१॥ [४७]

यहाँ शिवराज के इन्द्रादिक बहुत से उपमानों का साधारण धर्म नहीं कहा गया, अतः लुप्तधर्मा मालोपमा है।

"अलिक[4] पै कलम चलैबो चतुरानन को

पत्थ-पन[5] लैबो इभ-दंत[6] कढ़ि ऐबो सो,

राम रघु-राज कैसो अंगीकृत कैबो बलि

बज्र को बनैबो पार प्रकृति कै जैबो[7] सो।

भ्रू को खम खैबो बोर दैबों नीली रंग कैसो

हली-हल पाय हस्तिनापुर नवैबो[8] सो,

प्रेस को[9] सुनैबो तत्त्वबोध कैसो पैबो ह्वैबो-

हाडा को हुकुम लेख हीरा पै लिखैबो[10] सो॥"६२॥[६०]

इसमें बूँदी-नरेश हाड़ा रामसिंह के हुकुम की दृढ़ता को 'अलिक पै कलम चलैबो चतुरानन को' इत्यादि अनेक उपमाएँ दी गई हैं। इन के 'दृढ़ता' आदि धर्म नहीं कहे गये हैं, अतः लुप्तधर्मा है।

---

१ दावाग्नि। २ हाथी। ३ अन्धकार। ४ ललाट। ५ अर्जुन की प्रतिज्ञा। ६ हाथी के दाँत। ७ मोक्ष को प्राप्त हो जाना। ८ बलरामजी ने हस्तिनापुर को हल से टेढ़ा कर दिया था, उसकी उपमा है। ९ मन्त्रविशेष। १० हीरे पर लिखा हुआ कभी नहीं मिटता।

सावयवा—

इसमें उपमेय के अवयवों को भी उपमान के अवयवों द्वारा उपमा दी जाती है।

यह कहीं समस्तवस्तुविषया और कहीं एकदेशविवर्तिनी होती है।

समस्तवस्तुविषया—

बदन कमल सम अमल यह भुज यह सरिस मृनाल,
रोमावली सिवाल सम सरसी सम यह बाल ॥६३॥

यहाँ नायिका को सरसी (गृहवापिका-बावड़ी) की उपमा दी गई है। नायिका के मुख, भुजा आदि अवयवों को भी कमल, मृनाल आदि बावड़ी के अवयवों की उपमा दी गई है। अतः सावयवा है। उपमेय और उपमान दोनों के अवयवों का शब्दों द्वारा कथन है, अतः समस्तवस्तुविषया है।

एकदेशविवर्तिनी—

इसमें उपमान का कहीं तो शब्द द्वारा कथन किया जाता है और कहीं नहीं।

मकर सरिस भट-गन लसंतु कबि-जन रत्न समान,
कबितामृत-जस-चंद्र के हो तुम भूप ! निधान ॥ ६४ ॥

यहाँ राजा को समुद्र की उपमा दी गई है। राजा के अवयव (सामान) योद्धा, कविजन, कविता और यश आदि को समुद्र के अवयव मकर, रत्न, अमृत और चंद्र आदि की उपमा शब्द द्वारा दी गई है। और राजा को समुद्र की उपमा शब्द द्वारा नहीं दी गई है, किन्तु उसका मकर (मगर) रत्न आदि अवयवों की उपमा द्वारा आक्षेप होता है—जान लिया जाता है। क्योंकि मकर और रत्नों का उत्पत्ति-स्थान समुद्र ही है, अतः एकदेशविवर्तिनी उपमा है।

परंपरिता उपमा[१] ।

इसमें एक उपमा दूसरी उपमा का कारण होती है।

भिन्नशब्दा शुद्धा परंपरिता—

"लखन-उतर आहुति सरिस भृगुवर-कोप-कृशानु,
बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुल-भानु ॥" ६५॥[२२]

यहाँ परशुरामजी के कोप को अग्नि की उपमा दिया जाना लक्ष्मणजी के उत्तर को आहुति की और श्री रघुनाथजी के वचन को जल की उपमा देने का कारण है। यहाँ श्लिष्ट शब्द नहीं है। कोप और कृशानु आदि भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा उपमा है।

भिन्न-शब्दा परंपरिता मालोपमा—

जवन-कुमुद-गन रवि सरिस जाको विदित प्रताप,
अरि-जस-कमलन-चंद सम राना भयो प्रताप ॥ ६६॥

महाराणा प्रताप को सूर्य की और चंद्रमा की जो उपमा दी गई है, वह क्रमशः यवनों को कुमुद और शत्रुओं के यश को कमल की उपमा दिये जाने का कारण है। यहाँ ये उपमाएँ कुमुद और रवि आदि भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा दी गई हैं।

श्लिष्टा शुद्धा परंपरितोपमा—

"लघुन बढ़ावै अति उच्चन नमाय लावै,
फूल फल ललित लुनाय कै लगावै काम,
बक्रन[२] को सरल बनावै चल-मूलन[३] को—
दै जल दृढ़ावै कंटकन को कुरावै धाम।

---

१ परंपरिता उपमा के लिए अधिक स्पष्टता आगे परंपरित रूपक में देखिये।

२ टेढ़े वृक्षों को, राजा के अर्थ में विरोधी जनों को।

३ जिनकी जड़ उखड़ गई है ऐसे वृक्षों को, राजा के अर्थ में निर्बलों को।

सुभ दल[1] भावै औ अपक्रम फफावै त्योंब,
दीमन बिहावै फटै तिनको न राखै नाम,
बूँदी सुधा-सींचीसी बगीचोसी बनाय राखी,
मालिकमनी[2] सो यों बिराजै रावराजाराम ॥"६७॥[६०

इसमें बूंदी-नरेश रामसिंह को जो मालीकी उपमा दी गई है उसका कारण राजधानी बूंदी को बगीची की उपमा दिया जाना है। जब तक बूंदी को बगीची की उपमा न दी जायगी, राजा के लिये माली की उपमा सुसंगत नहीं हो सकेगी। 'मालिकमखि' और 'लघुन बढ़ावै' आदि श्लिष्ट-शब्द हैं—एक अर्थ राजा से और दूसरा अर्थ माली से सम्बन्ध रखता है। अतः श्लिष्टा परंपरिता उपमा है।

श्लिष्टा परंपरिता मालोपमा—

महीभृतन में लसत है तू सुमेरु सम सत्त,
हे नृपेंद्र ! तू काव्य में वृषपर्वा सम नित्त ॥ ६८ ॥

यहाँ महीभृत (राजा या पर्वत) और काव्य (काव्य या शुक्राचार्य) शब्द श्लिष्ट हैं। यहाँ वर्णनीय राजा को सुमेरु और वृषपर्वा की उपमा दी जाने का कारण अन्य राजाओं को पर्वतों की और काव्य को शुक्राचार्य की उपमा दिया जाना है।

---

(२) अनन्वय अलङ्कार

एक ही वस्तु को उपमान और उपमेय रूप से कथन किये जाने को अनन्वय अलङ्कार कहते हैं।

अनन्वय का अर्थ है अन्वय (सम्बन्ध) न होना। अनन्वय में

---

१ पत्ते, राजा के अर्थ में सेना।
२ माली कमनी, अर्थात् निपुण माली, राजा के अर्थमें मालिकमणि।

अन्य उपमान का सम्बन्ध नहीं होता उपमेय को ही उपमान मा जाता है। यह शाब्द और आर्थ एवं पूर्ण और लुप्त भी होता है।

शाब्द पूर्ण अनन्वय—

विधि वंचित[1] ह्वै, करि किंचित पाप, भयो जिनके हिय खेद महा,
तिनके अघ-जारन[2] को जननी! अवनीतल तीर्थ अनेक यहाँ।
जिनको न समर्थ उधारन को अघ-नाशक कोउ न कर्म कहाँ,
उनको भवसागर तारन कों इक तोसी तुही बस है अघ-हा ॥ ९९॥

यहाँ 'तो सी तुही' पद द्वारा गंगाजी को गंगाजी की ही उपमा दी गयी है अतः उपमान और उपमेय एक ही वस्तु हैं। 'सी' शाब्दी-उपमा वाचक शब्द है। 'भवसागर-तारन' समान-धर्म है, अतः शाब्द पूर्ण अनन्वय है।

"आगे रहे गनिका गज-गीध सु तौ अब कोउ दिखात नहीं है,
पाप परायन ताप भरे 'परताप' समान न आन कहीं है।
हे सुखदायक प्रेमनिधे! जग यों तो भले औ बुरे सब ही हैं,
दीनदयाल औ दीनप्रभो! तुमसे तुमही हमसेहमहीहैं॥"१००॥[३७]

यहाँ 'तुम से तुम ही हमसे हम ही हैं' में 'से' शाब्द-उपमा-वाचक शब्द है, अतः शाब्द अनन्वय है। जहाँ आर्थी-उपमा-वाचक शब्द का प्रयोग होता है वहाँ आर्थ अनन्वय समझना चाहिये।

लुप्त अनन्वय—

सागर है सागर सदृस गगन-गगन सम जानु,
है रन रावन राम को रावन राम समानु॥ १०१॥

यहाँ महान् आदि धर्म का लोप है अतः लुप्त अनन्वय है। अनन्वय अलङ्कार की ध्वनि भी होती है—

---

१ विधाता से ठगे हुए। २ पाप जलाने की।

अनेकों आती हैं तटिनि गिरियों से निकल ये,
कहो श्रीभर्त्ता के चरन किसने क्षालन किये ?
अनङ्गारी-धारी निज-शिर-जटा में कब किसे
बतारी ए अम्बे! कवि कहँ तुम्हारी सम जिसे ॥१०२॥

यहाँ श्री गंगाजी को गंगाजी की उपमा शब्द द्वारा नहीं दी गई है। 'तेरे सिवा दूसरी किस (नदी) ने श्रीलक्ष्मीनाथ के पाद-प्रक्षालन किये हैं और किसको श्री शंकर ने अपनी जटा में धारण किया है ?' इस वाक्य में "तूने ही श्रीरमा-रमण के चरण-प्रक्षालन किया है और तुझे ही श्री शंकर ने अपनी जटा में धारण किया है अर्थात् तेरे समान तू ही है" यह अनन्वय की ध्वनि निकलती है।

---

(३) असम अलङ्कार

उपमान के सर्वथा अभाव वर्णन को 'असम' अलङ्कार कहते हैं।

'असम' का अर्थ है जिसके समान दूसरा न हो।

"सोक-समुद्र निमज्जत काढ़ि कपीस कियों जग जानत जैसो,
नीच निसाचर बैरिको बन्धु बिभीषन कीन्ह पुरंदर तैसो।
नाम लिये अपनाय लियो 'तुलसी' सो कहो जग कौन अनैसो,
आरत आरति-भंजन राम गरीब-निवाज न दूसरे ऐसो ॥"१०३॥[२२]

'श्रीरघुनाथजी के समान दूसरा कोई नहीं है' इस कथन में उपमान का सर्वथा निषेध है।

'असम' की ध्वनि—

"ज्वालशल्य ज्वाला मय अनल की फैलती जो कान्ति है,
कर धाद् अर्जुन की छटा होती उसी की भ्रांति है।
इस युद्ध में जैसा पराक्रम पार्थ का देखा गया,
इतिहास के आलोक में है सर्वथा हो वह नया ॥"१०५॥ [५०]

यहाँ चतुर्थ चरण के वाक्यार्थ से 'अर्जुन के समान कोई नहीं हुआ' यह ध्वनि निकलती है। अतः 'असम' की ध्वनि है।

अनन्वय और लुप्तोपमा से असम की भिन्नता—

'अनन्वय' अलङ्कार में उपमेय को ही उपमान कहा जाता है और असम में उपमान का सर्वथा अभाव वर्णन किया जाता है।

धर्मोपमान-लुप्ता उपमा में भी उपमान का सर्वथा अभाव नहीं कहा जाता। जैसे—पूर्वोक्त—'भूं भूं करि मरि है वृथा केतकि कंटक मांहि' इस उदाहरण में मालती पुष्प के सादृश्य का सर्वथा अभाव नहीं कहा गया है, किन्तु भ्रमर के प्रति यह कहा गया है कि 'तुझे केतकी के वनमें मालती जैसा पुष्प अप्राप्य है'। अर्थात् संभव है कहीं हो। किन्तु 'असम' में तो उपमान की सर्वथा स्थिति ही नहीं कही जाती है अतः 'असम' में उपमान-लुप्ता का विलय नहीं हो सकता है। यह अलङ्कार यद्यपि अनन्वय अलङ्कार व्यंग्यार्थ में रहता है किन्तु इसमें उपमान का निषेध शब्द द्वारा स्पष्ट कहा जाता है।

———

(४) उदाहरण अलङ्कार

जहाँ सामान्य रूप से कहा गई बात को (भली प्रकार समझाने के लिये) उसका एक अंश (विशेष रूप) कह कर उदाहरण दिखाया जाता है वहाँ 'उदाहरण' अलङ्कार होता है।

उदाहरण का अर्थ है नमूना अर्थात् जहाँ सामान्य बात कही जाय उसका इव, यथा, जैसे और दृष्टान्त आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा उदाहरण दिखाया जाय वहाँ उदाहरण अलङ्कार होता है। जैसे—

विपदागत हू सद्गुनी करत सदा उपकार,
ज्यों मूर्च्छित औ मृतक हू पारद है गुनकार ॥१०६॥

पूर्वार्द्ध में कही गई सामान्य बात का उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिया गया है।

बलवानन सों बैर करि बिनसति कुमति नितांत,
यामें हर अरु मदन को ज्यों प्रतच्छ दृष्टांत ॥१०७॥

पूर्वार्द्ध के सामान्य कथन का उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिया गया है।

"जो गुन-हीन महाधन संचित ते न लहै सुखमा जग मांही,
जो गुनवंत बिना धन हैं सु तिन्हैं कवि लोग 'गुविंद' सराहीं,
ज्यों दृग-लोल-विसाल फटे-पट ताहि लखैं जन रीझ बिकाहीं,
नैन-विहीन-तिया मनि-मंडित भूषनसौं कछु भूषित नांही, ॥"१०८॥[११]

पूर्वार्द्ध में जो सामान्य कथन है, उसका उत्तरार्द्ध में उदाहरण दिया गया है।

उदाहरण अलङ्कार की अन्य अलङ्कारों से भिन्नता—

'दृष्टांत' अलङ्कार में उपमेय और उपमान का बिंब प्रतिबिंब भाव होता है और 'ज्यों' आदि उपमा-वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता है।

९

किन्तु उदाहरण अलङ्कार में सामान्य अर्थ को समझाने के लिये उसका एक अंश दिखाया जाता है। प्रायः साहित्याचार्यों ने 'ज्यों' आदि का प्रयोग होने के कारण 'उदाहरण' अलङ्कार को उपमा का एक भेद माना है। पण्डितराज के मतानुसार यह भिन्न अलङ्कार है, उनका कहना है—"उदाहरण अलङ्कार में सामान्य-विशेष्य भाव रहता है—उपमा में यह बात नहीं। और सामान्य-विशेष भाव वाले 'अर्थान्तरन्यास' में 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता और 'उदाहरण' में 'इव' 'ज्यों' आदि शब्दों का प्रयोग होता है इसलिये उदाहरण को भिन्न अलङ्कार मानना ही युक्तिसंगत है।"

(५) उपमेयोपमा अलङ्कार

उपमेय और उपमान को परस्पर में एक दूसरे के उपमान और उपमेय कहे जाने को 'उपमेयोपमा' कहते हैं।

अर्थात् उपमेय को उपमान की और उपमान को उपमेय की उपमा दिया जाना, न कि किसी तीसरी वस्तु की। 'काव्यादर्श' में इसे अन्योन्योपमा नाम से उपमा का ही एक भेद माना है। वस्तुतः यह उपमा का ही एक भेद है।

वह उक्त-धर्मा और व्यंग्य-धर्मा दो प्रकार की होती है—

(१) उक्त-धर्मा भी दो प्रकार की होती है—

(क) समान-धर्मोक्ति। इसमें समान-धर्म कहा जाता है।

(ख) वस्तु प्रतिवस्तु-निर्दिष्ट। इसमें एक ही धर्म दो वाक्यों में कहा जाता है।

(२) व्यंग्य-धर्मा। इसमें समान धर्म शब्द द्वारा उक्त न होकर व्यंग्य से प्रतीत होता है।

समान धर्मोक्ति द्वारा—

"प्रीतम के चख चारु चकोरन है मुसकानि अमी करै घेरो,
रूप रसै बरसै सरसै नखतावलि लौं मुकतावलि घेरो।
'गोकुल' को तन-ताप हरै सब चौन भरै रवि काम करेरो,
वो मुख सो ससि सोहत है बलि सोहत है ससि सो मुख तेरो ॥"१०६॥[१२]

यहाँ मुख और चंद्रमा को परस्पर उपमेय और उपमान कहा है। ताप-हारक आदि समान-धर्म कहे गये हैं।

वस्तु प्रतिवस्तु निर्दिष्ट द्वारा—

सोभित कुसुमन-गुच्छजुत विलसित कुच-जुग धारि,
बनितासी लतिका लसत बनिता लतानुहारि ॥११०॥

यहाँ बनिता और लता को परस्पर में उपमा दी गई है। 'शोभित' और विलसित' एक ही धर्म दो वाक्यों में कहे गये हैं।

व्यंग्य-धर्म—

सुधा संत की प्रकृति सी, प्रकृति सुधा सम जान,
बचन खलन के विष सदस, विष खल-बचन समान ॥१११॥

यहाँ माधुर्य आदि धर्म, शब्द द्वारा नहीं कहे गये हैं—व्यंग्य से प्रतीत होते हैं।

उपमेयोपमा में जिनको परस्पर उपमा दी जाती है उनके सिवा अन्य (तीसरे) उपमान के निरादर किये जाने का उद्देश्य रहता है। अतः जहाँ अन्य (तीसरे) उपमान के तिरस्कार की प्रतीति न हो वहाँ उपमेयोपमा नहीं होती। जैसे—

रवि सम ससि, ससि सदस रवि, निसि सम दिन, दिन रातु,
सुख दुख के बस होय मन, सब विपरीत लखातु ॥ ११२॥

यहाँ रवि और शशि आदि को परस्पर समानता कहने में किसी सरे उपमान के तिरस्कार की प्रतीति नहीं है—केवल सुख दुःख के

वशीभूत चित्त की दशा का वर्णन मात्र है । अतः ऐसे उदाहरणों में उपमेयोपमा नहीं है ।[१]

---

(६) प्रतीप

प्रतीप का अर्थ है विपरीत । प्रतीप अलङ्कार में उपमान को उपमेय कल्पना करने आदि कई प्रकार की विपरीतता होती है । इसके पाँच भेद हैं —

प्रथम प्रतीप

प्रसिद्ध उपमान का उपमेय रूप से कल्पना किया जाना।

दृग के सम नील सरोरुह थे उनको जल-राशि डुबा दिया हा,
तव आनन तुल्य प्रिये! शशिको अब मेघ-घटामें छिपा दिया हा।
गति की समता करते कलहंस उन्हें अति दूर बसा दिया हा,
विधि ने सब ही तव अंग-समान सुदृश्य अदृश्य बना दिया हा[२]॥११३॥

वर्षा काल में वियोगी की उक्ति है । यहाँ सरोरुह (कमल) आदि प्रसिद्ध उपमानों की नेत्र आदि के उपमेय रूप से कल्पना की गई है। दण्डी ने इसको 'विपर्यासोपमा' नाम से उपमा का एक भेद माना है।

द्वितीय प्रतीप

प्रसिद्ध उपमान को उपमेय रूप से कल्पना करके वर्णनीय उपमेय का अनादर किया जाना ।

करती तू निज रूप का गर्व यही अविवेक,
रमा, उमा, ससि, शारदा तेरे सदृश अनेक ॥११४॥

---

१ देखिये अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शिनी व्याख्या उपमेयोपमा प्रकरण।

२ कुवलयानन्द के पद्य का अनुवाद ।

नायिका की सुन्दरता कथन करना यहाँ कवि को अभीष्ट है अतएव नायिका वर्णनीय है। रमा, उमा आदि प्रसिद्ध उपमानों को[१] यहाँ उपमेय बता कर उसका (नायिका का) गर्व दूर किया गया है।

"चक्र हरि-हाथ मांहि, गंग सिव-माथ मांहि
छत्र नरनाथन के साथ सनमान में,
कुंद वृंद बागन में नागराज नागन में,
पंकज तड़ागन में फटिक पखान में।
सुकवि 'गुलाब' हेर्‌यो हास्य हारिनाच्छिन में,
हीरा बहु खाननि में हिम हिम-थान में,
राम ! जस रावरो गुमान करै कौन हेतु,
याके सम देखो लसै चंद आसमान में॥"११५॥[१०]

यहाँ राजा रामसिंह का यश वर्णनीय है। चन्द्रमा आदि प्रसिद्ध उपमानों को उपमेय बताकर वर्णनीय राजा के यश का निरादर किया गया है।

तृतीय प्रतीप

उपमेय को उपमान रूप से कल्पना करके प्रसिद्ध उपमान का निरादर किया जाना।

हालाहल, मत गर्व कर—हूँ मैं क्रूर अपार,
क्या न अरे ! तेरे सदृश खल-जन-वचन, विचार, ॥११६॥

यहाँ दुर्जनों के वचन उपमेय है, उनको हालाहल के समान कहकर उपमान-हालाहल के दारुणतासम्बन्धी गर्व का अनादर किया गया है।

चतुर्थ प्रतीप

उपमान को उपमेय की उपमा के अयोग्य कथन किया जाना।

---

१ श्री लक्ष्मीजी और पार्वतीजी आदि की उपमा नायिकाओं को दी जाती है, इसलिये इनका उपमान होना प्रसिद्ध है।

अर्थात् प्रसिद्ध उपमान को उपमेय के समान कह कर फिर उपमान को उस समानता के (उपमा के) अयोग्य कहना।

तेरे मुख-सा पंकसुत या शशांक यह बात,
कहते हैं कवि झूठ वे बुद्धि-रंक विख्यात॥ ११७॥

कमल और चन्द्रमा मुख के प्रसिद्ध उपमान हैं—यहाँ कमल को मुख की उपमा दी गई है। फिर मुख का उत्कर्ष बताने के लिये उस उपमा को 'यह बात कवि झूठी कहते हैं' इस वाक्य द्वारा अयोग्य कहा गया है।

"दान तुरंगम दीजतु है मृग खंजन ज्यों चलता न तजै पल,
दीजत सिंधुर सिंघलदीप के पीवर-कुंभ भरे मुकता फल।
ग्राम अनेक जवाहिर पुंज निरंतर दीजतु भोज किधौं नल,
मान महीपति के मन आगि लगै लघु कंकर सो कनकाचल॥"११८॥[४१]

यहाँ उपमान—सुमेरु पर्वत को उपमेय—राजा मानसिंह के मन के सादृश्य के अयोग्य कहा है।

"पुण्य तपोवन की रज में यह खेल खेल कर खड़ी हुई,
आश्रम की नवलतिकाओं के साथ साथ यह बड़ी हुई,
पर समता कर सकी न उसकी राजोद्यान मल्लियाँ भी,
लज्जित हुई देखकर उसको नंदन-विपिन वल्लियाँ भी॥" ११९॥ [५०]

यहाँ नंदन-वन की लतिकाओं को उपमेय-शकुन्तला के सादृश्य के अयोग्य सूचन किया है।

पंचम प्रतीप

उपमान का कैमर्थ्य द्वारा आक्षेप किया जाना।

'जब उपमान का कार्य उपमेय ही भलीभांति करने के लिये समर्थ है, फिर उपमान की क्या आवश्यकता है' ऐसे वर्णन को कैमर्थ्य कहते हैं। इस प्रकार की उक्ति द्वारा उपमान का तिरस्कार किया जाना।

करता है क्या न अरविंद द्युति मंद और—
क्या न यह दर्शक को मोद उपजाता है!
देख देख आते हैं चकोर चहुँ ओर क्या न!
देखते ही इसे क्या न काम बढ़ जाता है।
तेरा मुख-चन्द्र प्रिये! देखके अमंद फिर—
क्यों न नभचंद्र यह शीघ्र छिप जाता है,
सुधामय होने से भी मुधा यह दर्पित है
बिंबाधर तेरा क्या न सुधा को लजाता है[1] ॥१२०॥

चन्द्रमा उपमान के कार्य कमलों की कान्ति हरण करना और दर्शकों को आनन्द देना इत्यादि हैं। इन कार्यों को करने की उपमेय मुख में सामर्थ्य बताई गई है। तीसरे पाद में चन्द्रमा की अनावश्यकता कहकर उसका अनादर किया गया है।

"वसुधा में बात रस राखी ना रसायन की
सुधारस पारस की भलीभाँत भानी तैं,
काम कामधेनु को न हाम[2] हुमायू[3] की रही
कर डारी पौरस[4] के पौरुष की हानी तैं।

---

१ अलङ्कारपीयूष में रसालजी ने काव्यकल्पद्रुम (पूर्व संस्करण) के अनेक पद्य उड़ाये हैं। कुछ पद्य, कुछ अक्षर आगे पीछे कर, ज्यों के त्यों रख दिये हैं, उन्हीं में का यह कवित्त भी है। पाठकों को यह भ्रम न हो कि इसमें अलङ्कारपीयूष का भाव चुराया गया है।

२ मारवाड़ी भाषा में इच्छा का नाम 'हाम' है।

३ हुमायू एक पक्षी है वह जिसके सिर पर बैठ जाता है वही सम्राट हो जाता है।

४ मन्त्र के बल से बनाया हुआ सुवर्ण का पुतला जिससे इच्छानु सुवर्ण लेते रहने पर भी वह वैसा ही बना रहता है।

हय गज गाज दान लाख को 'मुरार' कौं दै
भूप जसवन्त कुल-रीति पहिचानी तैं,
चितवन चित्त तें मिटायो चिंतामनिहू को
कलपतरु हू की कीन्हीं अलप कहानी तैं।''१२१॥[४६]

यहाँ कामधेनु और कल्पवृक्ष आदि उपमानों का कार्य राजा जसवन्तसिंह द्वारा किया जाना कह कर कामधेनु आदि उपमानों का निरादर किया गया है।

श्लेष-गर्भित प्रतीप भी होता है—

तारक-तरल[1] पियूषमय हारक छवि अरविंद,
तेरा मुख शोभित यहाँ उदित हुआ क्यों चन्द्र ॥१२२॥

यहाँ 'तारक-तरल' 'पियूष-मय' और 'हारक छवि अरविन्द' श्लिष्ट विशेषण हैं, ये मुख और चन्द्रमा दोनों के अर्थ में समान हैं।

प्राचीनाचार्यों के मतानुसार प्रतीप स्वतन्त्र अलङ्कार लिखा गया है। वस्तुतः प्रतीप के प्रथम तीनों भेद उपमा के अन्तर्गत हैं और चतुर्थ भेद अनुक्त-धर्म व्यतिरेक एवं पंचम भेद एक प्रकार का 'आक्षेप' अलंकार है।[2]

---

(७) रूपक अलङ्कार

उपमेय में उपमान का अभेदरूप से आरोप[3] किये जाने को रूपक अलङ्कार कहते हैं।

---

१ चन्द्रमा के पक्ष में भ्रमण करनेवाले तारों के समूह से युक्त और मुख के पक्ष में नेत्रों में चपल तारक-श्याम बिन्दु।

२ देखिये रसगंगाधर प्रतीप प्रकरण।

३ नाटक आदि दृश्य काव्य में नट में दुष्यन्त आदि के स्वरूप का आरोप किया जाता है, अतः नाटकादि काव्य को रूपक भी कहते हैं—

'अपह्नुति' अलङ्कार में भी उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है, किन्तु उसमें उपमेय का निषेध करके उपमान का आरोप किया जाता है। रूपक में उपमेय का निषेध नहीं किया जाता।

रूपक के भेद इस प्रकार हैं—
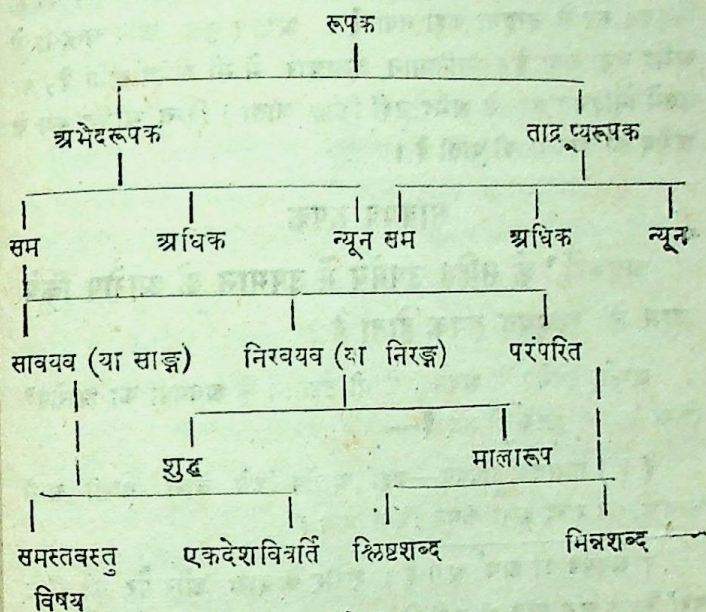
अभेद रूपक

उपमेय में अभेद से उपमान के आरोप किए जाने को अभेद रूपक कहते हैं।

'तद्रूपारोपाद्रूपकम्'—साहित्यदर्पण। इसी रूपक न्याय के आधार पर इस अलङ्कार का नाम रूपक है। रूपक अलंकार में उपमेय में उपमान का आरोप किया जाता है। आरोप का अर्थ है एक वस्तु में दूसरी वस्तु की कल्पना कर लेना।

अभेद का अर्थ है एकता। अभेद रूपक में आहार्य अभेद होता है, भेद होने पर भी अभेद कहा जाता है, अर्थात् अभेद न होने पर भी अभेद कहा जाता है। जैसे 'मुखचन्द्र' में मुख और चन्द्रमा पृथक् पृथक् दो वस्तुएँ होने पर भी—इन दोनों में भेद होने पर भी—मुख को ही निश्चय रूप से चन्द्रमा कहा गया है। अर्थात् मुख और चन्द्रमा में अभेद कहा गया है। भ्रान्तिमान् अलङ्कार में भी अभेद होता है, पर उसमें निश्चित रूप से अभेद नहीं किया जाता। किन्तु भ्रान्ति रूप से अभेद की कल्पना की जाती है।

सावयव रूपक

अवयवों[1] के सहित उपमेय में उपमान के आरोप किये जाने में सावयव रूपक होता है।

अर्थात् उपमेय के अवयवों में भी उपमान के अवयवों का आरोप[2] किया जाना। इसके दो भेद हैं—

(१) समस्तवस्तुविषय—जहाँ आरोप किये जाने वाली सभी वस्तुओं का शब्द द्वारा कथन किया जाय।

---

१ अवयव का अर्थ अंग है। शरीर के हाथ और पैर की भाँति यहाँ केवल अंग मात्र ही नहीं किन्तु उपकरण (सामग्री) को भी अंग माना गया है।

२ जिसका आरोप (रूपक) किया जाता है उसको आरोप्यमाण कहते हैं। आरोप्यमाण से यहाँ उपमान से या उपमान के अवयवों से तात्पर्य है। जिसमें आरोप किया जाता है उसको आरोप का विषय कहते हैं। आरोप के विषय से यहाँ उपमेय या उपमेय के अवयवों से तात्पर्य है। 'मुखचन्द्र' में चन्द्रमा उपमान का मुख-उपमेय में आरोप है, अतः 'चन्द्रमा' आरोप्यमाण है और 'मुख' आरोप का विषय।

(२) एकदेशविवर्ति—कुछ अवयवों (अङ्गों) में उपमान का आरोप शब्द द्वारा स्पष्ट किया जाय और कुछ अवयवों में उपमान का आरोप शब्द द्वारा न किया जाकर अन्य आरोपों के सम्बन्ध द्वारा अर्थ के बल से ज्ञात होता हो वहाँ एकदेश विवर्ति रूपक होता है।

सावयव समस्तवस्तुविषय—

नभ व्योम-सरोवर[१] में निखरा सखि ! है यह नीलिम-नीर[२] भरा,
अति भूषित है उडुगावलि[३] का मुकुलावलि-मंडल[४] रम्य घिरा।
दल षोडस[५] हैं नव पल्लव ये जिनकी छबि से यह है उभरा
शशि-कंज विकासित है जिसमें स्थित है यह अंक-मिलिन्द[६] गिरा ॥१२३

चन्द्रमा को कमल रूप कहागया है। चन्द्रमा—उपमेय में उपमान—कमल का आरोप है और उपमेय—चन्द्रमा के अवयवों में (आकाश, आकाश की नालिमा, तारागण और सोलह-कला आदि अंगों में) भी उपमान-कमल के अवयवों का (सरोवर, जल, कमल-कलिकायें, पत्र आदि अंगों का) आरोप किया गया है। और चन्द्रमा आदि सभी आरोप के विषय और कमल आदि सभी आरोप्यमाण शब्द द्वारा कहे गये हैं, अतः समस्तवस्तुविषय सावयव रूपक है।

"आनन अमल चंद्र-चंद्रिका पटीर-पंक,
दसन अमंद कुंद-कलिका सुढंग की।
खंजन नयन, पदपानि मृदु कंजनि के
मंजुल मराल चाल चलत उमंग की।

---

१ आकाश रूप सरोवर। २ आकाश की नीलिमा रूपी जल।
३ तारागण। ४ कमल की अधखिली कलियों का समूह।
५ चन्द्रमा की सोलह कला।
६ चन्द्रमा में कलंक है वही भ्रमर बैठा हुआ है।

कवि 'जयदेव' नभ नखत समेत सोईं
ओढ़े चारु चूनरि बीन नील रंग की।
लाज भरी आज ब्रजराज के रिझाइबे कीं
सुन्दरी सरद सिधाई सुचि अंग की ॥''१२४॥ [१६

यहाँ शरद्-ऋतु में सुन्दरी-नायिका का रूपक है। शरद की सामग्री चन्द्र, चन्द्रिका, कुन्द-कलिका, खंजन और कमल आदि में भी मुख, पटीरपंक (चन्द), दन्त, नेत्र, हाथ और चरण आदि कामिनी के अंगों का आरोप है, शरद आदि आरोप के विषय और कामिनी आदि आरोप्यमाण सभी का शब्दों द्वारा कथन किया गया है।

''रनित भृङ्ग घंटावली[1] झरित दान मधु-नीर,
मंद मंद आवत चल्यो कुंजर-कुंज समीर ॥१२५॥[४१

यहाँ कुञ्ज की समीर में हाथी का आरोप है। समीर की सामग्री भृंग और मकरन्द में हाथी के घंट और दान (मद-जल) का आरोप है।

सावयव एकदेशविवर्ति—

[2]भव-ग्रीषम की तन-ताप प्रचंड असह्य हुई जलते-जलते,
बल से अविवेक-जँजीर उखाड़ नहीं रुकते चलते चलते।
उस आत्म-सुधा-सर के तट जा सुकृती जन मज्जन हैं करते,
अति शीतल निर्मल वृत्ति मयी झरने जिसमें रहते झरते ॥१२६॥

१ भृंगों की गुञ्जार रूप घण्टा।

२ संसार के ताप से तप्त होकर अज्ञान रूप जंजीर को बलपूर्वक तोड़कर पुण्यात्मा जन आत्मा के तत्त्व रूपी अमृत के सरोवर में जाकर मज्जन करते हैं, जहाँ एकाकारवृत्ति रूप शीतल झरने सर्वदा सब तापों को हरनेवाले बहते रहते हैं।

यहाँ सत्पुरुषों में हाथी का रूपक है। भव (संसार) में ग्रीष्मऋतु का और अज्ञान में जंजार (लोहे का सांकल) का आरोप शब्द द्वारा किया गया है। अतः यह आरोप शब्द द्वारा किये गये हैं। सुकृतीजनों में हाथी का आरोप शब्द द्वारा नहीं किया गया है; वह जंजीर आदि अन्य आरोपों के सम्बन्ध द्वारा अर्थ-बल से ज्ञात होता है, क्योंकि जंजीर से हाथी का बन्धन होना प्रसिद्ध है अतः एकदेशविवर्तिसावयव है।

रूप-सलिल अति चपल चख नाभि-भँवर गंभीर,
है बानता सरिता विषम जहँ मज्जत मति-धीर ॥ १२७ ॥

यहां नायिका को नदी रूप कहा है। नायिका के रूप को जल और उसकी नाभि को भँवर (जल में पड़नेवाला भँवर) शब्द द्वारा कहा गया है, अतः यह आरोप शब्द द्वारा है। नेत्रों को केवल चपल कहा गया है—नेत्र में मीन का आरोप शब्द द्वारा नहीं किया गया है। नदी में चपल मीनों का होना सिद्ध है; इसलिये नदी के अन्य आरोपों के सम्बन्ध से नेत्रों में मीन का आरोप अर्थ-बल द्वारा जाना जाता है। अतः एकदेशविवर्ति सावयव रूपक है।

निरवयव (निरङ्ग) रूपक

अवयवों से रहित केवल उपमान का उपमेय में आरोप किये जाने में निरवयव रूपक होता है।

अर्थात् अवयवों के बिना केवल उपमान का उपमेय में आरोपकिया जाना। इसके दो भेद हैं—

(१) **शुद्ध**—एक उपमेय में एक उपमान का अवयव के बिना आरोप होना।

(२) **मालारूप**—एक उपमेय में बहुत से उपमानों का अवयवों के बिना आरोप होना।

शुद्ध निरवयव—

"अनुराग के रंगनि रूप-तरंगन अंगनि ओप मनौ उफनी,
कहि 'देव' हियो सियरानी सबै सियरानी को देखि सुहाग सनी।
बर-धामन बाम चढ़ी बरसैं मुसुकानि-सुधा घनसार घनी,
सखियान के आनन-इंदुन तें अंखियान की बंदनवारि तनी ॥"१२८॥

यहाँ मुसक्यान में सुधा का, आनन में इंदु (चन्द्रमा) का और अंखियान में बन्दनवार का आरोप है। इनके अवयव नहीं कहे गये हैं।

निरवयव मालरूपक—

"साधन की सिद्धि रिद्धि साधुन अराधन की,
सुभग समृद्धि वृद्धि सुकृत- कमाई की,
कहै 'रतनाकर' सुजस- कल- कामधेनु,
ललित लुनाई राम- रस- रुचराई की।
सब्दनि की बारी चित्रसारी भूरि भावनि की,
सरबस सार सारदा की निपुनाई की,
दास तुलसी की नीकी कबिता उदार चारु,
जीवन अधार औ सिंगार कबिताई की ॥"१२९॥

यहाँ गोस्वामी तुलसीदासजी की कविता में साधनों की सिद्धि आदि अनेक निरवयव उपमानों का आरोप है, अतः निरवयव माल रूपक है।

परंपरित रूपक

जहाँ एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है वहाँ परंपरित रूपक होता है।

'परंपरित' का अर्थ है परंपरा आश्रित। अर्थात् कार्य और कारण रूप से आरोपों की परंपरा होना—उपमेय में किये गये एक आरोप

दूसरे आरोप के आश्रित होना। अतः 'परंपरित' रूपक में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है। इसके दो भेद हैं—

(१) श्लिष्ट-शब्द-निबन्धन। श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग में रूपक हो।

(२) भिन्न-शब्द-निबन्धन। श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग बिना भिन्न-भिन्न शब्दों में रूपक हो।

ये दोनों 'मालारूप' भी होते हैं।

श्लिष्ट शब्दनिबंधन परंपरित—

अद्‌भुत निज-अलोक सौं त्रिभुवन कीन्ह प्रकास,
मुक्तारत्न सुवंस-भव नृप! तुम हो गुन-रास ॥" १३० ॥

वंश शब्द श्लिष्ट है, इसके दो अर्थ हैं—बाँस और कुल। कुल में जो बाँस का आरोप है, वह राजा में तोती के आरोप करने का कारण है। क्योंकि राजा को मुक्तारत्न कहना तभी सिद्ध हो सकेगा जब मोतियों के उत्पन्न होने के स्थान बाँस[1] का राजा के कुल में आरोप किया जायगा। एक उपमेय में एक ही उपमान का आरोप है, अतः शुद्ध श्लिष्ट-शब्द-निबन्धन परंपरित है।

"सखि! नील-नभस्सर में उतरा यह हंस अहो तरता तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिमबिंदु बचे तब भी चलता उनको धरता धरता,
गड़ जाय न कंटक भूतल के कर डाल रहा डरता डरता ॥'१३१॥[५०]

इस प्रभात वर्णन में 'हंस' और 'कर' श्लिष्ट-शब्द है। हंस (सूर्य) में हंस (पक्षी) का जो आरोप है वह नभ में सरोवर के, तारागणों में मोतियों के और कर (किरणों) में कर (हाथ) के आरोप का कारण है। क्योंकि सूर्य को हंस रूप कहा जाने के कारण ही नभ को सरोवर, तारागणों को मोती और किरणों को हाथ कहा जाना सिद्ध होता है।

---

१ बाँस में मोती का होना प्रसिद्ध है।

'लेके विसराम[1] द्विजराज[2] के[3] अघाय जाय,
दौरि दौरि टारै सीत छाया श्रम दाह के।
सेवैं कोटरीन[4] घने अध्वग[5] अधीन हेय[6],
पीन होइबे कौं रहि लेत फल लाइ के।
केते पच्छचाह[7] के उछाह के उमाहे रहे,
मंजु मधु-भोजी करैं मधु अवगाह के।
बाँह[8] के मैं वचन सराह के कहालौं कहौं,
राह के रसाल[9] कोस[10] राम-नरनाह के ॥'१३२॥ [६

बूंदी नरेश रामसिंह के कोश (खजाने) में राह के रसाल (मार्ग के आम्र वृक्ष) का आरोप है। जब तक द्विज आदि में पक्षी आदि का आरोप नहीं किया जाता तब तक 'कोश' में 'रसाल' का आरोप सिद्ध नहीं हो सकता है। यहाँ 'द्विजराज' आदि शब्द श्लिष्ट हैं।

श्लिष्ट-शब्द-निबन्धन मालारूप परंपरित।

अरिकमलासंकोच-रवि गुनि-मानस- सुमराल,
विजय-प्रथम-भव-भीम तुम चिरजीवहु भुविपाल[2] ! ॥१३३॥

---

१ आश्रय। २ आम के वृक्ष के अर्थ में द्विज—पक्षी और राजा के अर्थ में द्विज—ब्राह्मण। ३ कितनेक। ४ आम के अर्थ में पक्षियों के रहने के कोटर—स्थान, राजा के अर्थ में कोठरी अर्थात् घर। ५ पथिक। ६ मार्ग चलना छोड़कर। ७ आम के अर्थ में पक्षी और राजा के अर्थ में पक्ष अर्थात् सहाय। ८ स्तुति के वाक्य। ९ रसाल—आम वृक्ष, राजा के अर्थ में रस के स्थान। १० भंडार, खजाना।

११ हे नृप, तुम शत्रुओं की कमला (लक्ष्मी) को संकुचित करने वाले (श्लेषार्थ-कमल को असंकुचित करने वाले प्रफुल्लित करने वाले) सूर्य हो, गुणीजनों के मानस (चित्त) रूप मानस (मानसरोवर) में रहने वाले हंस रूप हो और विजय के प्रथम रहने वाले हो अथवा विजय (अर्जुन) के प्रथम उत्पन्न होने वाले भीमसेन रूप हो।

अरिकमलासकोच', 'मानस' और 'विजय-प्रथम-भव-भीम' श्लिष्ट पद हैं। 'मानस' (चित्त) आदि में श्लेष द्वारा मानसरोवर आदि का जो आरोप है वह राजा में हंस आदि के आरोप का कारण है। क्योंकि जब तक हंस के निवास स्थान मानसरोवर आदि का रूपक मानस आदि में न किया जाय, तब तक राजा को हंस आदि कहना सिद्ध नहीं हो सकता है। यहाँ राजा में 'रवि' 'मराल' आदि अनेक आरोप किये जाने से मालारूपक है।

इस श्लिष्ट शब्दात्मक रूपक में श्लिष्ट-शब्दों का चमत्कार शब्द के आश्रित है और रूपक का चमत्कार अर्थ के आश्रित है, अतः यद्यपि यह शब्दार्थ उभय अलङ्कार है किंतु इसमें रूपक(जो अर्थालङ्कार है) का चमत्कार प्रधान है क्योंकि राजा को 'रवि' 'हंस' और 'भीमसेन' कहना ही अभीष्ट है। अतः 'श्लेष' इस रूपक का अंग मात्र है, अतः इसे अर्थालङ्कारों में लिखा गया है।

भिन्नशब्द-निबन्धन परंपरित।

"ऐसो हौं जानतो कि जइ है तू विषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ पांव तेरे तोरतो;
आजु लौं कितेक नरनाहन की नांही सुनि,
नेह सौं निहारि हारि बदन निहोरतो
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि
चाबुक चिताउनी ते मारि मुँह मोरतो,
भारी प्रेम पाथर नगारा दै गरे सौं बांधि,
राधावर-बिरह के बारिधि में बोरतो॥"१३४ [२७]

यहाँ 'प्रेम' में पत्थर का जो आरोप है उसका कारण 'राधावर बिरह' में समुद्र का आरोप है—राधावर-बिरह में समुद्र के आरोप किये जाने पर ही प्रेम में पत्थर का आरोप बन सकता है। और प्रेम में

पत्थर आदि का आरोप भिन्न-भिन्न शब्दों में है, न कि श्लिष्ट शब्दों में, अतः भिन्नशब्द-निबन्धन परंपरित है।

"हय गज रथादिक थे जहाँ पाषाण-खंड बड़े बड़े,
सिर, कच, चरण, कर आदि हो जल-जीव जिसमें थे पड़े।
ऐसे रुधिर-नद में वहाँ रथ रूप नौका पर चढ़े—
श्रीकृष्ण-नाविक युक्त अर्जुन पार पानेको बढ़े ॥"१३५[५०]

यहाँ अर्जुन के रथमें नौका का आरोप ही श्रीकृष्ण में नाविक के आरोप का कारण है। यहाँ रणभूमि और रुधिर-नद के पाषाण खण्ड आदि अंगों का कथन होने में जो सावयव रूपक है वह परंपरित रूपक का अंग है।

"या भव पारावार को उलंघि पार को जाइ
तिय-छबि-छाया-ग्राहिनी गहै बीच ही आइ ॥"१३६॥ [४३]

यहाँ स्त्रियों की सुन्दरता में छायाग्राहणी[१] के आरोप का कारण संसार में समुद्र का आरोप है।

भिन्न शब्द मालारूप परंपरित

"वारिधि के कुम्भज[२] घन-बन के दवानल,
तरुन-तिमिर[३] हू के किरन-समाज[४] हौ।
कंस के कन्हैया, कामधेनु हू के कंटकाल,
कैटभ[५] के कालिका, विहंगम के बाज हौ।
'भूषन' भनत जग जालिम के सचीपति[६]
पन्नग के कुल के प्रबल पच्छिराज[७] हौ।
राबन के राम, सहस्रबाहु के परसुराम,
दिल्लीपति-दिग्गज के सिंह सिवराज हौ ॥"१३७ [४७]

---

१ समुद्र में रहने वाला ऐसा जीव जो समुद्र के ऊपर जाने वाले की छाया को ग्रहण करके उन्हें अपनी तरफ आकर्षित कर लेता है। २ अगस्त्य मुनि। ३ घोर अन्धकार। ४ सूर्य। ५ एक दैत्य। ६ इंद्र। ७ गरुड़।

यहाँ शिवराज में अगस्त्य आदि के आरोप का कारण दिल्लीपति बादशाह में समुद्र आदि का आरोप किया जाता है। अगस्त्य और दावानल आदि बहुत से आरोप हैं अतः मालारूप है। ये आरोप भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा हैं, अतः भिन्न शब्द परंपरित है।

सावयव रूपक और परंपरित रूपक का पृथक्करण—

सावयव रूपक में एक प्रधान आरोप होता है और अन्य आरोप उसके अंगभूत होते हैं अर्थात् प्रधान आरोप सुप्रसिद्ध होता है—वह अन्य आरोपों के बिना ही सिद्ध हो जाता है[1]—उसके लिए दूसरा आरोप नियत (अपेक्षित या आवश्यक) नहीं होता। जैसे—'कल व्योम सरोवर में निखरा सखि..........." इस पद्य में चन्द्रमा में जो कमल का प्रधान आरोप है वह प्रसिद्ध है अतः वह 'नभ' आदि में सरोवर आदि के आरोप किये बिना ही सिद्ध हो जाता है। अतः इस के लिये नभ आदि में सरोवर आदि का आरोप अपेक्षित नहीं है—रूपक को केवल सावयव बनाने के लिये ही चन्द्रमा के अवयवों में कमल के अवयवों का आरोप किया गया है।

परंपरित रूपक में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है, अर्थात् एक आरोप दूसरे आरोप के बिना सिद्ध नहीं हो सकता[2]। जैसे—'ऐसो हौं जानतो........' पद्य में राधावरविरद में बन

---

१ 'साङ्गरूपके तु वर्णनीयस्याङ्गिनः रूपणं सुप्रसिद्धसाधर्म्यनिमित्तकमेव न तु तत्राङ्गरूपणमेव निमित्तम्. तस्य तद्विनाऽप्युपपत्तेः। काव्यप्रकाश, वामनाचार्य-व्याख्या, पृ० ७२७–७२८। और देखिये, रसगङ्गाधर पृ० २३४।

२ 'नियते वर्णनीयत्वेनावश्यके प्रकृते यः आरोप........' काव्यप्रकाश, वामनाचार्य-व्याख्या, पृ० ७२८। और साहित्यदर्पण परिच्छेद १०।३३ वृत्ति।

तक समुद्र का आरोप नहीं किया जायगा, प्रेम में पत्थर का जो आरोप किया गया है, वह सिद्ध नहीं हो सकेगा क्योंकि राधावर और समुद्र का साधर्म्य प्रसिद्ध नहीं अतएव एक आरोप दूसरे आरोप का कारण है। सावयव और परंपरित रूपक में यही भेद है।

'भारतीभूषण' में सावयव रूपक का निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है।

"सूरजमल कबि-वृंद-रबि गुरु-गनेस-अरबिंद,
पोषे सुमति-मरंद दै मो से मलिन मिलिंद ॥"

इस उदाहरण में सावयव नहीं किन्तु परंपरित है। वक्ता में जो मिलिंद (भ्रमर) का आरोप है वह महाकवि सूर्यमल में 'रवि' और स्वामी गणेशपुरी में अरविंद का आरोप किये बिना सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि वक्ता का और भ्रमर का साधर्म्य अप्रसिद्ध है अतः एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होने से परंपरित है।

ऊपर दिये हुए सभी उदाहरणों में उपमेय में उपमान का आरोप समानता से—कुछ न्यूनता या अधिकता के बिना किया गया है। अतः ये सभी सम-अभेद रूपक के उदाहरण हैं। भामह, उद्भट और मम्मट आदि ने केवल सम-अभेद-रूपक ही लिखा है। साहित्यदर्पण और कुवलयानन्द में 'अधिक' और 'न्यून' रूपक भी लिखे हैं—

अधिक और न्यून रूपक

उपमेय में आरोप होने से पहिले की उपमान की स्वाभाविक अवस्था की अपेक्षा उपमेय में आरोप किये जाने के बाद जहाँ कुछ अधिकता कही जाती है वहाँ अधिक रूपक और जहाँ कुछ न्यूनता कही जाती है वहाँ न्यून-रूपक होता है।

दण्डी ने अधिक रूपक को व्यतिरेक रूपक के नाम से लिखा है[१]।

अधिक रूपक—

"कंचन की बेल सी अलेल इक सुन्दरी ही,
अंग अलबेज गई गोकुल की गैलै है ;
पातरे वसन वारी कंचुकी कसन वारी,
मो-मन लसन वारी परी जाकी ऐलै है।
'ग्वाल' कवि पीठि पै निहारी सटकारी कारी,
तब तै विथा की बढ़ी भूलि गई सैलै हैं ;
आली! हम कालीको उतालो नाथ लीयो हुतौ,
वाकी बैनी-व्यालीको बिलोकै बिष फैलै है॥"१३८[६]

यहाँ वेणी में व्याली (सर्पिणी) का आरोप किया गया है। सर्पिणी के काटने से ही विष फैलता है। वेणी रूप सर्पिणी के देखने मात्र से विष का फैल जाना, वह अधिकता कही गई है।

"सुनि समुझहि जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग,
लहहिं चार फल अछत तनु साधु-समाज-प्रयाग॥"१३९॥ [२२]

यहाँ साधु-समाज में प्रयागराज का आरोप है। प्रयागराज के सेवन से मरने के बाद मुक्ति मिलती है। साधु-समाजरूपी प्रयागराज द्वारा 'अछत तनु' (इसी शरीर में) चारों फलों का (धर्म, अर्थ काम और मोक्ष का) मिलना यह अधिकता कही गई है।

वास्तव में 'अधिक' रूपक 'व्यतिरेक' अलङ्कार से भिन्न नहीं है।

न्यून रूपक—

है चतुरानन-रहित विधि द्वै भुज रमानिवास,
भाल-नयन बिन संभु यह राजतु हैं मुनि व्यास॥१४०॥

१ काव्यादर्श २।८८-९०

यहाँ श्रीवेदव्यास जी को चार मुख रहित ब्रह्मा, दो भुजा वाले श्री विष्णु और ललाट के नेत्र रहित शिव कहकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव उपमानों की स्वाभाविक अवस्था से कुछ न्यूनता कही गई है।

ताद्रूप्य रूपक

उपमेय को उपमान का जहाँ भिन्न रूप (उपमान का ही दूसरा रूप) कहा जाता है वहां ताद्रूप्य रूपक होता है।

ताद्रूप्य रूपक केवल कुवलयानन्द में लिखा है, अन्य प्राचीन ग्रंथों में इसका उल्लेख नहीं है। ताद्रूप्य भी अधिक और न्यून होता है—

अमिय झरत चहुँ ओर अरु नयन-ताप हरिलेत,
राधा-मुख यह अपर ससि सतत उदित सुख देत ॥ १४१ ॥

यहाँ 'अपर ससि' पद द्वारा श्री राधिकाजी के मुख—उपमेय को उपमान—चन्द्रमा से भिन्न चन्द्रमा कहा गया है। 'सतत उदित' के कथन से यह अधिक ताद्रूप्य है।

"वह कोकनद-मद-हारिणी क्यों उड़ गई मुख-लालिमा,
क्यों नील-नीरज-लोचनों की छा गई यह कालिमा।
क्यों आज नीरस दल सदृश मुख-रंग पीला पड़ गया,
क्यों चंद्रिका से हीन है यह चंद्रमा होकर नया ॥"१४२॥[३८]

इस विरह दशा के वर्णन में दमयन्ती के मुख को 'नया चन्द्रमा' कहने में ताद्रूप्य रूपक है। और 'चन्द्रिका से हीन' कहने के कारण यह न्यून ताद्रूप्य है।

काव्यनिर्णय में भिखारीदासजी ने न्यून ताद्रूप्य का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"कंज के संपुट हैं ये खरे हिय में गड़ि जात ज्यों कुंत की कोर है,
मेरु हैं पै हरि-हाथ में आवत चक्रवती पै बड़े ही कठोर हैं।

आवती ! तेरे उरदोजनि में गुन 'दास' लखे सब औरहिं और हैं,
संभु हैं पै उग्रबानै मनोज सुवृत्त है पैपरचित्त के चोर हैं ॥१४३॥[४६]

इसमें स्तनों में जिस संभु आदि का आरोप है उनके साथ स्तनों का विलक्षण वैधर्म्य दिखाकर विरोध बताया गया है—सभी आरोप प्रायः विरोध की पुष्टि करते हैं। अतः इसमें न्यून-ताद्रूप्य-रूपक नहीं है, 'विरोधाभास' अलङ्कार प्रधान है।

'रामचन्द्रभूषण' में लछिरामजी ने 'अधिक' ताद्रूप्य का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"बसत मलीन वह वामी में बिसासी; यह,
मखमली म्यान सौं लहरबाज लाली तें;
'लछिराम' जग धूम-धाम की लपट यामें,
वह दबिजात परसत मुख ढाली तें।
वह काटि भागै यह कातिल रुकै न राव,
रामचन्द्र-कर वर पावै मुंडमाली तें;
जौहर ज्वलित भरी कहर कृपान वह्नि,
अधिक-बहाली धन-मालिनी फनाली तें॥"१४४[५५]

इसमें न तो ताद्रूप्य रूपक है और न अभेद रूपक ही—न तो कृपाण में सर्पिणी का तद्रूपता से आरोप है और न अभेद से ही। 'बसत मलीन वह वामी' इत्यादि विशेषणों द्वारा उपमान सर्पिणी का अपकर्ष, और 'यह मखमली म्यान' इत्यादि विशेषणों द्वारा उपमेय भगवान रामचन्द्र के कृपाण का उत्कर्ष वर्णन है, अतः स्पष्टतया शुद्ध व्यतिरेक अलङ्कार है।

काव्यादर्श में दण्डी ने रूपक के रूपक-रूपक, युक्त, अयुक्त और हेतु रूपक आदि कुछ और भी भेदों का निरूपण किया है। जैसे—

रूपक-रूपक।

रूपक का भी रूपक अर्थात् उपमेय में एक उपमान का आरोप करके फिर एक और आरोप किया जाना, जैसे—

तो मुख-पंकज-रंग-थल लखि मो-मन ललचाय,
जहँ भ्रू-लतिका-नर्तकी भाव-नृत्य दिखराय ॥१४५॥

यहाँ मुख में कमल का आरोप करके फिर मुखरूप कमल में रंगमंच का एक और आरोप किया गया है। और भ्रू में लतिका का आरोप करके फिर भ्रुकुटी रूप लतिका में दूसरा आरोप नर्तकी का किया गया है। दण्डी के जिस पद्य का यह अनुवाद है उस संस्कृत पद्य के भाव पर कविप्रिया में रूपक-रूपक का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"काछें सितासित काछनी "केसव' पातुरीज्यों' पातुरीनि विचारो,
कोटि कटाच्छ चलैं गति भेद नचावत नायक नेह निनारो,
बाजतु है मृदु-हास मृदंग सुदीपति दीपन को उजियारो,
देखत हौं हरि! हेरि तुम्हेंयहि होत है आंखिनही में अखारो ॥"१४६[७]

इसमें नेत्रों में केवल अखाड़े (रंगमंच) का साङ्ग आरोप है। अतः साधारण रूपक है—रूपक-रूपक नहीं। यदि नेत्रों में पङ्कज आदि का एक आरोप करके फिर नेत्रों में अखाड़े का दूसरा आरोप किया जाता तो रूपक-रूपक हो सकता था। संभवतः महाकवि केशव दासजी, दण्डी के रूपक-रूपक का यथार्थ स्वरूप नहीं समझने के कारण इसका लक्षण और उदाहरण उपयुक्त नहीं लिख सके।

युक्त रूपक—

स्मित-बिकसित कुसुमावली चल दृग लसत मिलिंद,
तेरे मुख कौं देखि सखि, ह्वै चित्त अमित अनंद ॥१४७॥

यहाँ स्मित में पुष्प का और चञ्चल नेत्रों में भृंग का आरोप है। पुष्प और भृंगों का सम्बन्ध युक्त (उचित) है, अतः युक्त रूपक है।

अयुक्त रूपक—

स्निग्ध-नयन पंकज सुभग ससिदुति है मृदु-हास,
कलित अलक नागिनि ललित तेरो मुख सविलास ॥१४८॥

यहाँ नेत्र में पङ्कज का और मृदु-हास्य में चन्द्रमा की चाँदनी का आरोप है। इसमें कमल और चाँदनी परस्पर विरोधियों का अयुक्त सम्बन्ध होने के कारण अयुक्त रूपक है।

हेतु रूपक—

हो समुद्र गांभीर्य सौं गौरव सौं गिरि रूप,
कामदता सौं कलपतरु सोभित हो तुम भूप ॥१४६॥

यहाँ गांभीर्य आदि साधारण धर्म समुद्र आदि उपमानों के कारण बताये गये हैं, अतः आचार्य दण्डी के मतानुसार यह हेतु रूपक है।

रूपक की ध्वनि—

हरत दसौं दिस को तिमिर ताप तुरत विनसात,
तेरो बदन सहास लखि सकुचि जात जलजात ॥१५०॥

यहाँ मुख को चन्द्र रूप शब्द द्वारा नहीं कहा गया है। मुख को तिमिर-नाशक, ताप-हारक और कमलों को संकुचित करनेवाला कहा गया है। इसके द्वारा मुख में चन्द्रमा का आरोप व्यञ्जना से ध्वनित होता है। अतः रूपक की ध्वनि है।

"दियो अरघ, नीचै चलौ संकटु भानौ जाइ,
सुचिती ह्वै औरैं सबै ससिहि बिलोकैं आइ ॥"१५१॥ [४३]

नायिका के प्रति सखी की इस उक्ति में नायिका के मुख में शशि का आरोप शब्द द्वारा नहीं है-- उसकी प्रतीति व्यञ्जना से होती है।

———

(८) परिणाम अलङ्कार

किसी कार्य के करने में असमर्थ उपमान जहाँ उपमेय से अभिन्न रूप होकर उस कार्य के करने को समर्थ होता है वहाँ परिणाम अलङ्कार होता है।

परिणाम का अर्थ है अवस्थान्तर प्राप्त होना। परिणाम अलङ्कार में उपमेय की अवस्था को प्राप्त होकर उपमेय का कार्य उपमान करता है। अर्थात जहाँ अकेला उपमान, ऐसे कार्य करने में—जिसे उपमेय ही कर सकता है—असमर्थ होने के कारण, उपमेय से एकरूप होकर उस कार्य को करता है, वहाँ परिणाम होता है। जिस प्रकार उत्प्रेक्षा-वाचक मनु, जनु आदि और उपमा-वाचक इव, सम, आदि शब्द हैं, उसी प्रकार परिणाम में 'होना' 'करना' अर्थ वाली क्रियाओं का प्रयोग होता है।

अमरी-कबरी भार-गत भ्रमरिन मुखरित मंजु[1],
दूर करैं मेरे दुरित गौरी के पद-कंजु॥१५२॥

यहाँ गौरी के पद उपमेय हैं और कमल उपमान है। पापों को दूर करने का कार्य श्रीगौरी के चरण ही कर सकते हैं, न कि उपमान-कमल क्योंकि कमल जड़ है। जब कमल-उपमान गौरी के पद-उपमेय से एक रूप हो जाता है, अर्थात् पद-रूपी कमल कहा जाता है तब वह पापों के दूर करने का कार्य कर सकता है।

इस अपार संसार विकट में विषम विषय-वन गहन महा,
किया बहुत ही भ्रमण किंतु हा! मिला नहीं विश्राम वहाँ।

---

१ प्रणाम करती हुई देवांगनाओं के सुगन्धित केशपाश पर बैठे हुए भौंरों के शब्दायमान होने वाले गौरी के पाद-पद्म।

होकर श्रांत भाग्यवश अब मैं हरि-तमाल[1] के शरण हुआ,
हरण करेगा ताप वही रहता यमुना-तट स्फुरण हुआ ॥१५३॥

तमाल वृक्ष (उपमान) द्वारा संसार-ताप हरने का कार्य नहीं हो सकता है। तमाल को हरि (उपमेय) से एक रूप करने पर वह संसार-ताप नष्ट करने के कार्य को कार्य को करने में समर्थ हो जाता है।

परिणाम और रूपक का पृथक्करण—

'परिणाम' और 'रूपक' के उदाहरण एक समान प्रतीत होते हैं। पण्डितराज[2] ने रूपक और परिणाम में यह पृथक्ता बताई है कि जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य को करने में असमर्थ होने के कारण उपमेय से एक रूप होकर उस कार्य को अर्थात् उपमेय द्वारा होने योग्य कार्य को कर सकता है वहाँ 'परिणाम' होता है, और जहाँ उपमान स्वयं किसी कार्य को करने में समर्थ होता है वहाँ 'रूपक' जैसे—

जो चाहतु चित सांत तो सुनु सत-वचन पियूष।

यहाँ सत-वचन उपमेय है और पीयूष (अमृत) उपमान। अमृत में सुने जाने की शक्ति नहीं है, किन्तु वह सत्पुरुष के वचनों से एक रूप होने पर सुना जाने का कार्य कर सकता है; अतः परिणाम है। और—

जो चाहतु चित सांत तो पिव सतवचन-पियूष।

'सुनु' के स्थान पर यहाँ 'पिव' कर देने के कारण 'रूपक' हो जाता है—'पीयूष' अपने रूप से पान कराने का कार्य करने में समर्थ है।

अलङ्कारसर्वस्वकार का मत पण्डितराज के इस मत से विपरीत है। सर्वस्वकार के मतानुसार—

---

१ श्रीहरिरूप तमाल—श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण।

२ देखिये, रसगंगाधर में परिणाम अलंकार-प्रकरण।

सौमित्री की मैत्रि मय आतर पाय अपार,
केवट प्रभु को लैगयो सुरसरि-पार उतार ॥ १५४ ॥

इसमें लक्ष्मणजी की मैत्री उपमेय और आतर (नाव का किराया) उपमान है। उपमेय मैत्री ने उपमान आतर का कार्य (गंगाजी के पार उतारना रूप कार्य) किया है—उपमेय ने उपमान रूप होकर उपमान का कार्य किया है अर्थात् पंडितराज ने जिसे रूपक का विषय बतलाया है उसे सर्वस्वकार ने परिणाम का विषय माना है। और सर्वस्वकार ने रूपक और परिणाम में यह भेद बताया है कि रूपक में आरोप्यमाण (उपमान) का किसी कार्य करने में औचित्य-मात्र होता है। जैसे—'मोद देत मुखचंद' में मोद देने की क्रिया करने में आरोप्यमाण चन्द्रमा के बिना भी मुख (उपमेय) स्वयं समर्थ है—मुख में चन्द्रमा का आरोप करने में औचित्य-मात्र है; अतः रूपक है। और 'तिमिर हरत मुखचंद' में अन्धकार को हटाने का कार्य चन्द्रमा के आरोप के बिना मुख स्वयं नहीं कर सकता, अतः परिणाम है। किन्तु सर्वस्वकार के मतानुसार रूपक और परिणाम का विषय-विभाजन भली भाँति नहीं हो सकता। पण्डितराज का मत ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

काव्यप्रकाश में परिणाम को स्वतन्त्र अलङ्कार न लिखने का कारण परिणाम का रूपक के अन्तर्गत होना ही उद्योतकार ने बतलाया है।

परिणाम की ध्वनि—

क्यों संतापति ह्वै रह्यौ अरे, पथिक मति मंद !
जाहु स्याम-घन की सरन हरन-ताप सुखकंद ॥ १५५ ॥

वाच्यार्थ में यहाँ संतापित पथिक को मेघ-छाया का सेवन करने के लिये कहा गया है। 'मतिमंद' पद द्वारा पथिक का संसार-ताप से तापित होना ध्वनित होता है। संसार-ताप को श्यामघन (मेघ) अपने रूप से दूर करने में अशक्त है—व्यंग्यार्थ द्वारा उसको (मेघ को) घनश्याम

श्री कृष्ण से एक रूप किये जाने पर वह संसार-ताप को नष्ट करने का कार्य कर सकता है, अतः परिणाम की ध्वनि है।

(६) उल्लेख अलङ्कार

एक वस्तु का निमित्त भेद से—ज्ञाताओं के भेद के कारण अथवा विषय भेद के कारण—अनेक प्रकार से उल्लेख—वर्णन—किये जाने को उल्लेख कहते हैं।

उल्लेख का अर्थ है लिखना, वर्णन करना। इसके दो भेद होते हैं।

प्रथम उल्लेख—

ज्ञाताओं के भेद के कारण अर्थात् भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा एक वस्तु का अनेक प्रकार से उल्लेख किये जाने को प्रथम उल्लेख कहते हैं।

प्रथम उल्लेख के दो भेद हैं, शुद्ध और संकीर्ण। शुद्ध उल्लेख वहाँ होता है जहाँ और किसी अलंकार का मिश्रण न हो और जहाँ और किसी अलंकार का मिश्रण होता है वहाँ संकीर्ण उल्लेख होता है। उल्लेख अलङ्कार में कहीं स्वरूपोल्लेख कहीं फलोल्लेख एवं कहीं हेतूल्लेख होता है।

शुद्ध उल्लेख—

अति उत्सुक हो जन दर्शक ने हरि को अपने मनरंजन जाना,
शिशुवृंद ने आनँदकंद तथा पितु नदक[1] ने निज नंदन जाना।
युवती जन ने मनमोहन को रति के पति का मद-गंजन जाना,
भुवि-रंग में कंस ने शंकित हो जगवंदन का निज-कंदन जाना ॥१५६॥

कंस की रंग-भूमि में प्रवेश करने के समय भगवान् कृष्ण को कंस आदि अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से समझा जाना

---

१ नन्दक भी नन्द का नाम है।

कहा गया है। अन्य किसी अलंकार का मिश्रण न होने के कारण यह शुद्ध उल्लेख है।

संकीर्ण (अन्य अलङ्कारों से मिश्रित) उल्लेख—

तेरा सहास मुख देख मिलिंद आते—
वे जान फुल्ल अरविंद प्रमोद पाते।
ये देख आलि! शशि के भ्रम हो विभोर—
हैं चंचु-शब्द करते फिरते चकोर ॥१५७॥

यहाँ उल्लेख के साथ भ्रांतिमान् अलंकार मिला हुआ है। मुख में भौंरों को कमल की भ्रांति होने और चकोरों को चन्द्रमा की भ्रांति होने में भ्रांतिमान् है। और इन दोनों भ्रांतियों के एकत्र होने में उल्लेख है।

किन्तु—

समुझि अधर कौ बिंबफल अरु मुख को अरविंद।
पावत परम प्रमोद हैं सुक अरु मुग्ध मिलिंद ॥१५८॥

यहाँ केवल भ्रांतिमान् ही है, उल्लेख मिला हुआ नहीं है, क्योंकि उल्लेख में एक ही वस्तु को अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से समझा जाना कहा गया है, पर यहाँ अधर और मुख दो वस्तुओं का शुक और भौंरों द्वारा क्रमशः बिंबफल और कमल समझा जाना कहा गया है, अतः केवल भ्राँतिमान् है।

"सूरीजन[1] मूरति छतर्कन[2] की जानै तोहि,
सूरजन[3] जानै खुरली[4] में बहुतै बढ्यो।
कवि मन मानैं मीन सुधुनि महोदधि को[5]
सचिव बखानैं मरजी में मंत्र ही चढ्यो।
सादी लोक[6] जानैं नल नकुल न ऐसे भये,
जानैं रिपु दंड ही उपाय मति में मढ्यो।

---

१ पंडित गण। २ षट्शास्त्र। ३ शूरवीर। ४ शस्त्रविद्या में। ५ श्रेष्ठ ध्वनि रूप समुद्र का मत्स्य। ६ घोड़ों के सवार।

रानी जन जानैं तिराज रावराजा राम!
जोग-सिद्धि रैस लिकाल में कहाँ पढ्यो ॥"१५६ (६०)

बूँदी के रावराजा रामसिंह को सूरीजन आदि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा षट्शास्त्र की मूर्ति आदि भिन्न-भिन्न प्रकार से समझना कहा गया है। मीन और कामदेव आदि का राजा में आरोप होने के कारण यह रूपकमिश्रित उल्लेख है।

"अवनी की मालसी सु बाल सी दिनेस जानी,
लालसी है कान्ह करी बाल सुख थाल सी।
नरकन को हालसी बिहाल सी करैया त्यों,
धर्मन को उद्धृत सुढाल सी विसाल सो।
'ग्वाल' कवि भक्तन को सुरतरु जाल सी है
सुन्दर रसाल सी कुकर्मन को भाल सी।
दूतन को सालसी जु चित्त को हुलास सी है
यम को जँजाल सी कराल काल व्याल सी" ॥१६०[६]

यह उपमा मिश्रित उल्लेख है।

घन साँवरी चारु लसै कवरी मदिरा-मद-रक्त-प्रभा हलकी,
रमनी-मुख याहि कहैं सब लोग छली मति है जगती तलकी,
मत मेरे में है ससि-बिम्ब यहैं अरुनाई उदोत समैं झलकी,
निज बैर सम्हारि गह्यो तमने कढ़ि कंदर तें उदयाचलकी ॥१६१॥

जिसमें मदिरा के मद से कुछ रक्तिमा है ऐसे कवरीयुक्त मुख को अन्य लोगों द्वारा नायिका का मुख कहा जाता है, उसका वक्ता ने निषेध करके उसे उदयकालीन कुछ अरुणिमा युक्त ऐसा चन्द्रमा बतलाया है जिसको अंधकारने अपना शत्रु समझ कर ग्रहण कर लिया, अतः अपह्नुति है। और अन्य लोगों तथा वक्ता द्वारा—एक से अधिक व्यक्तियों द्वारा—मुख का दो प्रकार से उल्लेख किये जाने में उल्लेख है, अतः यहाँ

अपह्नुति मिश्रित उल्लेख है। आचार्य रुद्रट[1] ने जिसका यह अनुवाद है उस संस्कृत पद्य में 'मत' अलंकार माना है उनका कहना है कि जहाँ अन्य मत से उपमेय को कह कर वक्ता अपने मत से उसको (उपमेय को) उपमान सिद्ध करता है वहाँ 'मत' अलंकार होता है। कविराज मुरारीदानजी[2] का कहना है कि वस्तुतः यह अलंकार उत्प्रेक्षा से भिन्न नहीं है उसी के अंतर्गत है। अप्पय्य दीक्षित[3] ने ऐसे उदाहरणों में 'उल्लेख' न मान कर केवल अपह्नुति ही माना है, किन्तु जब स्वयं दीक्षितजी ने उल्लेख के शुद्ध और मिश्रित दोनों भेद स्वीकार किये हैं तब अपह्नुति मिश्रित उल्लेख का अस्वीकार किया जाना असंगत है। अतः हमारे विचार में यहाँ अपह्नुति मिश्रित उल्लेख ही मानना चाहिये।

ऊपर के उदाहरणों में स्वरूप का उल्लेख होने के कारण 'स्वरूपोल्लेख' है। फल के उल्लेख में 'फलोल्लेख' और हेतु के उल्लेख में 'हेतुल्लेख होता है'। जैसे—

> दान देन हित अर्थि-जन त्रान देन हित दीन,
> प्रान लेन हित सत्रु-जन जानत तुहि विधि कीन ॥१६२॥

यहाँ विधाता द्वारा राजा का निर्माण किया जाना, अर्थियों के दान देने के लिये, दीनों ने अपनी रक्षा करने के लिए और शत्रुओं ने अपने प्राण लेने के लिए समझा, इसलिए फलोल्लेख है।

> हरि-पद के सँग सौं जु इक हर-सिर-थितिसों अन्य,
> केतिक बस्तु-माहात्म्य सों कहत गंग ! तुहि धन्य ॥१६३॥

---

१ काव्यालंकार। २ यशवन्त-यशोभूषण। ३ चित्रमीमाँसा।

यहाँ श्री गंगा को 'धन्य' कहने में पृथक्-पृथक् जनों द्वारा, पृथक् पृथक् कारण है, अतः हेतूल्लेख है।

उल्लेख की ध्वनि—

कृत बहु पापरु ताप जुत दुखित परे भवकूप,
विचल-तरंग सु-गंग लखि होय सबै सुख-रूप ॥१६४॥

पूर्वार्द्ध में कहे हुए तीनों प्रकार के मनुष्यों द्वारा श्रीगंगा के दर्शन-मात्र से पाप, ताप और भव-दुःख का नाश होना शब्द द्वारा नहीं कहा गया है—व्यञ्जना से ध्वनित होता है, अतः उल्लेख की ध्वनि है।

उल्लेख और निरवयव-माला-रूपक एवं भ्रांतिमान् अलङ्कार का पृथक्करण—

निरवयव माला-रूपक में ग्रहण करने वाले अनेक व्यक्ति नहीं होते। किन्तु उल्लेख में अनेक व्यक्ति होते हैं। और रूपक एक वस्तु में दूसरी वस्तु के आरोप में होता है, शुद्ध 'उल्लेख' में आरोप नहीं होता, किन्तु एक वस्तु का उसके वास्तविक धर्मों द्वारा अनेक प्रकार से ग्रहण किया जाता है। भ्रान्तिमान् में भ्रम होता है, शुद्ध 'उल्लेख' में भ्रम नहीं होता है।

द्वितीय उल्लेख।

विषय भेद से एक ही वस्तु को एक ही व्यक्ति के द्वारा अनेक प्रकार से उल्लेख किये जाने को द्वितीय 'उल्लेख' कहते हैं।

पर-पीड़ा में कातर, अनातुर जो निज दुःख में रहते,
यश-संचय में आतुर, चातुर हैं सज्जन उन्हें कहते ॥१६५॥

यहाँ सज्जनों क पर-पीड़ा आदि अनेक विषय भेदों से कातर आदि अनेक प्रकार से कहा गया है। यह शुद्ध द्वितीय उल्लेख है।

"वदन-मयंक पै चकोर ह्वै रहत नित,
पंकज-नयन देखि भौंर लौं भयो फिरै,

अधर सुधारस के चखिबे को सुमन सु,
पूतरी ह्वै नैननि के तारन फयो फिरे,
अंग अंग गहन अनंग के सुभट होत,
बानी-गान सुनि ठगी मृगलौं ठयो फिरै,
तेरे रूप-भूप आगै पिय को अनूप मन,
धरि बहुरूप बहुरूपिया भयो फिरै ॥''१६६॥ [

यहाँ नायक के मन को नायिका के मुख आदि अनेक विषय
से चकोर आदि अनेक प्रकार से कहा गया है। यह रूपक और
मिश्रित उल्लेख है।

आचार्य दण्डी "वदन मयङ्क·········" ऐसे पद्यों में हेतु-
अलंकार ही मानते हैं। और काव्य-प्रकाश की 'उद्योत'—और '
सागर' टीका में उल्लेख का खण्डन किया गया है[1]।

———

(१०) स्मरण अलङ्कार

**पूर्वानुभूत वस्तु के सदृश किसी वस्तु के देखने
उसको—पूर्वानुभूत वस्तु की—स्मृति के कथन करने
स्मरण अलङ्कार कहते हैं।**

स्मरणका अर्थ स्पष्ट है। स्मरण अलंकार में पूर्वानुभूत (पहिले
देखी या सुनी हुई) वस्तु का कालान्तर में (फिर किसी समय)
सदृश वस्तु देखने पर उस पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण हो
कहा जाता है।

तुल्य रूप शिशु देख यह अति अद्भुत बल-धाम,
मख-रक्षक शर-चाप धर सुधि आते हैं राम ॥१६

१ देखो काव्यप्रकाश की बालबोधनी टीका में अतिशयोक्ति-प्रक

सुमन्त्र द्वारा यह लव का वर्णन है। भगवान् रामचन्द्र की बाल्यावस्था के पूर्वानुभूत स्वरूप के सदृश कालान्तर में (चन्द्रकेतु के साथ युद्ध करने के समय) श्री रघुनाथ जी के पुत्र लव के स्वरूप को देख कर सुमन्त को रामचंद्रजी का स्मरण हो आना कहा गया है।

पहुँचा उड़ एक विचित्र-कलाप-मयूर तुरंग-समीप[1] वहीं,
फिर भी मृगया-पटु[2] भूप ने किंतु किया उसको शर-लक्ष्य[3] नहीं।
सुध आ गयी क्योंकि उसे लख के नृप को अपनी अनुभूत वही
रति में बिखरी प्रिय-भामिनि की कबरी कमनीय प्रसून-गुही ॥१६८॥

रघुवंश से अनुवादित इस पद्य में महाराज दशरथ के शिकार खेलने का वर्णन है। मयूर का अनेक रंगोंवाला कलाप (पिच्छभार) देखकर दशरथजी को उसी (मयूर-कलाप) के सदृश चित्र-विचित्र फूलों की मालाओं से गुँथी रति-समय में खुले केशों वाली अपनी प्रिया की वेणी का यहाँ स्मरण हो आना कहा गया है।

विरुद्ध वस्तु के देखने पर भी स्मरण अलङ्कार होता है[4]—

जब-जब अति सुकुमार सिय वन-दुख सौं कुम्हिलाय,
तब-तब उनके सदन-सुख रघुनाथहि सुधि आय ॥१६९॥

यहां दुखों को देखकर सुखों का स्मरण है।

"ज्यों ज्यों इत देखियतु मूरख विमुख लोग,
त्यों-त्यों ब्रजवासी सुखरासी मन भावै हैं।
खारे जल छीलर बुखारे अंध कूप चितैं,
कालिंदी के कूल काज मन ललचावै है।
जैसी अब बीतत सु कहत बनैन बैन,
'नागर' न चैन परै प्रान अकुलावै हैं।

---

१ घोड़े के समीप। २ शिकार में चतुर। ३ बाण का निशाना।
४ देखिये, साहित्यदर्पण स्मरण अलंकार का प्रकरण।

थोहर पलास देखि-देखि के बँबूर बुरे,
हाय हरे-हरे वे तमाल सुधि आवै है ॥१७०॥

कृष्णगढ़-नरेश नागरीदासजी के इस प्रेमोद्‌गार में मूखों आ[illegible] देखकर व्रजवासियों आदि का वैधर्म्य द्वारा स्मरण है।

जहाँ सदृश वस्तु के देखे बिना ही स्मृति होती है, वहाँ [illegible] अलङ्कार नहीं होता है। जैसे 'रामचन्द्रभूषण' में स्मरण अलं[illegible] उदाहरण में दिये गये—

"बाग लतान के ओट लखी परब्रह्म बिलास हिये फरक्यो परै,
दोने भरे कर कंज प्रसून गरे बनमाल को त्यों लरक्यो परै,
मंदिर आइ सँकोच सनी मन ही मन भाँवरें में भरक्यो करै,
सावनी स्याम-घटा रँग राम को मैथिली-लोचन में खरक्यो करै॥"[१]

—इस पद्य में जनक-वाटिका में श्री रघुनाथजी की रूप-माधु[illegible] जानकी जी को स्मरण मात्र है। अतः इसमें भी स्मरण अ[illegible] नहीं है।

स्मरण अलङ्कार की ध्वनि—

रवि का यह ताप असह्य, चलो तरु के तल शीतल छांह जहाँ;
निशि में अब भानु का ताप कहाँ? प्रभु! है यह चन्द्र-प्रकाश यहाँ।
प्रिय लक्ष्मण! ज्ञात हुआ यह क्यों? मृग-अंक रहा यह दीख वहाँ,
अयि चंद्रमुखी! मृगलोचनि! जानकि! प्राणप्रिये! तुम हाय कहाँ।

लक्ष्मणजी के मुख से यह सुनकर कि 'यह सूर्य नहीं है [illegible] मृगलांछन चन्द्रमा है' वियोगी श्री रघुनाथ जी को मृग के समान [illegible] वाली और चन्द्र के समान मुख वाली श्री सीताजी का [illegible] होना यहाँ शब्द द्वारा नहीं कहा गया है, किन्तु यह ध्वनित हो[illegible] पण्डितराज ने जिसका यह अनुवाद है उस संस्कृत पद्य में [illegible]

लंकार बतलाया है, नकि स्मरण की ध्वनि। उनका कहना है कि यहाँ विप्रलम्भ शृंगार प्रधान है—श्री सीताजी आलम्बन हैं, रात्रि का मय उद्दीपन है, सन्ताप अनुभव और उन्माद संचारी है। 'स्मरण' यहाँ व्यंग्य है, वह इस विप्रलम्भ शृंगार को पुष्ट करता है—अलंकृत रता है। जो अलंकृत करता है वह अलंकार ही होता है न कि ध्वनि। दि यह कहा जाय कि 'जो व्यंग्य होता है वह अलंकार नहीं हो सकता' इसका उत्तर यह है कि रस, भाव आदि नित्य व्यंग्य—जो कभी च्य हो ही नहीं सकते, वे भी दूसरे के अंग होने पर 'रसवत्' आदि लंकार ही माने जाते हैं, किन्तु नागेश भट्ट यहाँ स्मरण की ध्वनि को प्रधान और विप्रलम्भ शृंगार को स्मरण की ध्वनि का अंग बतलाते। हमारे विचार में भी यहाँ स्मरण की ध्वनि ही है।

जहाँ सादृश्य ज्ञान के बिना स्मृति की व्यंजना होती है, वहाँ रण अलंकार की ध्वनि नहीं होती है जैसे—

रि हैं वह ही शिखि-वृन्द यहां मद-पूरित कूक सदा करते,
है वह ही मद-मत्त यहाँ मृग-यूथ विनोद रचा करते,
ता-तट भी अनुभूत वही इनमें हम आ विचरा करते,
वंजुल-कुंज वही हैं जहाँ कुछ काल विराम किया करते ॥ १७३॥

शंबूक का बध करके अयोध्या को लौटते हुए श्री रघुनाथजी द्वारा गये इस दण्डकारण्य के वर्णन में वियोगी श्री रघुनाथजी को जनक री के सहवास के पूर्वानुभूत विनोदों के स्मरण हो आने की जो ना होती है, उसमें सादृश्य के अभाव में केवल स्मृति होने के ण 'स्मरण' अलंकार की ध्वनि नहीं—स्मृति संचारी भाव है।

———

१ देखिये, रसगंगाधर और नागेश भट्ट की टिप्पणी स्मरण कार-प्रकरण।

(११) भ्रान्तिमान् अलङ्कार

अप्रकृत (उपमान) के समान प्रकृत (उपमेय) देखने पर अप्रकृत की भ्रान्ति होने में भ्रान्तिमान् अलङ्कार होता है।

भ्रान्ति का अर्थ है एक वस्तु को भ्रम के कारण दूसरी वस्तु समझ लेना। इस अलङ्कार में किसी वस्तु में उसके सदृश्य अन्य वस्तु का कवि की प्रतिभा द्वारा उत्थापित—चमत्कारक भ्रम होता है। ज्ञे—

दुग्ध समझ कर रजतपात्र को लगे चाटने जिन्हें बिडाल,[1]
तरु-छिद्रों से गिरी देख गज लगे मानने जिन्हें मृनाल[2]
रमणीजन रति अंत तल्प[3] से लेने लगी वस्त्र निज जान,
प्रभामत्त-शशि-किरण सभी को भ्रमित बनाने लगी महान्॥

यहाँ दुग्ध आदि (अप्रकृत) के सदृश चन्द्रमा की चाँदनी (प्रकृत) में दुग्ध आदि का भ्रम होना कहा है।

समझकर किंशुक-कली[4], होकर भ्रमित—
मुग्ध मधुकर गिर रहे शुक-तुण्ड[5] पर।
है झपटता पकड़ने शुक भी भ्रमित—
जम्बुफल वह समझ उस अलिझुण्ड[6] पर॥

यहाँ भ्रमर और शुक के परस्पर में भ्राँति है।

बाधित भ्रान्ति में अर्थात् किसी वस्तु में अन्य वस्तु की भ्रान्ति होकर फिर उसके हट जाने पर भी यह अलङ्कार होता है—

---

१ बिल्लियाँ। २ कमल-नाल के तंतु। ३ पलङ्ग पर गिरी चन्द्रमा की चांदनी को। ४ ढाक के पुष्प की कली। ५ तोते की चोंच। ६ भृगों का समूह।

जान कर कुछ दूर से फलपत्र छाया ताप-हर,
शुष्क-वट के निकट आये भ्रमित हो कुछ पथिक, पर—
शब्द उनका सुन सभी शुक-वृन्द तरु से उड़ गये,
पथिक भी यह देख कौतुक फिर गये हसते हुए ॥ १७६ ॥

पत्र रहित सूखे वट-वृक्ष पर बैठे हुए शुक पक्षियों को भ्रम से वट के फल और पत्ते समझ कर छाया के लिये आए हुए पथिकों की शुकवृंद के उड़ जाने पर यहाँ उस भ्रान्ति का वाध (मिट जाना) है।

दृग को युग नील-सरोज अली ! कुच कंज-कली अनुमानती हैं,
कर-कोमल पद्म स-नाल तथा मधुगधर बन्धुक जानती हैं,
मणिरत्न-गुंथी कवरीभर[2] को कुसुमावलि ये पहिचानती हैं,
अति वारणभी करती सखि ! मैं मधुपावलि किन्तु न मानती हैं ॥१७७॥

नायिका के नेत्र आदि में यहाँ भृङ्गावली को कमल आदि का भ्रम होना कहा है। यह भ्रान्तिमाला है।

भ्रांतिमान् अलंकार की ध्वनि—

संग में श्री श्याम सुन्दर राम के,
कनक-रुचि सम मैथिली को देख कर।
चातकों के पोत[3] अति मोदित हुए,
सघन उस बन में प्रफुल्लित पंख कर ॥" १७८ ॥

श्री राम और जानकी को वनमें देखकर चातक पक्षियो को विद्युत सहित नील मेघ की भ्रान्ति होना यहाँ शब्द द्वारा नहीं कहा गया है उसकी व्यंजना होती है, अतः भ्रान्तिमान् की ध्वनि है।

जहाँ सादृश्यमूलक चमत्कारक कवि-कल्पित भ्रान्ति होती है अलंकार होता है। जहाँ उन्माद-जन्य वास्तविक भ्रान्ति होती है वहाँ अलंकार नहीं होता। जैसे—

१ एक प्रकार का रक्त पुष्प। २ केशों का जूड़ा—वेणी। ३ बच्चे।

"बा . योग-बिथा सों भरी अरी ? बावरी जानै कहा बनवासी,
पीर हू नारिन के उर की न पिछानत ए तरु तीर निवासी,
सोभा सुरूप मनोहरता 'हरिऔध' सी या में नहीं छवि खासी,
बाल ! तमाल सौं धाइ कहा तू रही लपटाय लबंग लतासी ।।" १७६।।

यहाँ उन्माद अवस्था में नायिका को तमाल वृक्ष में श्री नन्दनन्दन की भ्रान्ति हुई है, इसमें अलङ्कार नहीं है

---

(१२) सन्देह अलङ्कार

किसी वस्तु के विषय में सादृश्य-मूलक संशय होने में सन्देह अलङ्कार होता है ।

सन्देह का अर्थ स्पष्ट है । यहाँ कवि-कल्पित चमत्कारक सन्देह होता है । रात्रि में सूखे वृक्षको देखकर 'यह सूखा काठ है या मनुष्य' इस प्रकार के वास्तविक सन्देह होने में कुछ चमत्कार नहीं; अतः अलं-कार भी नहीं है । लक्षण में 'सादृश्यमूलक संशय' कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ किसी वस्तु में उसी के समान वस्तु का (प्रायः उपमेय में उपमान का) सन्देह किया जाता है वहीं यह अलंकार होता है। सन्देह अलंकार के दो भेद हैं—

(१) भेद की युक्ति में संशय । अर्थात् दूसरे से भिन्नता दिखाने वाले धर्म का कथन होकर संशय होना । भेद की युक्ति दो प्रकार से होती है—उपमान में भिन्न धर्म की उक्ति और उपमेय में भिन्नधर्म की उक्ति । अतः इसके भी दो भेद हैं—

(क) निश्चय-गर्भ । गर्भ में अर्थात् मध्य में निश्चय होना और आदि अन्त में सन्देह का होना । इसमें उपमान में रहनेवाले भिन्न धर्म कहे जाते हैं ।

(ख) निश्चयान्त । पहिले संशय होकर अन्त में निश्चय होना । इसमें उपमेय में रहनेवाले भिन्न धर्म कहे जाते हैं ।

(२) भेद की अनुक्ति में संशय । दूसरे से भिन्नता करने वाले धर्म का कथन न होकर केवल संशय का होना । इसको शुद्ध सन्देह भी कहते हैं ।

भेदोक्ति में निश्चय-गर्भ संदेह—

कैधों उजागर ये प्रभाकर[1] स्वरूप राजै ?
जाकर सदैव सप्त-अश्व, नहिं याकै है ।
जगमगात गात जातवेद[2] यह आत कैधों ?
वाहू को प्रसार नांहि दसहू दिसा कै है ।
अति महकाय भयदाय यमराय कैधों ?
वाहन महिष पास छाजत जु वाकै है ।
याकै है न पास यों बिकल्पन प्रकास कै कै,
रन के अवास अरिरास[3] तोहि ताकै हैं ॥१८०॥

कवि ने किसी राजा की प्रशंसा में कहा है कि रणभूमि में तुम्हें देखकर शत्रुओं को प्रथम यह सन्देह होता है कि यह सूर्य है, या अग्नि है, अथवा यमराज ? फिर तुम्हारे पास सात घोड़ों का रथ आदि न देखकर यह निश्चय होता है कि यह सूर्य, अग्नि और यमराज नहीं हैं । पर यह कौन है ? इस प्रकार अन्त तक उनको सन्देह ही बना रहता है । यहाँ सूर्य आदि से भिन्नतासूचक सूर्यादि उपमानों में रहनेवाले सप्त अश्व के रथ आदि के अभाव रूप भिन्न धर्म कहे गये हैं, अतः भेद की उक्ति में निश्चय-गर्भ सन्देह है ।

"कहूँ मानवी यदि मैं तुमको तो वैसा संकोच कहाँ ?
कहूँ दानवी तो उसमें है यह लावण्य कि लोच कहाँ ?

---

१ सूर्य । २ अग्नि । ३ शत्रुगण ।

बनदेवी समझूँ तो वह तो होती है भोली भाली,
तुम्हीं बताओ अतः कौन तुम, हे रंजित रहस्य वाली॥"१८१॥[५०]

सूर्पणखा के प्रति लक्ष्मणजी की इस उक्ति में 'मानवी' आदि के सन्देह में 'वैसा संकोच कहाँ' इत्यादि वाक्यों द्वारा मध्य में 'तू मानवी नहीं है' इत्यादि निश्चय होकर अन्त में सन्देह बना रहता है।

[–भेदोक्ति में निश्चयान्त सन्देह—

च्युतघन है क्या चपला ?
चंपक-लतिका परिम्लान किंवा है ?
लखकर स्वास चपलता,
जाना कपि, विकल जानकी अंबा है ॥१८२॥

अशोक वाटिका में जानकी जी को देखकर हनुमानजी को चपला (बिजली) और चंपक-लता का सन्देह हुआ फिर उनकी दीर्घ निस्वास निकालती हुई देखकर अन्त में 'यह सीताजी ही हैं' यह निश्चय हो गया है। 'निस्वासों का होना' उपमेय सीताजी का भिन्न-धर्म कहा गया है। अतः भेदोक्ति में निश्चयान्त है। इसको अग्निपुराण में निश्चयोपमा और काव्यादर्श में निर्णयोपमा के नाम से उपमा का ही एक विशेष भेद लिखा है।

भेद की अनुक्ति में सन्देह—

रचना इसकी मन-मोहक में कि कलानिधि चंद्र[1] प्रजापति[2] है !
कुसुमाकर[3] ही सुखमाकर ! या कुसुमायुध ही रति का पति है ?
विधि वृद्ध विरक्त हुआ जिसकी अब वेद-विचार-रता मति है,
इस रूप अलौकिक की कृति में न समर्थ कहीं उसकी गति है ॥१८३॥

---

१ यद्यपि कलानिधि चन्द्रमा का ही नाम है पर यहाँ कलाओं का निधि इस अभिप्राय से चन्द्रमा के विशेषण रूप में 'कलानिधि' का प्रयोग है। २ रचना करने वाला। ३ वसंत ऋतु

उर्वशी के सौन्दर्य के विषय में राजा पुरूरवा द्वारा यह सन्देह किया गया है कि इसकी रचना करने वाला चन्द्रमा है, या वसन्त, अथवा कामदेव ? यहाँ चन्द्रमा आदि से भेद दिखाने वाले धर्म नहीं कहे गये हैं, अतः भेद की अनुक्ति है। उत्तरार्द्ध में कहे गये ब्रह्मा की वृद्धता आदि धर्म चन्द्रमा आदि द्वारा रचना किये जाने के सन्देह को पुष्ट करते हैं, न कि भेद-दर्शक धर्म।

विक्रमोर्वशीय नाटक के जिस पद्य का यह अनुवाद है वह पद्य साहित्यदर्पण में सम्बन्धातिशयोक्ति के उदाहरण में लिखा गया है। किन्तु इसमें सन्देह का चमत्कार उत्कट होने के कारण महाराज भोज, आचार्य मम्मट और पण्डितराज ने इसमें सन्देह ही माना है।

"तारे आसमान के हैं आये मेहमान बन
यांकि कमला ही आज आके मुसकाई है ?
चमक रही है चपला ही एक साथ याकि
केशों में निशा के मुकुतावली सजाई है ?
आई अप्सरायें हैं अलक्षित कहीं क्या जोकि
उनके विभूषणों की ऐसी ज्योति छाई है ?
चंद्र ही क्या विखर गया है चूर चूर होके ?
क्योंकि आज नभ में न पड़ता दिखाई है ॥१८४॥[१३]

दीपमालिका के इस वर्णन में दीपावली में 'तारे' आदि का सन्देह किया गया है।

"कैधौं रूपरासि में सिंगार रस अंकुरित
संकुरित कैधौं तम तड़ित जुन्हाई में ?
कहै 'पदमाकर' किधौं ये काम मुनसी ने
नुकता दियो है हेम पट्टिका सुहाई में ?
कैधौं अरविंद में मिलिंद-सुत सोयो आज
राज रह्यो तिल कै कपोल की लुनाई में ?

कैंधौं पर्यो इन्दु में कलिंदी जल-बिंदु आन
गरक गुविंद किधौं गोरी की गुराई में ॥"१८५॥[३६]

श्री राधिकाजी की ठोड़ी के श्याम बिन्दु के इस वर्णन में अनेक सन्देह किये गये हैं।

सन्देह की ध्वनि का—

तरुनो स्मित-मुखतीर खिले नीर खिले अरबिंद,
गंध-लुब्ध दुहुँ ओर कौं धावहि मुग्ध मिलिंद ॥१८६॥

वह उदाहरण दिखा कर रसगङ्गाधर में लिखा है कि सरोवर के तट पर नायिका के मुख को और सरोवर में प्रफुल्लित कमल को देख कर भौंरों को 'यह कमल है या वह कमल' यह सन्देह होना यहाँ शब्द द्वारा नहीं कहा गया है—इसकी व्यंजना हो रही है। अतः सन्देह की ध्वनि है। किन्तु यहाँ 'मुग्धमिलिंद' में भौंरों को 'मुग्ध' शब्द द्वारा उनका मुख और कमल दोनों की तरफ जाने का 'सन्देह' वाच्यार्थ रूप हो गया है। अतः हमारे विचार में यह ध्वनि का उदाहरण उचित प्रतीत नहीं होता।

"थी शरदचंद्र की जोति खिली सोवै था सब गुन जुटा हुआ,
चौका की चमक अधर विहँसन रस-भीजा दाड़िम फटा हुआ,
इतने में गहन समै वेला लख ख्याल बड़ा अटपटा हुआ,
अवनी से नभ,नभ से अवनी अध उछलै नटकाबटा हुआ॥"१८७॥[५८]

यहाँ शयन करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र के मुख को पृथ्वी पर और चन्द्रमा को आकाश में देख कर ग्रहण के समय राहु को 'यह चन्द्रमा या वह ?' ऐसा सन्देह होना कहा नहीं गया है, किन्तु 'नट का बटा हुआ' इस पद से यह ध्वनित होता है।

"उज्वल अनूप वह, यह कमनीय महा,
वह है सुधाकर यह सुधाधर हितै रह्यो।

'नवनीत' प्यारे ये नसावत बियोग
वह तम-तोम ही को मुचित चितै रह्यो।
वाके हैं कलंक याके अंकित दृगन मांहि,
वह निसि एक येहू सौंतिन जितै रह्यो।
इत मुखचंद्र उत चंद्र को विलोकि राहु—
चाह चखि चारयों ओर चकित चितै रह्यो ॥"१८८॥[३१]

यहाँ कामिनी के मुखचन्द्र और आकाश के चन्द्र में राहु को "यह चन्द्र है कि वह" यह सन्देह होना ध्वनित तो होता है। परन्तु यहाँ सन्देह की यह ध्वनि प्रधान नहीं किन्तु वह वितर्क संचारी भाव के रूप में—'चाह चखि चार्यो ओर चकित चितै रह्यो' इस अन्तिम वाक्य द्वारा प्रथम तो सन्देह वाच्य हो गया है। और इसी पद द्वारा जो अद्-भुत रस की व्यञ्जना होती है, उसकी पुष्टि होती है।

'सन्देह' अलङ्कार में कहीं तो सन्देह कल्पित होता है और कहीं वास्तविक। जहाँ कवि स्वयं वक्ता रूप में सन्देहात्मक वर्णन करता है, वहाँ तो प्रायः कल्पित सन्देह होता है जैसे—'तारे आसमान के......' (संख्या १९०) में दीपावली में कवि द्वारा जो अनेक सन्देह किये गये हैं वे कल्पित हैं! वक्ता कवि वास्तविक बात (दीपावली) जानता हुआ ही कल्पित संदेह कर रहा है। और 'तरुनी स्मित मुख.........' (संख्या १९२) में भौरों को कामिनी के मुख में और कमल में सन्देह है, वह वास्तविक है—भृङ्गावली को ज्ञेय वस्तु का वस्तुतः यथार्थ ज्ञान नहीं। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझ लेना चाहिये।

जहाँ सादृश्य-मूलक सन्देह न होकर केवल सन्देहात्मक वर्णन होता है, वहाँ सन्देह अलङ्कार नहीं होता—जैसे 'रसिकमोहन' में सन्देह अलङ्कार का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"वागे बने बरद्दी के पखा सिर वेनु बजावत गैयन घेरे,
या बिधि सों 'रघुनाथ' कहै छिन होत जुदे नहिं साँझ सवेरे,
आँखिन देखिबे को नहिं पैयतु पैयतु है नित ही करि नेरे,
मोहनसोंमनमेरो लग्यो कि लग्यो मन सों मनमोहन मेरे।।"१८९।।[५१]

किन्तु इसमें सादृश्य-मूलक सन्देह न होने के कारण सन्देह अलङ्कार नहीं है।

काव्यनिर्णय में दास जी ने सन्देह अलंकार का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"लखे उहि टोल में नौलबधू मृदुहास में मेरो भयो मन डोल,
कहौं कटि-छीन की डोलनो डौल कि पीन नितंब उरोज की तोल,
सराहौं अलौकिक बोल अमोल कि आनन कोष में रंग तमोल,
कपोल सराहौं कि नील-निचोल किधौं विवि लोचन लोल कपोल।।१९०।।

इस उदाहरण में भी सन्देह अलंकार नहीं है क्योंकि 'नायिका के किस-किस अंग के सौन्दर्य की प्रशंसा करूँ' इसमें सादृश्य-मूलक सन्देह नहीं और न ऐसे वर्णन में सन्देह का कुछ चमत्कार ही होता है[1]।

---

(१३) अपह्नुति अलङ्कार

प्रकृत का (उपमेय का) निषेध करके अप्रकृत के (उपमान के) आरोप किये जाने को अपह्नुति अलङ्कार कहते हैं।

'अपह्नुति' शब्द 'ह्नुङ्' धातु[2] से बना है। 'अप' उपसर्ग है। अपह्नुति

१ देखिये, रसगङ्गाधर पृ० २५६।
२ 'ह्नुङ् अपह्नवे—धातुपाठ।

का अर्थ है गोपन (छिपाना) या निषेध। अपह्नुति अलंकार में उप-मेय का निषेध करके उपमान का स्थापन किया जाता है। लक्षण में उपमेय और उपमान का कथन उपलक्षण मात्र है। अर्थात् उपमेय—उपमान भाव के बिना भी अपह्नुति होती है[१]। अपह्नुति में कहीं पहिले निषेध करके अन्य का आरोप किया जाता है और कहीं पहिले आरोप करके पीछे निषेध किया जाता है।

अपह्नुति शाब्दी और आर्थी दो प्रकार की होती है। दोनों भेद सावयवा (अंङ्ग सहित) और निरवयवा (अंग रहित) होते हैं। अपह्नुति के भेद इस प्रकार हैं:—
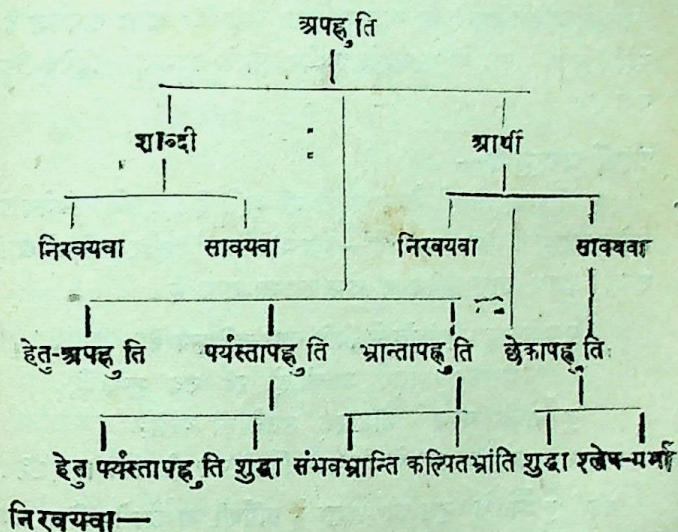
निरवयवा—

"ससि में अंक कलंक को समझहु जिन सदभाय,
सुरत-श्रमित निसि-सुन्दरी सोवत उर लपटाय ॥"१९१॥[४९]

चन्द्रमा में कलंक का निषेध करके चन्द्रमा के अंक में रात्रि रूप

---

१ देखिये काव्यप्रकाश की बालबोधिनी व्याख्या।

नायिका के सोने का आरोप किया गया है। यहाँ अवयव-कथन नहीं, अतः निरवयवा है।

सावयवा शाब्दी अपह्नुति—

मुसुकान नहीं यह किन्तु सुशोभित है कमनीय विकाशित ही,
कहते मुख हैं जन मूढ़ इसे, यह कंज प्रफुल्ल सुबासित ही,
युग उन्नत पीन उरोज नहीं, यह हैं द्युति-कंचन के फल ही,
भ्रमरावलि-नम्य-लता यह रम्य, इसे बनिता कहना न कहीं॥१६२॥

यहाँ उपमेय—(नायिका) का निषेध करके उपमान-लतिका का आरोप किया गया है। नायिका के मुसुकान आदि अवयवोंका भी निषेध करके विकाशित आदि का स्थापन किया गया है, अतः सावयवा है। यहाँ (चतुर्थ पाद में) पहिले आरोप करके तदनन्तर निषेध किया गया है।

आर्थी अपह्नुति—

आर्थी अपह्नुति को कैतवापह्नुति भी कहते हैं। इसमें उपमेय का निषेध स्पष्ट नहीं किया जाता है—'व्याज' 'कैतव' और 'मिस' आदि शब्दों के अर्थ द्वारा निषेध का बोध कराया जाता है।

एक से बढ़ एक कृति में विधि बड़ा सुविदग्ध है,
देखकर चातुर्य उसका हो रहे सब मुग्ध हैं,
दुर्जनों के वदन में भी एक उसने की कला,
व्याज रसना के भयंकर सर्पिणी रख दी भला॥ १६३॥

यहाँ दुर्जनों के मुख की जिह्वा में सर्पिणी का आरोप किया गया है। यहाँ 'निषेध' सब्द द्वारा स्पष्ट नहीं है—'व्याज' शब्द के अर्थ से निषेधघ बोध होता है, अतः आर्थी है।

"लालिमा श्री तारबन की तेज में सारदा लौं सुखमा की निसेनी,
नूपुर नील-मनीन जड़े जमुना जगै जोहर में सुख देनी,

यों 'लछिराम' छटा नख नील तरंगनि गंगा-प्रभा फल पेनी,
मैथिली के चरनांबुज व्याज लसै मिथिला जग मंजु त्रिवेनी ॥" १९४॥ [५३]

यहाँ श्री जनकनन्दनी के चरणोदक में त्रिवेणी का आरोप किया गया है। चरणोदक का निषेध 'व्याज' शब्द के अर्थ से ज्ञात होता है।

काव्यप्रकाश और अलंकार-सर्वस्व आदि प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार अपह्नुति के ये ही भेद हैं। चन्द्रालोक आदि अन्य कुछ ग्रन्थों में अपह्नुति के और भी कुछ भेद लिखे हैं—

हेतु अपह्नुति

उपमेय के निषेध का कारण दिखलाते हुये उपमान के स्थापन करने को हेतु अपह्नुति कहते हैं।

श्याम और यह श्वेत रंग है रमणी-दृग का रूप नहीं,
गरल और अमृत यह दोनों भरे हुए हैं सत्य यहीं;
युवक जनों पर जब होता है देखो इनका गाढ़ निपात,
बेसुध और मुदित होते क्यों यदिच नहीं होती यह बात ॥१९५॥

यहाँ नेत्रों में श्याम और श्वेत रंग का निषेध करके उनमें विष और अमृत का आरोप किया गया है। इसका कारण उत्तरार्द्ध में कहा गया है, अतः अपह्नुति है।

"चंद्रिका इसकी न छवि यह जाल है जंजाल है,
जो विरह-विधुरा नारियों को कर रहा बेहाल है,
नागपाश विचित्र यह या गरल-सिंचित वस्त्र है,
या अस्त्र है पंचत्व का या पंचशर का शस्त्र है॥" १९६॥ [३८]

दमयंती की इस उक्ति में चन्द्रमा की चाँदनी का निषेध करके उसमें कामदेव के शस्त्र आदि का आरोप किया गया है। दूसरे चरण में उसका कारण कहा है। यहाँ सन्देह अलंकार मिश्रित है।

पण्डितराज के मतानुसार ऐसे उदाहरणों में अपह्नुति का आभास मात्र है। उनका कहना है कि चन्द्रमा की चाँदनी वियोगिनी को तापकारक होने के कारण चन्द्रमा में कामदेव के शस्त्र आदि का वियोगिनी को भ्रम उत्पन्न होता है, अतः यहाँ 'भ्रान्तिमान' अलंकार है[१]।

पर्यस्तापह्नुति ।

किसी वस्तु में किसी दूसरी वस्तु के धर्म का आरोप करने के लिए उस दूसरी वस्तु के धर्म को निषेध किए जाने को पर्यस्तापह्नुति कहते हैं।

है न सुधा यह किंतु है सुधा रूप सत्संग,
विष हालाहल है न, यह हालाहल दुःसंग ॥१६७॥

यहाँ सत्संग में सुधा-धर्म का आरोप करने के लिए सुधा में सुधा-धर्म का निषेध किया गया है।

हालाहल को जो कहते विष, वे हैं मति-व्युत्पन्न नहीं,
है विष रमा देखिए, इसका है प्रमाण प्रत्यक्ष यहीं,
हालाहल पीकर भी सुखसे हैं जागृत श्री उमारमण,
निद्रा-मोहित हुए रमा के स्पर्श मात्र से रमा-रमण ॥१६८॥

यहाँ लक्ष्मीजी में विष-धर्म के आरोप के लिए हालाहल में विष-धर्म का निषेध किया गया है। चौथे पाद में उसका कारण कहा है। अतः यह हेतु-पर्यस्तापह्नुति है।

पण्डितराज[२] और विमर्शनीकार[३] ने पर्यस्तापह्नुति को दृढ़ारोप

---

१ देखिये रसगंगाधर अपह्नुति-प्रकरण ।

२ देखिये रसगंगधार अपह्नुति-प्रकरण ।

३ देखिये अलङ्कारसर्वस्व की विमर्शनी टीका में अपह्नुति अलङ्कार का प्रकरण ।

रूपक बताया है । उनका कहना है कि इसमें उपमेय का निषेध नहीं, उपमान का निषेध किया जाता है और वह उपमेय में उसका दृढ़ता पूर्वक आरोप (रूपक) करने के लिए होता है, अतः ऐसे उदाहरणों में दृढ़ारोप रूपक होता है न कि अपह्नुति ।

भ्रान्तापह्नुति

सत्य बात प्रकट करके किसी की शङ्का के दूर करने को भ्रान्तापह्नुति अलङ्कार कहते हैं ।

इसमें कहीं सम्भव भ्रान्ति और कहीं कल्पित भ्रान्ति होती है ।

मान सरोवर जातु अब लखि नभ मेघ-बितान,
तिन हंसन को मधुर रव, नूपुर-धुनि जिन जान ॥१६६॥

'मानसरोवर को जानेवाले हंसों का वह मधुर शब्द है' यह सत्य प्रकट करके नूपुर के शब्द का भ्रम दूर किया गया है । यह सम्भव भ्रान्ति है क्योंकि इस प्रकार की भ्रान्ति का होना सम्भव है ।

"हंस ! हाहा ! तेरा भी
बिगड़ गया क्या विवेक बन बनके ?
मोती नहीं, अरे, ये
आँसू हैं उर्मिला जन के ! ॥"२००॥ [५०]

यह कवि-कल्पित भ्रान्ति है, क्योंकि अश्रुओं में हंस को मोतियों की भ्रान्ति का होना असम्भव है ।

आनन है अरविंद न फूले, अलीगन ! भूलि कहा मडरातु हौ,
कीर[1] ! तुम्हें कहा बायु लगी भ्रम बिंब से ओठनु को ललचातु हौ,
'दासजू' व्याली न, बेनी रची तुम पापी कलापी[2] ! कहा इतरातु हौ,
बोलत बाल, न बाजत बीन कहाँ सिगरे मृग घेरत जातु हौ ॥"२०१॥ [४६]

---

१ तोता । २ मयूर ।

यहाँ भी कल्पित भ्रान्ति है।

शुद्धापह्नुति आदि में प्रकृत (उपमेय) का निषेध होता है और इस भ्रान्तापह्नुति में उपमान का। इसलिये साहित्यदर्पण में भ्रान्तापह्नुति को 'निश्चय' नामक एक स्वतन्त्र अलङ्कार माना है और दण्डी ने इसे 'तत्त्वाख्यानोपमा' नामक उपमा का ही एक भेद लिखा है।

छेकापह्नुति

स्वयं कथित अपने गुप्त रहस्य किसी प्रकार प्रकट हो जाने पर उसको मिथ्या समाधान द्वारा छिपाये जाने को छेकापह्नुति अलङ्कार कहते हैं।

अति चंचल है वह आ झट ही तन से सखि ! अंचल को हरता है,
रुकता न समक्ष किसी जन के लगता फिर अंक नहीं डरता है,
अधरक्षत भी करता रहता कुछ शङ्क नहीं मन में धरता है,
अलि ! क्याप्रिय धृष्ठ ? नहीं यहतो सब शीत-समीर किया करता है॥२०२

यहाँ नायिका द्वारा अपनी अन्तरंङ्ग सखी से कहे हुये गुप्त रहस्य को सुन कर 'क्या तेरा पति इतना निर्लज्ज है ? इस प्रकार पूछने वाली दूसरी स्त्री से नायिका ने यह कह कर कि 'नहीं मैं तो यह शीतकाल के पवन के विषय में कह रही हूँ' सत्य को छिपाया है।

यह श्लेष-मिश्रित भी होती है—

रहि न सकत कोउ अपतिता सखि ! पावस-ऋतु मांय,
भई कहा उतकंठिता ? नहिं पथ फिसलत पांय ॥२०३॥

'अपतिता' के दो अर्थ हैं 'पति के बिना न रहना' और 'गिरे बिना न रहना'। वियोगिनी के कहे हुए 'वर्षाऋतु में कोई अपतिता—पति के बिना—नहीं रह सकती' इस वाक्य को सुन कर सखी के यह कहने पर कि 'क्या तू पति के लिये इतनी उत्कण्ठित हो गई है

लज्जित हो कर वियोगिनी ने कहा—'नहीं में तो यह कहती हूँ कि वर्षा ऋतु के मार्ग में कोई अपतिता (फिसले बिना) नहीं रह सकती।

पूर्वोक्त वक्रोक्ति में अन्य की उक्ति का अन्यार्थ कल्पन किया जाता है किन्तु छेकापह्नुति में अपनी उक्ति का।

अपह्नुति की ध्वनि—

> रद-छवि मिस तेरे वदन केसर लसत सुरंग,
> सोभित लोभित गंध ये अलक वेस धरि भृंग ॥२०४॥

'यह तेरी दन्तावली की कान्ति नहीं किन्तु दन्तावली के मिस से कमलिनी का केसर है' और 'ये अलकावली नहीं किन्तु भृङ्गावली है'। ये दो अपह्नुतियाँ यहाँ वाच्यार्थ में प्रकट कही गई हैं। इनके द्वारा 'तू कामिनी नहीं है किन्तु कमलिनी है' इस तीसरी प्रधान अपह्नुति की व्यंजना होती है।

अपह्नुति की ध्वनि का चित्रमीमांसा में निम्नाशय का पद्य लिखा है—

> लिख्यो चित्र पिय को चतुर तिय हिय अति हुलसाय,
> तहिंके करमें पुष्प-धनु सखि ने दियो बनाय ॥२०५॥

चित्र मीमांसाकार का कहना है कि नायिका द्वारा बनाये हुये चित्र में सखी ने नायक के हाथ में फूलों का धनुष बना दिया, इसमें यह व्यंग्यार्थ ध्वनित होता है कि चित्र-लिखित नायक साधारण व्यक्ति नहीं; किन्तु कामदेव है, अतः अपह्नुति की ध्वनि है।

इसकी आलोचना में रसगंगाधर में पंडितराज ने कहा है कि अपह्नुति में दो बात होती है—(१) उपमेय का निषेध और (२) उपमान का आरोप। इस उदाहरण में उपमान--कामदेव का आरोप तो ध्वनित होता है किन्तु उपमेय—नायक का निषेध किसी शब्द के व्यंग्यार्थ द्वारा ध्वनित नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि नायक का निषेध

किये बिना कामदेव का आरोप नहीं बन सकता अर्थात् कामदेव के आरोप द्वारा ही नायक का निषेध ध्वनित हो जाता है, ऐसा मानी माना जायगा, तब तो 'मुखचन्द्र' आदि रूपक के उदाहरणों में अपह्नुति माना जाना अनिवार्य होगा और रूपक का अस्तित्व ही न रहेगा, अतः ऐसे उदाहरणों में रूपक की ध्वनि मानी जा सकती है न कि अपह्नुति की ध्वनि।

---

(१४) उत्प्रेक्षा अलङ्कार

प्रस्तुत की अप्रस्तुत रूप में सम्भावना की जाने को उत्प्रेक्षा अलङ्कार कहते हैं।

उत्प्रेक्षा का अर्थ है—बलपूर्वक प्रधानता से देखना अर्थात् उपमान का उत्कटता से ज्ञान[1]। अतः उत्प्रेक्षा में उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है। सम्भावना का अर्थ है उत्कट कोटि का संशय ज्ञान। एक संशय ज्ञान तो समानकोटिका होता है, जैसे अँधेरे में किसी वृक्ष के ठूंठ को देखकर यह सन्देह होता है कि 'यह मनुष्य है या वृक्ष का ठूंठ ?' ऐसे समान कोटिके संशय ज्ञान में मनुष्य का होना और वृक्ष के ठूंठ का होना दोनों ज्ञानों की समान कोटि होती है। ऐसा समान कोटि का ज्ञान जहाँ कवि-प्रतिभोत्पन्न—चमत्कारक—होता है वहाँ तो पूर्वोक्त सन्देह अलंकार होता है। और जहाँ ऐसे संशय ज्ञान में एक उत्कट कोटि का प्रबल (उत्कट) ज्ञान होता है उसे सम्भावना कहते हैं[2] अर्थात् भेद का ज्ञान रहते हुए—उपमेय और उपमान

---

१ 'उत्कटा प्रकृष्टस्योपमानस्य ईक्षा ज्ञानम् उत्प्रेक्षापदार्थः।'
—काव्यप्रकाश की बालबोधिनी व्याख्या

२ उत्कटैककोटिः संशय सम्भावनम्—बालबोधिनी।

की ही वस्तु समझते हुये उपमेय में उपमान का आहार्य आरोप किया जाना ही सम्भावना है[१]। 'रूपक' में जो आहार्य आरोप होता वहाँ उपमेय में उपमान का अभेद कहा जाता है। जैसे, 'मुखचंद्र' में 'मुख ही चन्द्र है' ऐसा अभेद कहा जाता है। अतः मुखचन्द्र में रूपक है और उत्प्रेक्षा में संभावनात्मक आहार्य आरोप होता है, अर्थात् 'मुख मानो चन्द्रमा है' इस प्रकार मुख और चन्द्रमा को वास्तव में भिन्न-भिन्न मानता हुआ ही वक्ता अनिश्चित रूप में मुख को चन्द्रमा मानता है।

उत्प्रेक्षा में जहाँ मनु, जनु, मनहु, मानो, जानहु, निश्चय, इव, प्रायः और शंके आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ वाच्या उत्प्रेक्षा होती है और जहाँ उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दों का प्रयोग नहीं होता वहाँ प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा होती है। किन्तु जहाँ सादृश्य के बिना अर्थात् उपमेय उपमान भाव के बिना केवल सम्भावना-वाचक शब्द होते हैं वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार नहीं होता। दास जी ने काव्यनिर्णय में उत्प्रेक्षा का जो निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"जो कहौं काहु के रूप सो रीझै तो और को रूप रिझावन वारो,
जो कहौं काहु के प्रेम पगी हैं तो और को प्रेम पगावन वारो,
'दासजू' दूसरो भेव न और इतो अवसेर लगावन वारो,
जानति हौं गयो भूलि गुपालहिं पंथ इतैकर आवन वारो॥"२०६॥[४६]

इसमें 'जानति हौं' पद केवल सम्भावना-वाचक है। उपमेय-उपमान भाव न होने के कारण यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार नहीं है।

लक्षण में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का कथन उपलक्षण मात्र है।

---

१ वस्तुतः अभेद न होने पर भी अभेद मान लिया जाता है, उसे आहार्य आरोप कहते हैं।

क्योंकि हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में उपमेय उपमान भाव के बिना ही उत्प्रेक्षा होती है।

उत्प्रेक्षा के भेद इस प्रकार हैं—

उत्प्रेक्षा
- वाच्या
  - वस्तूत्प्रेक्षा
  - हेतूत्प्रेक्षा
    - उक्तविषया
    - अनुक्तविषया
  - फलोत्प्रेक्षा
- प्रतीयमाना
  - हेतूत्प्रेक्षा
  - फलोत्प्रेक्षा

(वाच्या फलोत्प्रेक्षा तथा प्रतीयमाना हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा —)
- सिद्धविषया
- असिद्धविषया
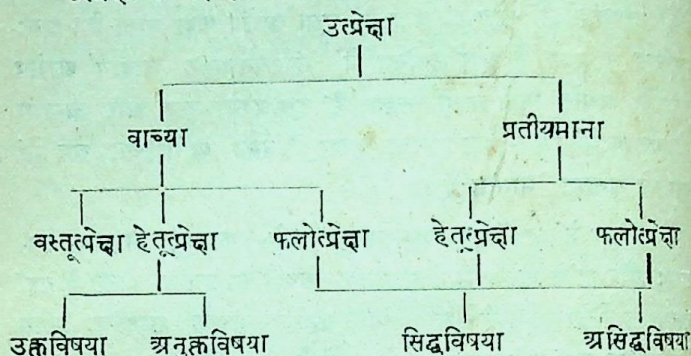
उत्प्रेक्षा के यह भेद यथा संभव गुण-गत जाति-गत, क्रिया-गत और द्रव्य-गत होते हैं।

वस्तूप्रेक्षा

एक वस्तु की दूसरी वस्तु में सम्भावना की जाने को वस्तूत्प्रेक्षा कहते हैं।

इसको 'स्वरूपोत्प्रेक्षा' भी कहते हैं।

अर्थात् जहाँ उपमेय में उपमान की सम्भावना की जाती है वहाँ वस्तूत्प्रेक्षा होती है। वस्तूत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षा का विषय (आश्रय) उपमेय होता है। इसके दो भेद हैं—

(१) उक्तविषया। जहाँ उत्प्रेक्षा का विषय (उपमेय) कहकर उपमान की सम्भावना की जाती है वहाँ उक्तविषया उत्प्रेक्षा होती है।

(२) अनुक्तविषया। जहाँ उत्प्रेक्षा के विषय का कथन न करके

उपमान की सम्भावना की जाती है वहाँ अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा होती है।

उक्त-विषया—

"सोहत ओढ़ें पीत पट स्याम सलोने गात,
मनो नील-मनि-सैल पर आतप परयो प्रभात ॥"२०७॥ [४३]

पीताम्बर धारण किये हुए श्रीकृष्ण के श्याम-तन (उपमेय) में प्रातः कालीन सूर्य-प्रभा से शोभित नील-मणि के पर्वत (उपमान) की सम्भावना की गई है। यहाँ पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण का श्याम-तन जो उत्प्रेक्षा का विषय है उसको पूर्वार्द्ध में कहकर उत्प्रेक्षा की गई है अतः उक्तविषया है। उत्प्रेक्षावाचक 'मनो' शब्द का प्रयोग है अतः वाच्या है।

प्रति प्रति लतिकाओं भूरुहों पास जाके—
मुखरित मधुपाली है मनो ये बताती।
यह तरु-लतिकाएँ भाग्यशाली महा हैं,
प्रतिदिन करते श्रीकृष्ण लीला यहाँ है ॥२०८॥

ब्रजस्थ प्रेमसरोवर के इस वर्णन में प्रत्येक लता और वृक्ष के समीप जाकर गुँजायमान होने वाली भ्रमरावली के उस गुंजन में यह उत्प्रेक्षा की गई है कि वह भृँगावली मानो उन वृक्षलताओं को भगवान कृष्ण की लीलास्थली बता रही है।

"आये अवधेस के कुमार सुकुमार चारु,
मंजु मिथिला की दिव्य देखन निकाई है।
सुररमनी-गन रसीली चहुँ ओरनि तें,
भौंरनि की भीर दौरि दौरि उमगाई है।
तिनके अनोखे-अनिमेष-दृग पाँतिनि पै,
उपमा तिहुँ पुर की ललकि लुभाई है।

उन्नत अटारिनि पैं खिरकी-दुआरिनि पै,
मानो कंज-पुंजनि की तोरन तनाई है ।।"२०९।।[१७]

देवागंनाओं के अनिमेष नेत्र पंक्तियों में कमल की वंदनवारों की उत्प्रेक्षा की गई है ।

जाती ऊपर नील-मेघपटली छाया गिरे आ कभी,
है वो श्वेत प्रवाह किंतु उससे आधा बने श्याम भी,
आती है मिलने कलिंद-तनया[१] भागीरथी द्वार में,
मानो संगम हो यहाँ फिर मिली वे जा रही साथ में ।।२१०।।

हरिद्वार में श्री गंगाजी के श्वेत प्रवाह पर गिरी हुई मेघ-छाया में श्री गंगा और यमुना के संगम के दृश्य की उत्प्रेक्षा की गई है ।

"कज्जल के टूक पर दीपशिखा सोती है कि,
श्याम-घन-मंडल में दामिनी की धारा है ।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि,
राहु के कबंध पै कराल केतु तारा है ।
'शंकर' कसौटी पर कंचन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हृदय में तीर मारा है ।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
ढाल पर खांड़ा कामदेव का दुधारा है ।।"२११।।[५६]

यहाँ नायिका के केशों में कज्जल की ढेरी के मध्य में दीपशिखा आदि की उत्प्रेक्षा की गई है । विश्वनाथ का कहना है कि ऐसे वर्णनों में 'कि' के प्रयोग में सन्देह अलङ्कार न समझना चाहिये। क्योंकि यहाँ सन्देह नहीं किया गया है, किन्तु माँग में अनेक सम्भावनायें की गई हैं अतः जिस प्रकार उपमा-वाचक 'इव' शब्द कहीं विशेष अवस्था में उत्प्रेक्षा-वाचक हो जाता है इसी प्रकार सन्देह-

---

१ यमुना ।

वाचक 'कि' शब्द भी यहाँ उत्प्रेक्षा-वाचक[1] है। अलङ्कारसर्वस्व में ऐसे उदाहरण सन्देह अलङ्कार में लिखकर कहा है कि कुछ लोग ऐसे वर्णनों में उत्प्रेक्षा मानते हैं[2]।

ऊपर के इन सभी उदाहरणों में उत्प्रेक्षा का विषय (उपमेय) कहा गया है अतः इनमें उक्तविषया उत्प्रेक्षा है।

अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा —

बरसत इव अन्जन गगन लीपत इव तम अंग ॥२१२॥

यहाँ रात्रि में सर्वत्र फैले हुए अन्धकार में आकाश से अंजन की बरसा होने की उत्प्रेक्षा की गई है। उत्प्रेक्षा का विषय जो अन्धकार है वह यहाँ नहीं कहा गया है, अतः अनुक्तविषया है।

इस उदाहरण में 'इव' शब्द उत्प्रेक्षावाचक है। इव शब्द जिस शब्द के पीछे लगा रहता है वह उपमान माना जाता है—जैसा कि शाब्दी उपमा के प्रकरण में पहिले बताया गया है[3]। पर यहाँ 'बरसत' पद तिङन्त है अर्थात् साध्य क्रिया-वाचक पद है। जहाँ तिङन्त क्रिया-वाचक पद के साथ 'इव' शब्द होता है वहाँ वह उपमान नहीं हो सकता किन्तु संभावनार्थक होता है। क्योंकि सिद्ध को उपमानता संभव है न कि साध्य को[4]। इसकी व्याख्या में कैयट[5] ने ऐसा कहकर कि यहाँ 'इव' शब्द संभावना का द्योतक है स्पष्ट कर दिया है।

जिस प्रकार संस्कृत में तिङन्त के साथ 'इव' शब्द उत्प्रेक्षा-वाचक

---

१ "तस्याश्चात्र स्फुटतया सद्भावान्नुशब्देन चेवशब्दवत्तस्या द्योतना-दुत्प्रेक्षैवेयं भवितुं युक्ता"—साहित्यदर्पण उत्प्रेक्षा-प्रकरण।

२ देखिये अलङ्कारसर्वस्व सन्देह अलङ्कार-प्रकरण।

३ देखिये, श्रौती उपमा।

४ 'न तिङन्तेन उपमानमस्तीति'— महाभाष्य ३।१-७

५ 'किन्तु तत्र संभावनार्थकः इवशब्दः'।

होता है, उसी प्रकार हिन्दी में सी, सो आदि भी तिङन्त के साथ उत्प्रेक्षावाचक होते हैं। जैसे—

"सूर्योद्भासित कनक-कलश पर केतु था,
वह उत्तर का फहर रहा किस हेतु था,
कहता सा था दिखा दिखाकर कर कला-
यह जंगम[1] साकेत देव मंदिर चला ॥"२१३॥[५०]

श्री राम बनवास के समय अयोध्या के राजप्रासाद पर फहराती हुई ध्वजा में यह उत्प्रेक्षा की गई है कि यह ध्वजा 'यह जंगम साकेत जा रहा है' यह कह रही है। यहाँ 'कहता सा' इस तिङन्त के साथ 'सा' का प्रयोग होने के कारण उत्प्रेक्षा है।

'भारतीभूषण' में—

"सजि सिंगार तिय भाल पै मृगमद-वेंदी दीन्ह,
सुवरन के जय पत्र में मदन-मुहर सी कीन्ह ॥"२१४॥[२]

यह दोहा धर्म-लुप्तोपमा के उदाहरण में दिया है। किन्तु 'मदन मुहर सी कीन्ह' में 'सी' का प्रयोग तिङन्त के साथ होने के कारण उत्प्रेक्षा है, न कि लुप्तोपमा।

अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा के अन्य उदाहरण—

तिय-तन-छवि-झर-तरन-हित लखि तिहि अतल अपारु,
स्मर-जोबन के मनहु यह तरन-कुंभ जुग चारु[2]॥२१५॥

नयिका के उरोजों में कामदेव और यौवन के तरन-कुंभों की

---

१ चलता फिरता हुआ।

२ कामिनी के शरीर की कान्ति रूप अथाह झर (झरने से निकले हुए जल के प्रवाह) में दोनों कुच मानो कामदेव और यौवन के तैरने के दो घड़े या तूँबे हैं।

उत्प्रेक्षा की गई है। उत्प्रेक्षा का विषय जो उरोज हैं, उनका कथन नहीं किया गया है अतः अनुक्तविषया है।

"फिरत बिपिन नृप देखि बराहू,
जनु बन दुरेहु ससिहि ग्रसि राहू।"

वराह के दाँतों के दृश्य में यहाँ चंद्रमा को मुख में लिये हुये राहु की उत्प्रेक्षा की हैं। उत्प्रेक्षा का विषय जो राहू का मुख और वराह के दाँत हैं, उनका कथन नहीं

भिखारीदासजी ने काव्यनिर्णय में अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"चंचल लोचन चारु बिराजत पास छुरी अलकैं थहरैं,
नाक मनोहर औ नथ-मोतिन की कछु बात कही न परै,
'दास' प्रभानि भर्यो तिय-आनन देखत ही मनु जाय अरै,
खंजन सांप सुआ संग तारे मनो ससि बीच बिहार करै ॥"२१६॥[४६]

इसके चौथे चरण में चन्द्रमा के मध्य में खंजन, सर्प, शुक और तारागणों की उत्प्रेक्षा की गई है। किन्तु उत्प्रेक्षा के विषय (उपमेय) जो नायिका के मुख, नेत्र, अलकावली, नासिका और नथ के मोती हैं उनका कथन पहिले तीनों चरणों में कर दिया गया है; अतः उक्तविषया है न कि अनुक्तविषया।

लछिरामजी ने भी अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा का रामचन्द्रभूषण में यह लक्षण लिखा है—

"जहाँ अजोग कलपित सु तहँ वस्तु अनुक्त बखान।"

इसी लक्षण के अनुसार लछीरामजी ने निम्नलिखित उदाहरण लिखा है—

"मान गयौ मघवान को भूलि लखे दशरत्थ-बरात छटा है,
फूले घने बरसैं मुद में रचे देवबधूटी बिमान अटा, है

लाल अमारी मतंगन पै 'लछिराम' करै समता न कटा है,
आवत कज्जल-मेरु मनों चढ़ी पच्छिमी नील गुलाली घटा है ॥"२१६॥]५५]

इसमें दशरथजी की बरात के हाथियों में गुलाल की घटा छाये हुए कज्जल के पर्वतों की उत्प्रेक्षा की गई है। पर इसमें भी अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा नहीं है, क्योंकि उत्प्रेक्षा का विषय जो सुरख अँवारी वाले हाथी हैं, उनका कथन तीसरे चरण में कर दिया गया है; अतः उक्तविषया है। दासजी ने औरलछीरामजी ने असम्भव वस्तु की कल्पना की जाने को अनुक्तविषया उत्प्रेक्षा समझ लिया है। सम्भवतः काव्यनिर्णय को देख-कर लछीरामजी को भी भ्रम हो गया हो।

हेतूत्प्रेक्षा

अहेतु में हेतु की उत्प्रेक्षा की जाने को हेतूत्प्रेक्षा कहते हैं।

अर्थात् जो वास्तव में कारण न हो उसे कारण मान कर उसी की उत्प्रेक्षा किया जाना। इसके दो भेद हैं—

(१) सिद्ध-विषया। उत्प्रेक्षा का विषय सिद्ध अर्थात् सम्भव हो।

(२) असिद्ध-विषया। उत्प्रेक्षा का विषय असिद्ध अर्थात् असम्भव हो।

सिद्ध-विषया हेतूत्प्रेक्षा—

लाई श्री मिथिलेश-सुता को रंगालय में सखियाँ साथ,
विश्व-विजय-सूचक वरमाला लिये हुए थीं जो निज हाथ।
लज्जा, कांति और भूषण का उठा रहीं थीं अतुलित भार,
मंद मंद चलती थीं मानो इसी हेतु वह अति सुकुमार ॥२१८॥

श्री जानकीजी के स्वाभाविक मन्द गमन में लज्जा आदि का भार उठाने का कारण बता कर उत्प्रेक्षा की गई है जो कि वस्तुतः कारण

है। यहाँ उत्प्रेक्षा में भार उठाना रूप कारण जो उत्प्रेक्षा का आश्रय है, वह सिद्ध है। भार उठाने के कारण मन्द गमन होना सम्भव है अतः सिद्ध-विषया है।

असिद्ध-विषया हेतूत्प्रेक्षा—

प्रिया कुमुदनी हुई निमीलित रही दृष्टि-पथ रजनी भी न,
हुई समस्त अस्त ताराएँ रहा सुपरिजन[1] चिह्न कहीं न,
चिन्ता-ग्रस्त इसी से हिमकर[2] होकर विगत-प्रभा प्रभात,
जलनिधि में गिरता है मानो क्षितिज-निकट जाकर अचिरात॥२१६॥

प्रभात में चन्द्रमा का कांति-हीन होकर क्षितिज पर चला जाना स्वाभाविक है। यहाँ क्षितिज पर जाने के कारण में नष्ट परिजनों की चिन्ता होने की उत्प्रेक्षा की गई है जो कि वस्तुतः कारण नहीं है। चन्द्रमा को उक्त चिन्ता का होना असम्भव है, अतः असिद्ध-विषया है।

तरुणियों के हृदय को अपना बनाकर स्थान यह,
चाहता रहना अहो! अब भी वहाँ दृढ़ मान यह,
उदित होने के समय यह जान कर कोपित हुआ,
क्या इसी से चन्द्रमा अत्यन्त यह लोहित हुआ॥२२८॥

उदित होते समय चन्द्रमा की स्वाभाविक रक्तता में मानवती नायिकाओं का मान दूर न होने से क्रोध के कारण अरुण होने की उत्प्रेक्षा की गई है जो कि वस्तुतः कारण नहीं है। चन्द्रमा का मानिनी नायिकाओं पर कुपित होना असम्भव है अतः असिद्ध-विषया है।

सहता न विकाश कभी निशि में शशि है यह कंज का शत्रु सदा से,
उसका तुम गर्व-विनाश प्रिये! करती अपने मुख की प्रतिमा से,

---

१ कुटुम्ब। २ चन्द्रमा।

यह मान बड़ा उपकार अतः अरविंद कृतज्ञ हुआ सुख पाके—
मत मेरे में अर्पण की उसने पद तेरे सभी सुखमा निज आके[१] ॥२२१॥

रूपवती रमणियों के चरणों में स्वभावतः कोमलता और सुन्दरता होती है। यहाँ उस सौन्दर्य का कारण कमल द्वारा अपनी शोभा तरुणी के चरणों में अर्पण करना कहा गया है। यह असम्भव है, अतः असिद्ध-विषया है।

फलोत्प्रेक्षा

अफल में फल की संभावना की जाने को फलोत्प्रेक्षा कहते हैं।

जहाँ वास्तव में जो फल न हो उसमें फल की कल्पना करके उत्प्रेक्षा की जाती है वहाँ फलोत्प्रेक्षा होती है। यह भी सिद्ध-विषया और असिद्ध-विषया दो प्रकार की होती है।

सिद्ध-विषया—

भार उठाने के लिये पीन कुचों का वाम,
मानो इस कटिक्षीण पर कसी कनक की दाम ॥२२२॥

कामिनियाँ अपने नितंबों पर शोभा के लिये सुवर्ण दाम (कटि भूषण-किंकिणी) धारण करती हैं न कि स्थूल कुचों का भार उठाने के लिये, किन्तु यहाँ इस फल के लिए—कुचों का भार उठाने के लिए-किंकिणी-धारण करना कहा गया है अतः फलोत्प्रेक्षा है। भार उठाने के लिये कटि बाँधी ही जाती अतः सिद्ध-विषया है।

---

१ कमल जाति के द्वेषी चन्द्रमा के सौन्दर्य का गर्व तूने अपनी मुखकान्ति से दूर कर दिया है, इसी उपकार को मानकर मानों कमल ने अपनी शोभा, हे प्रिये ! तेरे चरणों में अर्पित कर दी है।

असिद्ध-विषया—

दमयन्ती कच-पाश-विभा से गत-शोभा निज देख कलाप—
कार्तिकेय की सेवा करता है मयूर मानों इस ताप,
उसकी कुच-शोभा के आगे निष्प्रभ-कुम्भ हुआ गजराज—
मानों उनके सम होने को वह भी भजता है सुर-राज ॥२२३॥

यहाँ दमयन्ती के केश-कलाप और उसके कुचों की शोभा की समता प्राप्त करने के लिये—इस फल की इच्छा से—मयूर द्वारा कार्तिकेय की और ऐरावत हाथी द्वारा इन्द्र की सेवा करने की उत्प्रेक्षा की गई है। मयूर और हाथी द्वारा इस प्रकार की इच्छा का किया जाना सर्वथा असम्भव है, अतः असिद्ध-विषया है।

उक्त तीनों प्रकार की (वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा) वाच्योत्प्रेक्षाओं में कहीं 'जाति' उत्प्रेक्ष्य रहती है, कहीं 'गुण' कहीं 'क्रिया' और कहीं 'द्रव्य'। कुछ आचार्यों के मत के अनुसार द्रव्यगत उत्प्रेक्षा केवल वस्तूत्प्रेक्षा ही हो सकती है, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा नहीं।

रसगंगाधर में हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के भी द्रव्यगत उदाहरण दिये गये हैं। वाच्योत्प्रेक्षा के तीनों भेदों के जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य भेद से चार चार भेद होते हैं। जैसे—'सहता न विकास ········' (सं० २२१) में कमल जातिगत उत्प्रेक्षा है। 'सोहत ओढ़े पीत पट········' (सं० २०७) में 'पर्यो' इस क्रिया की उत्प्रेक्षा है। 'तरुणियों के हृदय को········' (सं० २२०) में 'अरुण' गुण की उत्प्रेक्षा है। 'मृगनैनी मुख लसतु है मानहु पूरनचन्द'। में 'चन्द्र' इस द्रव्य की उत्प्रेक्षा है। किन्तु इन जाति, गुण आदि भेदों में विशेष चमत्कार नहीं है।

यहाँ तक सारे उदाहरणों में उत्प्रेक्षा-वाचक 'मनु' 'जनु' आदि

शब्दों का प्रयोग है, अतः ये सभी वाच्योत्प्रेक्षा के उदाहरण हैं।

प्रतीयमाना अथवा गम्योत्प्रेक्षा

विश्वनाथ का मत[1] है कि 'प्रतीयमाना' फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा ही हो सकती हैं वस्तूत्प्रेक्षा नहीं। क्योंकि वस्तूत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द का प्रयोग न किया जाय तो अतिशयोक्ति की प्रतीति होने लगती है। जैसे—

सिस-मंडल को छुवत हैं मनु या पुर के भौन ॥२२४॥

इस वर्णन में महलों के ऊँचे शिखिरों में चन्द्र-मण्डल को छूने की उत्प्रेक्षा की गई है। यदि यहाँ उत्प्रेक्षा-वाचक 'मनु' शब्द हटा दिया जाय तो असम्बन्ध में सम्बन्धवाली सम्बन्धातिशयोक्ति हो जाती है। किन्तु पण्डितराज'[2] ऐसे उदाहरणों में उत्प्रेक्षावाचक शब्द के अभाव में भी गम्योत्प्रेक्षा ही मानते हैं, न कि सम्बन्धातिशयोक्ति। पण्डितराज का कहना है कि सम्बन्धातिशयोक्ति वहीं हो सकती है जहाँ उत्प्रेक्षा की सामग्री न हो। जैसे—

जलद ! गरज करु नांहि सुनि मेरो मासिक गरभ,
गुनि मत-गज-धुनि याहि, उछरतु मेरे उदर में ॥२२५॥

इस पद्य में उत्प्रेक्षा की सामग्री न होने के कारण सम्बन्धातिशयोक्ति है।

भिखारीदासजी ने लिखा है गम्योत्प्रेक्षा, 'काव्यलिंग' में मिल जाती है—"याकी विधि मिल जात है काव्यलिंग में कोइ" संभवतः गम्योत्प्रेक्षा का विषय दासजी नहीं समझ सके इसी से उन्होंने काव्य निर्णय में गम्योत्प्रेक्षा का यह उदाहरण दिया है—

"बिनहु सुमन गन बाग में भरे देखियत भौंर,
'दास' आज मनभावती खेल कियो इहि ठौर ॥"२२६॥ [४६]

---

१ देखिये साहित्यदर्पण परिच्छेद १०। ४४

२ देखिये रसगंगाधर उत्प्रेक्षा-प्रकरण पृ० ३१४-३१५।

ऐसे वर्णनों में गम्योत्प्रेक्षा नहीं हो सकती है। इसमें न तो स्वरूप की उत्प्रेक्षा है और न हेतु या फल की ही। पुष्प के बिना भौंरों की भीड़ देख कर बाग में नायिका के आने की संभावना मात्र है। इस दोहे के पूर्वार्द्ध में पुष्पों के होने रूप कारण के अभाव में भौंरों के होने रूप कार्य का होना कहा जाने से उक्तनिमित्ता प्रथम 'विभावना' है अथवा उत्तरार्द्ध के वाक्य का पूर्वार्द्ध में ज्ञापक कारण होने से अनुमान अलंकार भी माना जा सकता है।

प्रतीयमाना फलोत्प्रेक्षा —

सूक्ष्म लंक कुच धरन कौं कसी कनक की दाम।

यहाँ मनु, जनु आदि उत्प्रेक्षा-वाचक शब्दों के बिना उत्प्रेक्षा है। नितम्बों पर कटि-भूषण का धारण करना कुचों का भार उठाने के लिये माना गया है। अतः गम्य-फलोत्प्रेक्षा है।

प्रतीयमाना हेतूत्प्रेक्षा—

"बालपन विसद बिताइ उदयाचल पै,
संवलित कलित कलानि ह्वै उमाहै है।
कहै 'रतनाकर' बहुरि तमतोम जीत,
उच्चपद आसन लै सासन उछाहै है।
पुनि पद सोऊ त्यागि तीसरे बिभाग मांहि,
न्यून तेज ह्वै कै सून पास मांहि आवै है।
जानि पन चौथो अब भेष कै भगौहौं भानु,
अस्ताचल थान में पयान कियो चाहै है॥"२२७॥

यहाँ सूर्य के अस्ताचल पर जाने का कारण उसका चौथापन कहा गया है, जो कि वस्तुतः कारण नहीं है। उत्प्रेक्षा-वाचक शब्द न होने के कारण प्रतीयमाना है।

उत्प्रेक्षा यदि किसी दूसरे अलङ्कार द्वारा उत्थापित होती है अर्थात् उत्प्रेक्षा का कारणीभूत कोई दूसरा अलंकार होता है तो वह अधिक चमत्कारक होजाती है। जैसे—

श्लेष-मूला उत्प्रेक्षा—

> शुक्ती-संकट सो निकरि मुक्त-निकर द्युतिमान,
> रमनी-गल-अधिवास सों मनहु भयो गुनवान ॥२२८॥

शुक्ति-संकट से निकसि (सीप के उदर से निकलकर अथवा संसार के दुःख को त्याग कर) मुक्त-निकर द्युतिमान (कान्तियुक्त मोती अथवा तेजस्वी मुक्त पुरुष) कामिनी की ग्रीवा के अधिवास से (कण्ठ में हार रूप रहने से अथवा स्त्रियों के कण्ठ लगने की वासना से) मानों गुणवान (सूत के धागे से युक्त अथवा सत्व रज आदि गुणों से युक्त) हो गया है। यहाँ 'रमनी-गल-अधिवास सों' इस हेतु उत्प्रेक्षा का कारण 'गुणवान' पद का श्लेष है।

सापन्हव-उत्प्रेक्षा—

> आता है चलके प्रवाह गिरि से पा वेग की तर्जना—
> होती है ध्वनि सो न, किन्तु करती मानो वही गर्जना,
> वीची-क्षोभ-खिली सुदन्त-अवली ये फेन आभास है,
> श्री गंगा कलि-काल का कर रहीं मानो बड़ा हास है ॥२२९॥

यहाँ श्री गंगा के वेग वाले प्रवाह में उठते हुए फेनों का (भागों का) निषेध करके उन में कलि-काल के हास्य करने की उत्प्रेक्षा की गई है, अतः यह सापह्नव-उत्प्रेक्षा है।

> "चपल-तुरंग चख, भृकुटी जुआ के तारे,
> धाय धाय भिरत पिया के हित पथ है।
> तरल तरौना चक्र, आसन कपोल गोल,
> आयुध अलक बंक विकस्यो सु गथ है।

सारथी सिंगार हाव भाव कर रोरी लिये,
मन से मतंगन की गति लथपथ है।
विविध विलास साज साजै कवि 'उरदाम',
मेरे जान मुख मकरध्वज को रथ है॥"२३०॥ [४]

यह रूपक मिश्रित उत्प्रेक्षा है। नेत्र आदि में जो तुरंग आदि का रूपक किया गया है, उसके द्वारा नायिका के मुख में कामदेव के रथ की उत्प्रेक्षा सिद्ध होती है।

अन्य अलङ्कारों से उत्प्रेक्षा का पृथक्करण—

भ्रांतिमान अलङ्कार में एक वस्तु में अन्य वस्तु की कल्पना की जाने में वास्तव वस्तु का ज्ञान नहीं होता है, कवि द्वारा ही वास्तव वस्तु का कथन किया जाता है। उत्प्रेक्षा में वस्तु के वास्तव स्वरूप का भी ज्ञान रहता है।

सन्देह अलङ्कार में ज्ञान की दोनों कोटियाँ समकक्ष प्रतीत होती हैं। उत्प्रेक्षा में एक कोटि जिसकी उत्प्रेक्षा की जाती है, प्रबल रहती है।

अतिशयोक्ति में अध्यवसाय सिद्ध होता है अर्थात् उपमेय का निगरण[1] होकर उपमान मात्र का कथन होता है। उत्प्रेक्षा में अध्यवसाय साध्य रहता है, अर्थात् उपमान का अनिश्चित रूप से कथन होता है।

---

१ निगरण का अर्थ है निगल जाना—हजम कर जाना। अतिशयोक्ति में उपमेय का कथन न होकर केवल उपमान का कथन होता है, अर्थात् उपमान द्वारा उपमेय का निगरण किया हुआ होता है।

(१५) अतिशयोक्ति अलङ्कार

अतिशय का अर्थ[1] है अतिक्रान्त अर्थात् उल्लंघन। अतिशयोक्ति अलंकार में लोकमर्यादा को उल्लंघन करनेवाली उक्ति होती है।

अतिशयोक्ति शब्द के अर्थ का विषय तो बहुत व्यापक है। शब्द और अर्थ की जो विचित्रता (अलंकारता) है वह अतिशयोक्ति के ही आश्रित है। अतिशयोक्ति के भिन्न-भिन्न चमत्कारों की विशेषता से अलंकारों के भिन्न-भिन्न नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। जहाँ किसी चमत्कारक उक्ति में किसी विशेष अलंकार का नाम निर्दिष्ट नहीं किया गया हो, वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार कहा जा सकता है। आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में सन्देह, निश्चय, मीलित और अधिक आदि बहुत से अलंकारों को पृथक् न लिखकर अतिशयोक्ति के अन्तर्गत ही लिखा है। दण्डी ने अतिशयोक्ति प्रकरण के उपसंहार में लिखा है कि अतिशय नाम की उक्ति वाचस्पति द्वारा पूजिता है। यह बहुत से अन्य अलंकारों को भी आश्रयभूत है।[2] अतिशयोक्ति नामक एक विशेष अलंकार भी माना गया है, इसमें अतिशयोक्ति का व्यापक अर्थ न लेकर लोक-सीमा के उल्लंघन का वर्णन होता है, उसके भेद इस प्रकार हैं—

अतिशयोक्ति
- १ रूपकातिशयोक्ति
  - शुद्धा
  - सापह्नवा
- २ भेदकातिशयोक्ति
- ३ सम्बन्धातिशयोक्ति
  - सम्भाव्यमाना
  - निर्णीयमाना
- ४ असम्बन्धातिशयोक्ति
- ५ कारणातिशयोक्ति
  - अक्रमा०
  - चपला०
  - अत्यन्ता०

---
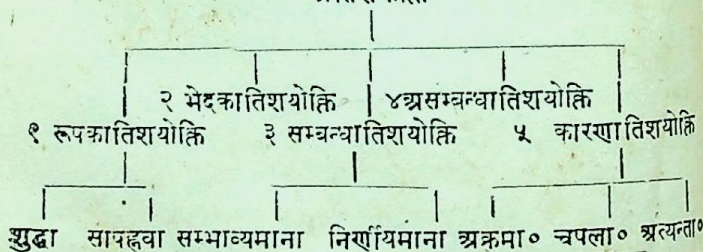
१ 'अतिशयितः। त्रि० अतिक्रान्ते'—शब्दार्थचिन्तामणि।

२ "अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥"
काव्यादर्श परि० २।२२०

रूपकातिशयोक्ति

उपमान द्वारा निगरण किये गए उपमेय के अध्यव-सान को रूपकातिशयोक्ति कहते हैं।

निगरण का अर्थ है निगल जाना अर्थात् उदर-गत कर लेना और अध्यवसाय का यहाँ यह अर्थ है कि उपमेय को न कहकर केवल उप-मान को कहना। अर्थात् आहार्य अभेद[1] का निश्चय। रूपकातिश-योक्ति में उपमेय (आरोप के विषय) का कथन न किया जाकर केवल उपमान (आरोप्यमाण) के कथन द्वारा ही उपमेय का वर्णन किया जाता है। अतः इसमें गौणी साध्यवसाना लक्षणा[2] रहती है। अर्थात् उपमेय और उपमान दो पदार्थ होने के कारण दोनों में परस्पर भेद होते हुए भी भेद में अभेद कहा जाता है।

रूपकातिशयोक्ति का रूपक से पृथक्करण—

रूपक में उपमेय और उपमान दोनों का कथन होता है। अतः केवल आहार्य अभेद होता है और अतिशयोक्ति में केवल उपमान का कथन किया जाता है अतः अध्यवसान रूप आहार्य अभेद होता है।

रूपकातिशयोक्ति का उदाहरण—

यमुना-तट कानन में स्थित है मिलता करने पर खोज पता,
जन आश्रित जो रहते, उनका पथ-खेद सभी हरता हरता,
कनकाभ-लता अवलंबित है वह श्याम-तमाल सदा स्फुरता,
अविलंब शरण ले रे, उसकी अब क्यों यह ताप वृथा सहता॥२३१॥

---

१ आहार्य-अभेद अर्थात् अभेद न होने पर भी अभेद मान लेना।

२ लक्षणा को समझने के लिये इस ग्रंथ का प्रथम भाग रस मञ्जरी देखिये।

यहाँ श्रीराधाकृष्ण उपमेय है। सुवर्ण-लता युक्त तमाल वृक्ष उपमान है। उपमान श्रीराधाकृष्ण का कथन नहीं किया गया है—केवल कनकाभ लता (सुवर्ण जैसी कान्तिवाली लता जो श्रीराधिकाजी का प्रसिद्ध उपमान है) से युक्त तमाल-वृक्ष (जो श्रीकृष्ण का प्रसिद्ध उपमान है) के कथन द्वारा उपमेय का सूचन किया गया है। अतः उपमान द्वारा उपमेय का निगरण है।

"ए हो ब्रजराज ! एक कौतुक बिलौको आज,
भानु के उदै में वृषभानु के महल पर।
बिन जलधर बिन पावस गगन दुति,
चपला चमंकै चारु घनसार थल पर।
'श्रीपति' सुजान मनमोहन मुनीसन के,
सोहैं एक फूल मंजु चंचला अचल पर।
तामें एक कीर-चोंच दाबै है नखत जुग,
सोभित हैं फल-स्याम लोभित कमल पर ॥"२३२॥ [५७]

यहाँ श्री राधिकाजी और उनके अङ्गों का (जो उपमेय है) कथन नहीं है। केवल उनके उपमान चपला (बिजली), कीर आदि ही का कथन किया गया है। इस कवित्त के दूसरे चरण में विभावना है, वह इस रूपकातिशयोक्ति का अंग है।

"है बिखेर देती वसुंधरा मोती सब के सोने पर,
रवि बटोर लेता है उनको सदा सवेरा होने पर,
और बिराम दायिनी अपनी सध्या को दे जाता है,
शून्य श्याम-तनु जिससे उसका नया रूप दिखलाता है ॥"२३३॥

यह निशा-कालीन, प्रातःकालीन और सन्ध्या-कालीन तारागणों का वर्णन है। उपमेय तारागणों का कथन नहीं किया गया है केवल उपमान मोतियों का कथन किया गया हैं।

सापह्नव रूपकातिशयोक्ति—

अपन्हुति के साथ जहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है वहाँ सापह्नव-अतिशयोक्ति होती है।

> मुक्ता-खचित विद्रुमों में वह भरा मधुर रस अनुपम है;
> पुष्प, भार-वाहक केवल हैं वहाँ नहीं पाते हम हैं,
> सुधा, सुधाकर में न कहीं है वसुधा में यदि सुधा कहीं—
> तो है वहीं देखिये चल कर रमणी में प्रत्यक्ष यहीं ॥२३४॥

यहाँ नायिका के अधरामृत—उपमेय का कथन न करके विद्रुम (अधर के उपमान) और मुक्ता (दन्तावली के उपमान) के मध्य में मधुर रस और सुधा उपमानों का कथन किया गया है। मधुर रस आदि का पुष्पादिक में निषेध किये जाने के कारण सापह्नव अतिशयोक्ति है।

ग्वाल कवि ने अपने 'अलङ्कार भ्रम भंजन' में यह लिखा है कि सापह्नव रूपकातिशयोक्ति 'परिसंख्या' अलङ्कार में मिल जाती है। पर यह उनका भ्रम है सापह्नव अतिशयोक्ति में उपमेय का निगरण होता है—केवल उपमान का कथन किया जाता है। और 'परिसंख्या' में उपमेय-उपमान भाव नहीं रहता है। अतः इन दोनों में यह स्पष्ट भेद है।

भेदकातिशयोक्ति

उपमेय के अन्यत्व वर्णन में भेदकातिशयोक्ति होती है।

पूर्वोक्त रूपकातिशयोक्ति में भेद में अभेद होता है और इस भेदकातिशयोक्ति में अभेद में भेद होता है, अर्थात् वास्तव में भेद न होने पर भी भेद कथन किया जाता है।

> है अन्य धन्य रचना वचनावली की,
> लोकोत्तरा प्रकृति लोक-हितैषिणी भी।

जो कार्य आर्य-पथ-दर्शक हैं उन्हांके—
हे मित्र ! वे सब विचित्र महज्जनों के ॥२३५॥

यहाँ सज्जनों के लौकिक चरित्रों में 'अन्य' 'लोकोत्तर' और 'विचित्र' पदों के द्वारा भेद वर्णन किया गया है।

"अनियारे दीरघ नयनि किती न जुवति सयान,
वह चितवन औरैं कछू जिहिं बस होत सुजान ॥"२३६॥ [४३]

यहाँ कामिनी के अन्य साधारण कटाक्षों में 'औरैं' पद के द्वारा भेद बताया गया है।

"औरैं भाँति कुंजन में राग-रत भौंर भीर
औरैं भाँति भौरिन में बौरन के न्वै गये।
कहैं 'पद्माकर' सु औरैं भाँति गलियान-
छलिया छबीले छैल औरैं छबि ह्वै गये।
औरैं भाँति बिहग समाज में अवाज होति,
अबै रितुराज के न आज दिन द्वै गये।
औरैं रस औरैं रीति औरैं राग औरैं रंग,
औरैं तन औरैं मन औरैं बनह्वै गये ॥"२३७॥ [३६

बसन्त आगमन के इस वर्णन में 'औरैं' शब्दों के द्वारा कुंज आदि में भेद न होने पर भी भेद कहा गया है।

सम्बन्धातिशयोक्ति

असम्बन्ध में सम्बन्ध कल्पना किये जाने को सम्बन्धातिशयोक्ति कहते हैं।

इसके दो भेद हैं—

(१) सम्भाव्यमाना। जहाँ 'यदि' 'जो' आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा असम्भव कल्पना की जाय।

(२) निर्णीयमाना । जहाँ निश्चित रूप से असम्भव कल्पना की जाय । अर्थात् निर्णीत रूप से असम्भव वर्णन किया जाय ।

संभाव्यमाना—

"करतल परस्पर शोक से उनके स्वयं घर्षित हुए,
तब विस्फुरित होते हुए भुजदंड यों दर्शित हुए,
दो पद्म शुंडों में लिए दो शुंडवाला गज कहीं—
मर्दन करै उनको परस्पर तो मिलै समता वही ॥"२३८॥[५०]

यहाँ 'कहीं' शब्द द्वारा दो शुंड़ वाले हाथी की असम्भव कल्पना की गई है अतः सम्भाव्यमाना है । अर्थात् दो शूँड़ वाले हाथी के होने का सम्बन्ध न होने पर भी 'कहीं' शब्द के प्रयोग द्वारा असम्भव सम्बन्ध कल्पना की गई है ।

"आनन कोटिन कोटि लहै प्रति-आनन कोटिन जीभ जु पावै,
सारदा संकर सेसौ गनैसौ प्रसन्न व्है जो जुग कोटि पढ़ावैं,
ध्यान धरै तजि आनि विषै वह 'दत्तजू' ग्यान जो ब्रह्म पै पावै,
ए जननी जगदम्ब ! चरित्र ये तेरे कछू तब गावै तो गावै ॥"२३९॥[२५]

यहाँ भी 'जो' पद के प्रयोग द्वारा सम्भाव्यमाना सम्बन्धातिशयोक्ति है ।

जहाँ 'यदि' और 'जो' आदि के प्रयोग होने पर भी वास्तविक वर्णन होता है वहाँ यह अलङ्कार नहीं होता है । जैसे—

"सक्र जो न माँग लेतो कुंडल कवच पुनि,
चक्र जो न लीलतो धरनि रथ-धार तो ।
कुन्ती जो न सरन समेटि लेती द्विजराज,
साथ जो न हो तो, सल्य सारथी न मारतो ।
'तोषनिधि' जो पै प्रभु पीत-पट वारो बनि,
सारथीपने को कछु कारज न सारतो ।

तो तो बीर करन प्रतापी रविनन्दन सु,
पांडु-सुत-सेना को चबेना करि डारतो॥"२४०॥[२४]

यहाँ 'जो' शब्दों का प्रयोग है परन्तु कर्ण की और पाण्डवों की वास्तविक अवस्था का वर्णन होने के कारण अलङ्कार नहीं है।

सम्भाव्यमाना अतिशयोक्ति को चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में 'सम्भावना' नाम का एक स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। दण्डी ने इसे 'अद्भुतोपमा, नामका उपमा का ही एक भेद लिखा है।

निर्णीयमाना—

जलद ! गरज करु नांहि सुनि मेरो मासिक गरभ,
गुनि मत-गज-धुनि ताहि उछरतु है मेरे उदर ॥२४१॥

मेघ-गर्जना को गज-ध्वनि समझ कर सिंहनी के गर्भ का उछलना असम्भव है अतः सम्बन्ध न होने पर भी यहाँ कहा गया है और निश्चित रूप से सम्बन्ध कहा गया है अर्थात् 'यदि' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है अतः निर्णीयमाना अतिशयोक्ति है।

असम्बन्धातिशयोक्ति

सम्बन्ध में असम्बन्ध कहने को असम्बन्धातिशयोक्ति कहते हैं।

जुग उरोज तेरे अली ! नित नित अधिक बढ़ांय,
अब इन भुज-लतिकान में, एरी, ए न समाँय ॥२४२॥

उरोजों का दोनों भुजाओं के मध्य भाग में होने का सम्बन्ध प्रत्यक्ष है फिर भी यहाँ उरोजों को उससे अधिक विस्तृत कहकर असम्बन्ध कहा गया है।

कारणातिशयोक्ति

कारण और कार्य के पौर्वापर्य, विपर्यय में कारणातिशयोक्ति होती है।

सर्वत्र 'कारण' पहिले और उसके बाद 'कार्य' हुआ करता है। जहाँ इस नियम के विपरीत वर्णन होता है, वहाँ कारणातिशयोक्ति होती है। इसके तीन भेद हैं:—

(१) अक्रमातिशयोक्ति

जहाँ कार्य और कारण का एक ही काल में होना कहा जाता है वहाँ अक्रमातिशयोक्ति होती है।

"उठ्यौ संग गज-कर-कमल चक्र चक्र-धर हाथ,
करते चक्र रु नक्र-सिर धर ते बिलग्यो साथ ॥" २४३॥

यहाँ गज-शुण्ड से कमल का उठना यह कारण और श्रीहरि के हाथ से सुदर्शन-चक्र का उठना और ग्राह का शिर काटना यह कार्य, इन दोनों का एक ही साथ होना कहा गया है।

"[१]उतै वे निकारैं बर-माला हृदय-संपुट सौं,
इतै अखै तून के निकारत ही बान के।

---

१ यह अर्जुन के युद्ध का वर्णन है। अर्जुन द्वारा तूणीर से बाण के निकालते ही स्वर्ग में अप्सरायें वर-माला निकालने लगती हैं। गाण्डीव पर बाण के खैंचते ही वे देवाङ्गनायें वरमालाओं की ग्रन्थियों को खैंचने लगती हैं। क्रोध से भरे अर्जुन के कटाक्ष जिस शत्रु पर गिरते हैं, अप्सराओं के कामकटाक्ष उस पर गिरने लगते हैं। कौरवों के वीरों को मारने के लिये अर्जुन के हाथ और उनको बरने के लिये अप्सराओं के हाथ एक ही साथ चलते हैं।

उतैं देव-वधू माल-ग्रंथि को सँधान करैं,
गाण्डीव की मुरबी पै होत ही सँधान के।
इतैं जापै कोप की कटाच्छ भरे नैन परैं,
उतैं भर काम की कटाच्छ प्रेम पान के।
मारिबे को बरबे को दोनों एक साथ चलैं,
इतैं पार्थ-हाथ उतैं हाथ अच्छरान के ॥"२४४॥[६]

यहाँ अर्जुन द्वारा अक्षय-तूण से बाणों का निकालना, आदि कारणों का और युद्ध में मरने के पश्चात् वीर पुरुषों को स्वर्गलोक में अप्सराओं का प्राप्त होना आदि कार्यों का एक ही साथ होना क॰ गया है।

(२) चपलातिशयोक्ति

जहाँ कारण के ज्ञानमात्र से कार्य का होना कहा जाता है वहाँ चपलातिशयोक्ति होती है।

'जाऊँ कै जाऊँ न' यह सुनतहि पिय-मुख बात,
ढरकि परे करसौं वलय सूख गये तिय-गात ॥२४५॥

यहाँ प्रिय-गमन रूप कारण के ज्ञानमात्र से नायिका के हाथ के कङ्कण का ढीला होकर गिर जाने रूप कारण के ज्ञान मात्र से शरीर के सूख जाने रूप कार्य का होना कहा गया है।

(३) अत्यन्तातिशयोक्ति

जहाँ कारण के प्रथम ही कार्य का होना कथन किया जाता है, वहाँ अत्यन्तातिशयोक्ति होती है।

"अजब अखंड बांह बलित लता लौं बसी
मंडित विरद मारू मंत्र-भा मढति है।

परम निसंक पान कीबे की रुधिर, चाह
'लछिराम' साहस अभंग में बढ़ति है।
रावरी कृपान रन रंग बीच रामचंद्र!
बंक बढ़ि फन पै बहाली यों चढ़ति है।
प्रान पहिले ही हरैं असुर सँघातिन के
पीछे पन्नगी लौं म्यान-बाँबी तें कढ़ति है॥"२४६॥[५५]

यहाँ कृपाण का म्यान से निकलना जो कारण है, उसके प्रथम ही राक्षसों के प्राणान्त होने रूप कार्य का होना कहा गया है।

"रमत रमा के संग आनँद-उमँग भरे
अंग परे थहरी मतंग अवराधे पै।
कहै 'रतनाकर' बदन-दुति औरैं भई
बूँदै छई छलकि दगनि नेह-नाधे पै।
धाये उठि बार न उबारन में लाई रंच
चंचला हू चकित रही है बेग साधे पै।
आवत वितुण्ड[1] की पुकार मग आधे मिली,
लौटत मिल्यौ तौ पच्छिराज[2] मगआधे पैं॥"२४७॥[१७

यहाँ गजेन्द्र की पुकार सुनने रूप कारण के प्रथम ही उसके उद्धार करने के लिये प्रस्थान करने रूप कार्य का होना कहा गया है।

---

१ हाथी। २ गरुड़।

(१६) तुल्ययोगिता अलङ्कार

तुल्ययोगिता का अर्थ है तुल्य पदार्थों का योग। तुल्ययोगिता अलङ्कार में अनेक प्रस्तुतों का या अनेक अप्रस्तुतों का गुण या क्रिया रूप एक धर्म में योग अर्थात् सम्बन्ध आदि कथन किया जाता है। इसकेतीन भेद हैं :—

प्रथम तुल्ययोगिता

केवल अनेक प्रस्तुतो का अथवा केवल अप्रस्तुतों का एक ही साधारण धर्म एक बार कहा जाय वहाँ प्रथम तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है।

प्रथम तुल्ययोगिता में औपम्य (उपमेय-उपमान भाव) गम्य (छिपा हुआ) रहता है। अर्थात् अनेक उपमेयों का अथवा अनेक उपमानों का एक धर्म कहा जाता है। किन्तु उपमा की तरह तुल्ययोगिता में सादृश्य की योजना करने वाले साधारण-धर्म-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता है।

लक्षण में 'एक बार' कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृतों या अप्रकृतों के धर्म का एक ही बार प्रयोग किया जाता है, प्रत्येक के साथ पृथक्-पृथक नहीं। अतः—

दाख मधुर दधि मधुर है मधुर सुधा हू होइ।
जो लागै जाकों मधुर ताको मधुर सु सोइ ॥२४०॥

ऐसे वर्णनों में तुल्ययोगिता नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यहाँ दाख आदि प्रत्येक के साथ मधुर धर्म का पृथक्-पृथक् प्रयोग किया गया है।[1]

---

१ देखिये, काव्यप्रकाश की प्रदीप व्याख्या।

प्रस्तुतों के एकधर्म का उदाहरण—

"सर्व ढके सोहत नहीं उघरे होत कु-वेस,
अरध-ढके छवि पातु हैं कवि-अच्छर, कुच, केस ॥"२४६॥

यहाँ कवि-वाणी (काव्य) कुच और केश तीनों वर्णनीय होने के कारण प्रस्तुत हैं। इन तीनों का 'अरध ढके छवि पातु हैं' यह एक ही क्रिया रूप धर्म एक ही बार कहा गया है।

"कहैं यहै श्रुति सुमृत्यौ यहै सयाने लोग,
तीन दबावत निसक ही पावक, राजा, रोग॥"२५०॥[४३]

यहाँ पावक, राजा और रोग इन तीनों प्रस्तुतों का 'निसक'[1] ही दबावत' यह एक धर्म कहा गया है।

"भूषन भूषित दूषन-हीन प्रबीन महारस में छवि छाई,
पूरी अनेक पदारथ तें जिहि में परमारथ स्वारथ पाई,
औ उकतै मुकतैं उलही कवि 'तोष' अनोप भई चतुराई,
होत सबै सुखकी जनिता बनि आवतु जो बनिता कबिताई॥"२५१॥[२३]

यहाँ वनिता और कविता दोनों प्रस्तुतों का भूषन-भूषित आदि एक धर्म कहे गये हैं। यह श्लेष-मिश्रित तुल्ययोगिता है।

कपट-नेह[2] असरल[3] मलिन करन-निकट[4] नित बास,
गनिका-कुटिल-कटाच्छ खल दोऊ ठगत स-हास ॥२५२॥

यहाँ गणिका के कटाच्छ और खल ये दोनों प्रस्तुत हैं—वर्णनीय हैं इनका 'हँसते हुए औरों को ठगना, यह एक ही क्रिया रूप धर्म कहा गया है। यह भी श्लेष-मिश्रित है।

---

१ निर्बल। २ मिथ्या प्रेम। ३ कटाक्ष पक्ष में बांका होना, खल पक्ष में कुटिल। ४ कटाक्ष पक्ष में कानों के समीप, खल पक्ष में कान में दूसरे की चुगली करना।

अप्रस्तुतों का एक धर्म –

"लखि तेरी सुकुमारता एरी या जग माँहि;
कमल गुलाब कठोर से किहिं कों लागत नाँहि

यहाँ नायिका की सुकुमारता के वर्णन में कमल और गुलाब इन दोनों उपमानों का एक ही धर्म कहा गया है।

दूसरी तुल्ययोगिता

हित और अनहित में तुल्य-वृत्ति के वर्णन में दूसरी तुल्ययोगिता होती है।

अर्थात् मित्र और शत्रु के साथ एक ही समान वर्त्ताव किया जाना।

प्रफुल्लता प्राप्त जिसे न राज्य में
न म्लानता भी वन-वास से जिसे।
मुखाम्बुजश्री रघुनाथ की, वही
सुख-प्रदा हो हमको सदैव ही ॥२५४॥

यहाँ 'राज्य-प्राप्त होना' इस हित में और 'बनवास को जाना' इस अनहित में श्रीरघुनाथजी के मुख-कमल की शोभा की समान वृत्ति कही गई है।

"जे तट पूजन कों बिसतारैं पखारैं जे अंगन की मलिनाई,
जो तुव जीवन लेत है जीवन देत हैं जे करि आप ढिठाई,
'दास' न पापी सुरापी तपी अरु जापी हितू अहितू बिलगाई,
गंग ! तिहारी तरंगन सों सब पावैं पुरन्दर की प्रभुताई॥"२५५॥[४६]

यहाँ-पूजन करनेवाले और शरीर का मल धोने वाले अर्थात् हितकर और अहितकर दोनों को श्रीगंगाजी द्वारा इन्द्र की प्रभुता दिया जाना यह समान वृत्ति कही गई है।

तुल्ययोगिता का यह भेद महाराज भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण

अनुसार चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में लिखा गया है। यह श्लेष मिश्रित भी होता है। जैसे —

"सर क्रीड़ा करि हरत तुम तिय को अरि को मान ॥"२४६॥

यहाँ कामिनी रूप मित्र के साथ और शत्रु के साथ 'सर क्रीड़ा' द्वारा उनका मान हरण किया जाना, यह एक ही वृत्ति है। यहाँ श्लेष द्वारा तुल्यवृत्ति है। 'सर' शब्द श्लिष्ट है, इसका अर्थ कामिनी-पक्ष में जल-क्रीड़ा और शत्रु-पक्ष में बाण-क्रीडा है। यहाँ तुल्य-वृत्ति में चमत्कार है, अतः तुल्ययोगिता ही प्रधान है—श्लेष तुल्ययोगिता का अंगमात्र है, प्रधान नहीं।

तीसरी तुल्ययोगिता

प्रस्तुत की (उपमेय की) उत्कृष्ट-गुण वालों के साथ गणना की जाने को तीसरी तुल्ययोगिता कहते हैं।

आचार्य भामह आदि ने तुल्ययोगिता का केवल एक यही भेद लिखा है। मम्मट आदि आचार्यों ने इस तीसरी तुल्ययोगिता को 'दीपक' अलङ्कार के अन्तर्गत माना है, क्योंकि इसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक धर्म कहा जाता है।

"कामधेनु अरु कामतरु चिंतामनि मन मानि,
चौथो तेरो सुजस हू हैं मनसा के दानि ॥"२४७।

यहाँ राजा के यश (प्रस्तुत) की कामधेनु आदि वांछित फल देने वाली उत्कृष्ट वस्तुओं के साथ गणना करके उन्हीं के समान वांछित फलदायक कहा गया है।

"एक तुही वृषभानु-सुता अरु तीनि हैं वे जु समेत सची हैं,
और न केतिक राजन के कविराजन की रसना ये नची हैं,

देवी रमा कवि 'देव' उमा ये त्रिलोक में रूप की रासि मची हैं,
पै वर-नारि महा सुकुमारि ये चारि बिरंचि बिचार रची हैं॥"२५८॥[२०]

यहाँ वर्णनीय श्रीवृषभानु-सुता की सची, रमा और उमा इन तीनों उत्कृष्टों के साथ गणना की गई है।

'भाषाभूषण' में इस तुल्ययोगिता का—

"तूही श्रीनिधि धर्मनिधि तुही इंद्र तुहि इंदु॥"२४६॥[१८]

यह उदाहरण दिया है। किन्तु इसमें 'श्रीनिधि' आदि उपमानों का 'तुही' उपमेय में आरोप है। अतः रूपक है न कि तुल्ययोगिता। क्योंकि तुल्ययोगिता के इस भेद में तो उपमेय को उत्कृष्ट गुणवालों के समान बताकर उपमेय की उनके साथ गणना की जाती है न कि आरोप।

---

(१७) दीपक अलङ्कार

प्रस्तुत और अप्रस्तुत के एक धर्म कहने को दीपक अलङ्कार कहते हैं।

दीपक अलङ्कार का नाम दीपक-न्याय के अनुसार है, जैसे एक स्थान पर रक्खा हुआ दीपक बहुत-सी वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी प्रकार दीपक अलङ्कार में गुणात्मक या क्रियात्मक एक धर्म द्वारा प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के स्वरूप का प्रकाश किया जाता है। अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का एक ही धर्म कहा जाता है। श्रीभरतमुनि और भामह आदि आचार्यों ने दीपक के आदि, मध्य और अंत ये तीन भेद माने हैं। जहाँ आदि में धर्म कथन किया जाता है वहाँ आदि और जहाँ मध्य या अन्त में धर्म कथन किया जाता है वहाँ मध्य या अन्त दीपक उन्होंने माना है।

तुल्ययोगिता में केवल उपमेयों का अथवा केवल उपमानों का ही

एक धर्म कहा जाता है। और दीपक में उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म कहा जाता है, इन दोनों में यही भेद है।

निज-पति-रति कुलटान, खलन प्रेम अरु अहिन शम।
कृपन जनन को दान, विधि जग सिरजे ही नहीं ॥२६०॥

यहाँ सर्प अप्रस्तुत का और कुलटा, खल तथा कृपण प्रस्तुतों का 'सिरजे नहीं यह' अभाव रूप एक धर्म कहा गया है।

"छोटे छोटे पेड़नि को सूरन की वारि करौ
पातरे से पौधा पानी पोखि प्रतिपारिबो।
फूले फूले फूल सब बीनि इक ठौर करौ
घने घने रूंख एक ठौर तें उखारिबो।
नीचे गिरि गये तिन्हैं दै दै टेक ऊंचे करौ
ऊँचे चढ़ि गये ते जरूर काटि डारिबो।
राजन को मालिन को प्रतिदिन 'देवीदास'
चारि घरी राति रहे इतनो विचारिबो ॥"२६१ [२८]

यहाँ राजा प्रस्तुत और माली अप्रस्तुत है। इन दोनों के एक धर्म कहे गये हैं।

"देखे तें मन ना भरे तन की मिटै न भूख,
बिन चाखे रस ना मिलै आम, कामिनी, ऊख ॥"२६२॥

कामिनी प्रस्तुत का और आम तथा ऊख अप्रस्तुतों का यहाँ 'बिन चाखे रस ना मिलै' यह एक धर्म कहा गया है।

नदी-प्रवाह रु ईख-रस द्यूत, मान-संकेत,
भ्रू-लतिका पांचौ यहै भंग भये सुख देत ॥"२६३॥

यहाँ भ्रू-लता और मान प्रस्तुत हैं और नदी-प्रवाह, ईखरस तथा द्यूत अप्रस्तुत हैं। इनका चौथे चरण में एक धर्म कहा गया है। यह श्लेष-मिश्रित दीपक है।

"धरि राखौ ज्ञान गुन गौरव गुमान गोइ।
गोपिनि कौं आवत न भावत भडंग है।
कहै 'रतनाकर' करत टाँय टाँय वृथा,
सुनत न कोऊ इहाँ यह मुहचंग है।
और हू उपाय केते सहज सुढ़ंग ऊधौ!
साँस रोकिबे कौं कहा जोग ही कुढ़ंग है।
कुटिल कटारी है अटारी है उतंग[1] अति,
जमुना-तरंग[2] है तिहारौ सतसंग[3] है॥"२६४॥[१७]

यहाँ कटारी, ऊँची अटारी, यमुना की तरंग अप्रस्तुत और उद्धवजी का संग प्रस्तुत इन चारों का स्वास रोकना (मृत्युकारक होना) रूप एक धर्म कहा गया है।

दीपक और तुल्ययोगिता का पृथक्करण—

पण्डितराज के मत में दीपक अलङ्कार तुल्ययोगिता के ही अन्तर्गत है। उनका कहना है कि केवल प्रस्तुतों के अथवा केवल अप्रस्तुतों के एक धर्म कहने में जब तुल्ययोगिता के दो भेद कहे गये हैं, तब प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के एक धर्म कथन किये जाने में कोई विशेष विलक्षणता न होने के कारण इसे भी तुल्ययोगिता का ही एक भेद माना जाना उचित है। किन्तु हमारे विचार में भरत मुनि ने नाट्य-शास्त्र में केवल उपमा, दीपक, रूपक और यमक ये चार ही अलङ्कार लिखे हैं अतः 'दीपक' का अलङ्कारों में अस्तित्व न रहना

---

१ अर्थात् 'ऊँचे मकान पर से गिर जाना । २ अर्थात् यमुना जी की धारा में डूब जाना' । ३ उद्धव द्वारा वैराग्य का उपदेश सुनना भी गोपी-जनों ने मृत्यु के समान ही असह्य सूचन किया है।

युक्तियुक्त नहीं। यदि दीपक और तुल्ययोगिता में विशेष भिन्नता न होने के कारण ये दोनों एक ही अलङ्कार के दो भेद माने जायँ तो तुल्ययोगिता का ही दीपक के अन्तर्गत माना जाना उचित है, न कि आद्याचार्य भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित दीपक का तुल्य योगिता के अन्तर्गत माना जाना।

(१८) कारक-दीपक अलङ्कार

बहुत सी क्रियाओं में एक ही कारक[1] के प्रयोग में कारक-दीपक अलङ्कार होता है।

कारक-दीपक अलङ्कार में दीपक-न्याय[2] के अनुसार अनेक क्रियाओं का एक कारक होता हैं।

रसगंगाधर में इसको दीपक अलङ्कार का ही एक भेद माना है।

"कहत नटत रीझत खिझत हिलत मिलत लजियात,
भरे भौन में करतु है नैनन ही सों बात ॥"२६५॥ [४३]

यहाँ कहत, नटत इत्यादि अनेक क्रियाओं का कर्त्ता एक नायिका ही है।

सूर-सस्त्र अरु कृपन-धन कुल-कामिनि-कुल-कान,
सज्जन पर उपकार कौ छोड़तु हैं गत-प्रान ॥२६६॥

यहाँ कर्त्ता और धर्म के निबन्धन में दीपक है।

———

१ कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण यह छः कारक होते हैं। इनमें कोई भी एक कारण का बहुत सी क्रियाओं में होना।

(१९) माला-दीपक अलङ्कार

पूर्व कथित वस्तुओं से उत्तरोत्तर कथित वस्तुओं का एक धर्म से सम्बन्ध कहने को माला-दीपक अलङ्कार कहते हैं।

'दीपक' और 'एकावली'[1] इन दोनों अलङ्कारों के मिलने पर माला-दीपक अलङ्कार होता है।

मालादीपक में पूर्वोक्त दीपक-न्याय के अनुसार उत्तरोत्तर कथित वस्तुओं का एक धर्म से सम्बन्ध कहा जाता है। किन्तु जो उत्तरोत्तर पदार्थ कहे जाते हैं उसमें पूर्वोक्त 'दीपक की भाँति प्रस्तुत अप्रस्तुत भाव नहीं रहता है।

रस सौं काव्य रु काव्य सौं सोहत बचन महान,
बचनन सौं जन रसीक अरु तिनसौं सभा सुजान ॥२६७॥

यहाँ प्रथम कथित 'रस' से उसके उत्तर कथित काव्य का, काव्य से बचनों का, वचनों से रसिक जनों का और रसिक जनों से सभा का 'सोहत' इस एक क्रिया रूप धर्म से सम्बन्ध कहा गया है।

भारतीभूषण में माला-**दीपक** का लक्षण-"वर्ण्य अवर्ण्य की एक क्रिया का ग्रहीत-मुक्त रीत से व्यवहार किया जाना" लिखा है। किन्तु इस लक्षण में वर्ण्य अवर्ण्य का प्रयोग अनुचित है—इस अलङ्कार में सादृश्य (उपमेय-उपमान भाव) नहीं रहता है[2]।

———

१ एकावली अलङ्कार आगे लिखा जायगा।

२ 'प्रस्तुताप्रस्तुतोभयविषयत्वाभावेऽपि दीपकच्छायापत्तिमात्रेण दीपक व्यपदेशः' कुवलयानन्द। 'सादृश्यसम्पर्काभावात्'—रसगंगाधर।

(२०) आवृति-दीपक अलङ्कार

अनेक वस्तुओं को स्पष्ट दिखाने के लिए प्रत्येक वस्तु के समीप दीपक द्वारा प्रकाश डाला जाता है, इस दीपक-न्याय के अनुसार आवृत्ति-दीपक में एक ही क्रिया द्वारा अनेक पद, अर्थ और पद-अर्थ दोनों प्रकाशित किये जाते हैं। इसके तीन भेद हैं—पदावृत्ति, अर्थावृत्ति और पदार्थावृत्ति। जिनकी आवृत्ति होती है वे पद प्रायः क्रियात्मक होते हैं।

पदावृत्ति-दीपक—भिन्न भिन्न अर्थ वाले एक ही क्रियात्मक पद की आवृत्ति होना।

आवृत्ति का अर्थ है बार-बार कहा जाना।

"घन बरसैं हैं री सखी। निसि बरसैं हैं देख॥"२६८॥ [१६]

यहाँ भिन्नार्थ वाले 'बरसैं हैं' क्रियात्मक पद की आवृत्ति है। 'बरसैं हैं का अर्थ घन के साथ बरसा होना है और निशि के साथ संवत्सर अर्थ है।

अर्थावृत्ति-दीपक—एक ही अर्थ वाले भिन्न भिन्न शब्दों की आवृत्ति होना।

"दौरहि सँगर मत्तगज धावहिं हय समुदाय,
नटहि रंग में बहुनटी नाचहिं नट हरषाय॥"२६९॥

यहाँ एकार्थ 'दौरहिं' और धावहि क्रियात्मक शब्दों की आवृत्ति है।

पदार्थावृत्ति-दीपक

ऐसे पद की आवृत्ति होना जिसमें वही शब्द और वही अर्थ हो।

"मीन मृग खंजन खिस्यान भरे मैन बान
अधिक गिलान भरे कंज कल ताल के,
राधिका रसीली के छौर छबि छाक भरे
छैलता के छोर भरे भरे छबि जाल के,
'ग्वाल' कबि आन भरे सान भरे स्यान भरे
कछू अलसान भरे भरे मान-माल के,
लाज भरे लाग भरे लाभ भरे लोभ भरे
लाली भरे लाड़ भरे लोचन हैं लाल के ॥" २७०॥[६]

यहाँ एक ही अर्थ वाले 'भरे' क्रिया-वाचक पद की कई बार आवृत्ति है।

'आवृत्ति-दीपक' अलंकार को पदावृत्ति भेद 'यमक' से और पदार्थावृत्ति 'अनुप्रास' से भिन्न नहीं। कुछ लोग पदावृत्ति की यमक से और पदार्थावृत्ति दीपक की अनुप्रास से यह भिन्नता बतलाते हैं कि दीपक में क्रिया-वाचक-पद और पद के अर्थ दोनों की आवृत्ति होती है। यमक और अनुप्रास में क्रियावाचक पद और पदार्थों का नियम नहीं होता है।

(२१) प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार

उपमेय और उपमान के पृथक्-पृथक् दो वाक्यों में एक ही समान-धर्म शब्द-भेद द्वारा कहने को प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार कहते हैं।

'प्रतिवस्तूपमा' का अर्थ है प्रतिवस्तु (प्रत्येक वाक्यार्थ) के प्रति उपमा। यहाँ उपमा शब्द का प्रयोग समान-धर्म के लिए है। अर्थात् उपमेय और उपमान के दो वाक्यों में एक ही समान-धर्म का पृथक् पृथक् शब्द द्वारा कहा जाना।

प्रतिवस्तूपमा का अन्य अलङ्कारों से पृथक्करण—

१—उपमा में साधारण धर्म का एक ही बार कथन होता है न कि शब्द-भेद से दो बार और उपमा-वाचक-शब्द का प्रयोग होता है। प्रतिवस्तूपमा में उपमा-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता है।

२—दृष्टान्त अलंकार में यद्यपि उपमा-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता है, पर उसमें उपमेय, उपमान और समान-धर्म तीनों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है। प्रतिवस्तूपमा से केवल एक समान-धर्म ही शब्द भेद से कहा जाता है।

३—दीपक और तल्ययोगिता में समान-धर्म का एक बार एक शब्द से कथन किया जाता है और प्रतिवस्तूपमा में एक ही धर्म का पृथक्-पृथक् शब्द-भेद से दो बार कथन किया जाता है।

४—अर्थान्तर न्यास में उपमेय उपमान भाव नहीं होता वहाँ सामान्य का विशेष से और विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है। प्रतिवस्तूपमा में एक वाक्य उपमेय रूप और दूसरा वाक्य उपमान रूप होता है।

उदाहरण—

आपद-गत हू सुजन जन भाव उदार दिखाय,
अगरु अनल में जरत हू अति सुगंध प्रगटाय ॥२७१॥

यहाँ पूर्वार्द्ध में विपद-ग्रस्त सज्जन का वर्णन उपमेय वाक्य है। उत्तरार्द्ध में अग्नि पर जलते हुए अगरु (एक सुगन्धित काष्ठ) का वर्णन उपमान वाक्य है। इन दोनों वाक्यों में एक ही समान-धर्म—'दिखाय' और 'प्रकटाय' इन पृथक् पृथक् शब्दों में कहा गया है—'दिखाय' और 'प्रकटाय' का अर्थ एक ही है केवल शब्द-भेद है।

"चटक न छाँड़त घटत हू, सज्जन नेह गँभीर,
फ़ीको परै न बरु फटे, रँग्यो लोह रँग चीर ॥२७२॥[४]

यहाँ भी पूर्वार्द्ध में उपमेय वाक्य और उत्तरार्द्ध में उपमान वाक्य है। इन दोनों में 'चटक न छाँड़त' और 'फीको न परै' एक ही धर्म शब्द-भेद से कहा गया है।

प्रतिवस्तूपमा वैधर्म्य में भी होती है, जैसे—

विज्ञ जनन को अमित श्रम, जानत हैं नर विज्ञ,
प्रसव-वेदना दुसह सौं बाँझ न होइ अभिज्ञ ॥२७३॥

यहाँ प्रथम वाक्य में 'जानत हैं' यह विधि रूप धर्म है और दूसरे वाक्य में 'न होइ अभिज्ञ' यह निषेध रूप धर्म है अतः वैधर्म्य से एक ही धर्म कहा गया है।

माला प्रतिवस्तूपमा—

वहत जु सर्पन कौं मलय धारत काजर दीप,
चंदहु भजत कलंक कौं राखहिं खलन महीप ॥२७४॥

यहाँ 'वहत' 'धारत' एवं 'भजत' और 'राखहिं' में एक ही धर्म शब्द-भेद से कई बार कहा गया है अतः माला है।

---

(२२) दृष्टान्त अलङ्कार

उपमेय, उपमान और साधारण-धर्म का जहां बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है वहां दृष्टान्त अलङ्कार होता है।

दृष्टान्त अलङ्कार में दृष्टान्त (निश्चित) वाक्य का अर्थ दिखाकर दार्ष्टान्त (अनिश्चित) वाक्यार्थ का निश्चय कराया जाता है। अर्थात्

दृष्टान्त दिखाकर किसी कही हुई बात का निश्चय कराया जाना।[१]

दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा का पृथक्करण—

'प्रतिवस्तूपमा' में केवल साधारण-धर्म का वस्तु-प्रतिवस्तु भाव अर्थात् शब्द-भेद द्वारा एक धर्म दोनों वाक्यों में कहा जाता है। दृष्टान्त में उपमेय, उपमान और साधारण धर्म तीनों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहता है, अर्थात् उपमेय और उपमान के दोनों वाक्यों में भिन्न-भिन्न समान धर्म कहे जाते हैं, जिनका परस्पर में सादृश्य हो। और उपमा में 'इव' आदि का वाचक शब्दों का कथन किया जाता है दृष्टान्त में नहीं। एवं अर्थान्तरन्यास में सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाता है, दृष्टान्त में तो दोनों ही सामान्य या दोनों ही विशेष होते हैं।

पण्डितराज का मत है कि (प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में) अधिक भिन्नता न होने के कारण इनको एक ही अलङ्कार के दो भेद कहना चाहिए—न कि भिन्न-भिन्न अलङ्कार।

उदाहरण—

"दुसह दुराज प्रजान के क्यों न बढ़ै दुख द्वंद
अधिक अँधेरो जग करत मिलि मावस रवि चंद॥"२७५॥ [४३]

यहाँ पूर्वार्द्ध में उपमेय वाक्य और उत्तरार्द्ध में उपमान वाक्य है। इन दोनों में 'दुख द्वन्द बढै' और 'अधिक अँधेरो करत' ये ऐसे भिन्न-भिन्न दो धर्म कहे गये हैं, जिनका परस्पर में सादृश्य है। बस इसी को बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव कहते हैं।

---

१ दृष्टान्त का अर्थ है—'दृष्टोऽन्तः निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः' —काव्यप्रकाश।

हुए अनेक कवि काव्य-रसाधिकारी
मर्मज्ञ किन्तु कवि एक हुआ मुरारी
पाथोधि लंघन किया कपि सेन सारी
मंथाद्रि ही अतलता उसकी निहारी ॥२७

इसमें पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य और उत्तरार्द्ध उपमान वाक्य है। दोनों का पृथक्-पृथक् धर्म—समुद्र की अगाधता का ज्ञान होना और काव्य का मर्मज्ञ होना कहा गया है। इन दोनों का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है।

हुए अनेक कवि, की रस की मथाई,
रामायणी रस-सुधा तुलसी पिवाई
पाथोधि मंथन सुरासुर ने किया था,
पीयूष-दान-यश श्रीहरि को बदा था ॥२७

यहाँ पूर्वार्द्ध के उपमेय-वाक्य का समान धर्म (अमृतदान) सहित उत्तरार्द्ध में बिंब-प्रतिबिंब भाव है।

"सज्जन नांहि करैं तृसकार करैं तो 'गुविंद' महा सुखदानो
नीच करै-अति आदर कों हु तथापि वहै दुख ही की निसानी
ठोकर देय तुरंग ललाट में ह्वै वह कीरति ही सरसानी,
जो खर पीठ पै लेय चढ़ाइ तऊ जग में उपहास कहानी" ॥२७८॥[१]

इसमें पूर्वार्द्ध के उपमेय बाक्य का उत्तरार्द्ध के उपमान वाक्य में प्रतिबिंब है।

माला दृष्टान्त—

"पंछिन कों बिरछौ है घने बिरछान कों पंछिहु हैं घने चाहक,
मोरन को हैं पहार घने औ पहारन मोर रहैं मिलि नाहक,
'बोधा' महीपन कौं सुकता औ घने मुकतानि के होहि बेसाहक,
जो धनु हैं तो गुनी बहुतैं अरु जौ गुन हैं तो अनेक हैं गाहक॥"२७६॥[१]

यहाँ चतुर्थ चरण उपमेय-वाक्य एक है और पहिले तीनों चरणों में उपमान-वाक्य तीन है अतः दृष्टान्तों की माला है।

वैधर्म्य में दृष्टान्त—

भव के त्रय ताप रहैं तबलौं नर के दृढ़-मूल बने हिय मांहीं,
जबलौं करुनाकर की करुना परिपूरित दीठ परै वह नांहीं,
दिसि पूरब में उदयाचल पै प्रकटै जब है रबि की अरुनाई,
तब पंकज-कोस-छिप्यौ तमतोम कहौ वह देत कहाँ दिखराई ॥२८०॥

यहाँ पूर्वार्द्ध के उपमेय वाक्य में ताप की स्थिति और उत्तरार्द्ध के उपमान वाक्य में तम का अभाव कहा गया है। अतः वैधर्म्य से बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है।

(२३) निदर्शना अलङ्कार

निदर्शना का अर्थ है दृष्टान्तकरण अर्थात् करके दिखाना। निदर्शना अलंकार में दृष्टान्त रूप में अपना कार्य उपमा द्वारा दिखाया जाता है।

प्रथम निदर्शना

वाक्य के अथवा पद के अर्थ का असम्भव सम्बन्ध जहाँ उपमान का परिकल्पक होता है वहाँ प्रथम निदर्शना अलङ्कार होता है।

प्रथम निदर्शना में परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव वाले दो वाक्यों या पदों के अर्थ का परस्पर असम्भव सम्बन्ध होता है अतः वह उपमा की कल्पना का कारण होता है। अर्थात् उपमा की कल्पना की जाने पर उस असम्भव सम्बन्ध की असम्भवता हट जाती है।

दृष्टान्त अलंकार में भी उपमेय और उपमान वाक्यों का परस्पर में

बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होता है। पर दृष्टान्त में वे दोनों वाक्य निरपेक्ष होते हैं, केवल उपमान के वाक्यार्थ में दृष्टान्त दिखाकर उपमेय के वाक्यार्थ का निश्चय कराया जाता है। और निदर्शना में उपमेय और उपमान वाक्य परस्पर में सापेक्ष होते हैं अर्थात् उपमेय के वाक्यार्थ में उपमान के वाक्यार्थ की एकता किये जाने के कारण दोनों का परस्पर सम्बन्ध रहता है।

प्रथम निदर्शना दो प्रकार की होती है—वाक्यार्थ निदर्शना और पदार्थ निदर्शना।

वाक्यार्थ निदर्शना का उदाहरण—

कहाँ अल्प मेरी मती ? कहाँ काव्य-मत गूढ़।
सागर तरिबो उडुप[1] सों चाहत हौं मति-मूढ़ ॥२९१॥

यहाँ पूर्वार्द्ध—'काव्य-विषयक ग्रन्थ की रचना करने वाला अल्प-मति मैं' इस वाक्य का उत्तरार्द्ध के 'बाँसों की नाव से समुद्र को तरना चाहता हूँ' इस वाक्य से जो संबन्ध है, वह असम्भव है। क्योंकि ग्रंथ-रचना करना अन्य कार्य है और समुद्र-तरण अन्य कार्य है, अर्थात् ग्रन्थ-रचना कार्य समुद्र-तरण नहीं हो सकता। अतः यह असम्भव सम्बन्ध है, अतः 'मुझ अल्पमति द्वारा ग्रन्थ रचना का कार्य बाँसों की नाव से समुद्र-तरण करने के समान (दुःसाध्य) है।' इस प्रकार उपमा की कल्पना कराता है। निदर्शना के नामार्थ के अनुसार यहाँ वक्ता द्वारा दोहा के पूर्वार्द्ध में कहा हुआ अपना कार्य दोहा के उत्तरार्द्ध की उपमा द्वारा दृष्टान्त रूप में दिखाया गया है।

अप्पय्य दीक्षित और पण्डितराज ऐसे उदाहरणों में 'ललित' अलंकार मानते हैं। आचार्य मम्मट ने 'ललित' को नहीं लिखा है। सम्भवतः उन्होंने ललित को निदर्शना के ही अन्तर्गत माना है।

---

१ बाँसों से बनी हुई नाव।

कालिंदी-तट पै निवास करते हो नित्य राधापते ।
देते दर्शन भी वहाँ पर तुम्हें अन्यत्र जो खोजते,
निश्चै वे निज-कंठ भूषित सदा चिंतामणी हो रही ।
देखो भूल उसे विमूढ़ भुवि में हा ! ढूँढ़ते हैं कहीं ॥२८२॥

यहाँ 'भगवान् श्रीकृष्ण को जो लोग अन्यत्र खोजते हैं' इस वाक्य का 'वे अपने कण्ठ में स्थित चिंतामणि को भूलकर पृथ्वी पर ढूँढ़ते हैं' इस वाक्य में जो सम्बन्ध है वह असम्भव है। अतः 'यमुना तट पर स्थित प्रभु को अन्यत्र ढूँढ़ना वैसा ही है जैसा अपने कण्ठ में स्थित चिंतामणि को पृथ्वी पर ढूँढ़ना' इस प्रकार उपमा की कल्पना की जाने पर अर्थ की संगति बैठती है ।

माला निदर्शना—

व्यालाधिप गहिबो चहै कालानल कर-लीन्ह,
हालाहल पीबो चहै जे चहँ खलबस कीन्ह ॥२८३॥

यहाँ दुर्जनों को वश करने की जो इच्छा है, वह सर्पराज को पकड़ने की, प्रचण्ड अग्नि को हाथ पर रखने की और जहर पीने की इच्छा के समान है' इस प्रकार तीन उपमाओं की कल्पना की जाती है, अतः माला निदर्शना है ।

'भारतीभूषण' में माला निदर्शना का नीचे लिखा उदाहरण दिया है—

"भरिबो है समुद्र को संबुक[1] में छिति को छिगुनी[2] पर धारिबो है,
बँधिबो है मृनाल सों मत्त करी, जुही फूल सों सैल बिदारिबो है,
गनिबो है सितारन को कबि 'संकर' रेनुसौं तेल निकारिबो है,
कविता समुझाइबो मूढ़न कौं सबिता गहि भूमि पै डारिबो है ॥"२८४॥

और 'ललितललाम' में मतिरामजी ने निदर्शना का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

१ घोंघा (सीप) । २ कनिष्ठका अंगुली ।

"जो गुनवृन्द सता-सुत में कलपद्रुम में सो प्रसून समाजै,
कीरति जो 'मतिराम' दिवान में चंद में चाँदनी सो छबि छाजै,
राव में तेज को पुंज प्रचंड सो आतप सूरज में रुचि साजै,
जो नृप भाऊ के हाथ कृपान सो पारथ के कर-बान विराजै ॥"२८८॥[४८]

किन्तु इन दोनों छन्दों में पण्डितराज के मतानुसार रूपक अलंकार है न कि निदर्शना। उनका कहना है कि रूपक और निदर्शना में यही भेद होता है कि जहाँ कर्ताओं का अभेद शब्द द्वारा कहा जाता है और क्रियाओं का अभेद शब्द द्वारा न कहा जाकर अर्थ से ज्ञात होता है वहाँ निदर्शना अलंकार होता है जैसे पूर्वोक्त 'कहाँ अल्प मेरी मती.......' आदि तीनों उदाहरणों में कर्त्ताओं का ही अभेद शब्द द्वारा कहा गया है न कि क्रियाओं का। किन्तु जहां कर्ताओं का अभेद शब्द द्वारा न कहा जाकर अर्थ से जाना जाता है और क्रियाओं का अभेद शब्द द्वारा कहा जाता है, वहाँ रूपक होता है। क्योंकि रूपक अलंकार में जिस प्रकार उपमेयवाले एक पद में कहे हुये अर्थ में उपमान वाले दूसरे पद में कहे हुए अर्थ का आरोप होता है, जैसे 'मुख-चंद' इस वाक्य में मुख में 'चन्द्र' के अरोप में 'मुख' इस एक पद में 'चन्द्र' इस एक पद का आरोप है, उसी प्रकार अनेक पद-समूह से बने हुए सारे वाक्य में दूसरे सारे वाक्य के आरोप में भी रूपक होता है। अतः 'भरिबो है समुद्र को संबुक में' इस पद्य के चतुर्थ चरण के—'कविता समुझाइबो मूढ़न को' इस वाक्य में प्रथम के तीनों चरणों के वाक्यार्थ का आरोप किया गया है, अतः रूपक ही[1] है। इसी प्रकार 'जो गुनवृन्द सता-सुत में ....' इत्यादि दूसरे छन्द में—'जो नृप भाऊ के हाथ कृपान' इस वाक्य में 'सो पारथ के कर बान विराजै' इस वाक्य का आरोप किया जाने से रूपक रूपक ही है।

---

१ देखिए रसगंगाधर में निदर्शना-प्रकरण।

यदि पहिला पद्य—

रतनाकरैं संबुक चाहैं भर्‌यो छिति कौ छिगुनी पर धारतु है,
गज बांध्यो मृनाल सों चाहत वे जुही फूल सौं सैल उगारतु है,
कवि 'संकर' तारन चाहैं गन्यो अरु रेनु सौं तेल निकारतु है,
कविता समुझावतु मूढ़न वे सविता गहि भूमि में डारतु हैं ॥२८६॥

इस प्रकार होता तो इसमें निदर्शना अलङ्कार हो जाता। क्योंकि इसमें कर्त्ताओं का अभेद शब्द द्वारा कहा गया है।

रसिकमोहन में रघुनाथ कवि ने निदर्शना का—

"लाखन घोरे भये तो कहा औ कहा भयो जो भये लाखन हाथी,
हे 'रघुनाथ' सुनो हो कहा भयो तेज के नेज दसौं दिसि नाथी,
कंचन दाम सो धाम भयो तो कहा भयो नापि करोरन पाथी,
जो न कियो अपनो अपनायकै श्रीरघुनायक लायक साथी ॥" २८७॥[५१]

यह उदाहरण दिया है। किन्तु ऐसे उदाहरणों में निदर्शना अलङ्कार नहीं हो सकता। इसमें विनोक्ति अलङ्कार की ध्वनि है, क्योंकि श्री रघुनाथजी के प्रेम बिना प्रथम के तीनों चरणों में कहे हुए वैभवों की व्यर्थता ध्वनित होती है।

पदार्थ निदर्शना—

ससि को इहिं ओर ह्वै अस्त तथा उहिं ओर ह्वै भानु उदै जबही,
तब ऊपर कों उनको किरनैं बिखरी बिजसैं रसरी सम ही.
दुहुँ ओरन घंट रहै लटकी सुखमा गजराज की मंजु वही—
गिरि रैवत धारतु है सु प्रतच्छ प्रभात में पूनम के दिन ही ॥ २८८॥

पूर्णिमा के प्रातःकाल सूर्य के उदय और चन्द्रमा के अस्त होने के समय रैवतक गिरि को दोनों तरफ दो घन्टा लटकते हुए हाथी की शोभा को धारण करने वाला कहा गया है अर्थात् एक वस्तु दूसरी वस्तु की शोभा को धारण करने वाली कही गई है। किन्तु यह असम्भव सम्बन्ध

है क्योंकि एक वस्तु की शोभा को दूसरी वस्तु धारण नहीं कर सकती। अतः इसके द्वारा—'दो घण्टा लटकते हुए हाथी की शोभा के समान प्रभात समय में रैवतक गिरि की शोभा होती है, इस उपमा की कल्पना की जाती है। यहाँ 'सुखमा' (शोभा) इस एक पद के अर्थ के असम्भव सम्बन्ध द्वारा उपमा की कल्पना होती है, अतः पदार्थ निदर्शना है। पूर्वोक्त वाक्यार्थ निदर्शना में बहुत से पदों के बने हुए वाक्य के अर्थ के असम्भव सम्बन्ध द्वारा उपमा की कल्पना की जाती है। वाक्यार्थ निदर्शना और पदार्थ निदर्शना में यही भेद है।

द्वितीय निदर्शना

अपने स्वरूप और अपने स्वरूप के कारण का सम्बन्ध अपनी क्रिया द्वारा बोध कराये जाने को द्वितीय निदर्शना अलङ्कार कहते हैं।

क्रिया द्वारा बोध कराया जाना अर्थात् अपनी क्रिया द्वारा दृष्टान्त रूप में उसका कारण दिखाया जाना।

प्रथम निदर्शना में जिस प्रकार असम्भव सम्बन्ध उपमा की कल्पना कराता है उसी प्रकार द्वितीय निदर्शना में सम्भवित सम्बन्ध उपमा की कल्पना कराता है।

उदाहरण—

गिरि-शृङ्ग-गत पाषाण-कण, पा पवन का कुछ घात वह,
गिरता हुआ है कह रहा अपनी दशा की बात यह—
उच्च पद पर जो कभी जाता पहुँच है क्षुद्र जन,
स्थिर न रह सकता, वहाँ से सहज ही होता पतन ॥२८८

पर्वतके शृङ्ग पर पहुँचा हुआ कंकड़ 'मन्द वायु के धक्के से गिर जाने रूप' अपने स्वरूप का और 'छोटा होकर उच्च स्थान पर पहुँचने रूप अपने गिरने के इस कारण का सम्बन्ध 'गिरता हुआ' इस अपनी क्रिया द्वारा दृष्टान्त रूप में दूसरों को बोध कराता है।

यहाँ पर्वत-शृंग पर स्थित छोटे कंकड़ का पवन से गिर जाने का सम्बन्ध है, वह असम्भव नहीं–सम्भवित है। यह सम्भवित सम्बन्ध इस उपमा की कल्पना करता है कि जिस प्रकार छोटा कंकड़ पर्वत की चोटी पर पहुँच कर पवन के हलके धक्के से सहज ही नीचे गिर जाता है उसी प्रकार क्षुद्र (नीच) जन का भी उच्च पद पर पहुँच कर सहज ही अधःपतन हो जाता है।

दूसरों को व्यर्थ करते ताप, वे—
संपदा चिरकाल तक पाते नहीं,
हो रहा है अस्त ग्रीष्म-दिनाँत में
दिवसमणि[1] करता हुआ सूचित यही ॥२२९०॥

यहाँ सूर्य, अस्त होने रूप अपने स्वरूप का और लोगों को वृथा सन्तापकारक होने से अधिक काल तक सम्पति का भोग प्राप्त न होने रूप अपने स्वरूप के कारण का सम्बन्ध 'हो रहा है अस्त' इस अपनी क्रिया द्वारा बोध कराता है।

"गर्तों में गिरि की दरी विपुल में जो वारि था दीखता,
सो निर्जीव मलीन तेज-हत था उच्छ्वास से शून्य था,
पानी निर्झर स्वच्छ, उज्ज्वल महा, उल्लास की मूर्ति था,
देता था गति-शील-वस्तु-गरिमा यों प्राणियों को बता॥"२९१॥[१]

---

१ सूर्य।

यह गोवर्धन-गिरि के जल-निर्झरों का वर्णन है। झरनों के स्वच्छ और उज्ज्वल आदि गुण युक्त जल द्वारा अपनी गति की क्रिया से गतिशीलों के गौरव को बतलाना कहा गया है।

---

(२४) व्यतिरेक अलङ्कार

उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष वर्णन को व्यतिरेक अलङ्कार कहते हैं।

व्यतिरेक पद 'वि' और 'अतिरेक' से बना है। 'वि' का अर्थ है विशेष और 'अतिरेक' का अर्थ है अधिक। व्यतिरेक अलङ्कार में उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुण-विशेष का आधिक्य (उत्कर्ष) वर्णन किया जाता है।

पूर्वोक्त प्रतीप अलंकार में उपमेय को उपमान कल्पना करके उपमेय का उत्कर्ष कहा जाता है और यहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुण की अधिकता का वर्णन किया जाता है।

व्यतिरेक के २४ भेद होते हैं—

---

१ 'व्यतिरेक' : विशेषेणातिरेकः आधिक्यं गुणविशेषकृतउत्कर्ष इति यावत्।'—काव्यप्रकाश की बालबोधिनी व्याख्या पृ० ७८३।

व्यतिरेक अलंकार

उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष के कारण का कहा जाना	उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष के कारण का न कहा जाना	केवल उपमान के अपकर्ष के कारण का कहा जाना	केवल उपमेय के उत्कर्ष के कारण का कहा जाना

इन चारों भेदों के तीन-तीन उपभेद

शाब्दीउपमा द्वारा	आर्थीउपमाद्वारा	आक्षितोपमाद्वारा

इन बारह भेदों के दो-दो भेद

श्लेष द्वारा	श्लेष रहित

इनके कुछ उदाहरण—

शाब्दी उपमा द्वारा व्यतिरेक—

गाथा मुख को चंद्र सा कहते हैं मतिरंक,
निष्कलंक है वह सदा शशि में प्रकट कलंक ॥२६२॥

यहाँ 'सा' शब्द होने के कारण शाब्दी-उपमा है। मुख—उपमेय के उत्कर्ष के हेतु 'निष्कलंकता' का और चन्द्र—उपमान के अपकर्ष के हेतु 'सकलंकता' का कथन है, अतः प्रथम भेद है।

"तब कर्ण द्रौणाचार्य से साश्चर्य यों कहने लगा—
आचार्य! देखो तो नया यह सिंह सोते से जगा,

रघुवर-विशिख[1] से सिंधु सम सब सैन्य इससे व्यस्त है,
यह पार्थनंदन पार्थ से भी धीर-वीर प्रशस्त है ।।"२६३।।[५०]

यहाँ उपमेय—पार्थनंदन का (अभिमन्यु का) उपमान—पार्थ से (अर्जुन से) आधिक्य कहा गया है । उपमेय के उत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष का हेतु नहीं कहा गया है । अतः दूसरा भेद है ।

छोड़ सकते हैं नहीं वह काम-शर[2]
प्रिय-हृदय को कर न सकते मुदित वह,
हैं न तेरे नयन से मृग-दृग प्रिये !
दे रहे कवि लोग उपमा भूल यह ।।२६४।।

यहाँ उपमेय—नायिका के नेत्र के उत्कर्ष का हेतु न कहा जाकर केवल उपमान—मृग के नेत्रों के अपकर्ष के हेतु पूर्वार्द्ध में कहे गये हैं, अतः तीसरा भेद है ।

"मृग से मरोरदार खंजन से दौरदार
चंचल चकोरन के चित्त चोर बाँके हैं ।
मीनन मलीनकार जलजन दीनकार
भँवरन खीनकार असित प्रभा के हैं ।
सुकबि 'गुलाब' सेत चिक्कन बिसाल लाल
स्याम के सनेह सने अति मद छाके हैं ।
बरुनी बिसेस धारैं तिरछी चितौन बारे
मैन-बान हू तें पैने नैन राधिका के हैं ।।"२६५।।[१०]

यहाँ उपमान—कामबाण का अपकर्ष न कह कर केवल नेत्र—उपमेय के उत्कर्ष का कथन किया गया है, अतः चतुर्थ भेद है ।

---

१ बाण । २ कामदेव के बाण ।

आर्थी उपमा द्वारा व्यतिरेक—

सिय-मुख सरद-कमल सम किमि कहि जाय,
निसि मलीन वह, यह निसि दिन बिकसाय ॥२६६॥

यहाँ आर्थी-उपमा-वाचक 'सम' शब्द है। उत्तरार्द्ध में उपमान के अपकर्ष और उपमेय के उत्कर्ष का कथन है, अतः प्रथम भेद है। इस पद्य के कुछ पद परिवर्तन करने पर आर्थी उपमात्मक व्यतिरेक के शेष तीनों भेदों के उदाहरण भी हो सकते हैं।

आक्षिप्तोपमा द्वारा व्यतिरेक—

दहन करती चिता तन जीवन-रहित
दुःख का अनुभव अतः होता नहीं,
रातदिन करती दहन जीवन सहित
है न चिंता-ज्वाल की सीमा-कहीं ॥२६७॥

यहाँ 'इव' आदि शाब्दी-उपमा वाचक शब्द और तुल्यादि आर्थी उपमा-वाचक शब्द नहीं हैं—उपमा का आक्षेप द्वारा बोध होता है। अतः आक्षिप्ता-उपमा द्वारा व्यतिरेक है। पूर्वार्द्ध में मृत्यु रूप उपमान का अपकर्ष और उत्तरार्द्ध में चिन्ता रूप उपमेय का उत्कर्ष कहा गया है अतः प्रथम भेद है।

"विधि-छत चंद्र तें अनंदित चकोर जंतु
तेरे जस-चंद्र तें कविंद्र सुख पातु हैं।
वह निसि राजै यह दिवानिसि सम राजै
वह स-कलंक,, निकलंक यहाँ भातु हैं।
वाहि लखें कंज-पुंज मुकुलित होत याहि—
लखि कविवृंद-मुख-कंज बिकसातु हैं।
ह्रास वृद्धि वाकै यह बढै नित भूपराज!
वाके अरि-राहु याते अरिराह पातु हैं[1] ॥"२६८॥[२०]

---

१ चन्द्रमा को तो राहु (ग्रह) शत्रु है और राजा के यश रूपी चन्द्रमा द्वारा शत्रु राह पाते हैं अर्थात् सीधे मार्ग पर आ जाते हैं।

बूँदी नरेश के यश रूपी चन्द्रमा–उपमान का उत्कर्ष और चन्द्रमा उपमान का अपकर्ष कहा गया है, अतः द्वितीय भेद है। उपमा-वाचक-शब्द का प्रयोग नहीं है–अर्थ-बल से उपमा का आक्षेप होता है। अतः आक्षिप्तोपमा द्वारा व्यतिरेक है। यह रूपक मिश्रित व्यतिरेक है।

"सबरी गीध सुसेबकनि सुगति दीन्ह रघुनाथ,
नाम उधारे अमित खल वेद-विहित गुनगाथ ॥"२९९॥[२२]

यहाँ पूर्वार्द्ध में श्रीरघुनाथजी का[२] अपकर्ष और उत्तरार्द्ध में श्री राम के नाम का उत्कर्ष[३] कहा गया है, अतः द्वितीय भेद है। उपमा-वाचक शब्द का प्रयोग न होने के कारण आक्षिप्तोपमा द्वारा व्यतिरेक

श्लेषात्मक व्यतिरेक—

सज्जन गन सेवहिं तुम्हें करतु सदा सनमान,
नहिं भंगुर-गुन कंज लौं तुम गाढ़े गुनवान ॥ ३०० ॥

यहाँ 'लौं' शब्द शाब्दी उपमा-वाचक है। 'भंगुर' उपमान के अपकर्ष का और 'गाढ़े' उपमेय के उत्कर्ष का कारण कहा गया है। 'गुण' शब्द श्लिष्ट है, इसका मनुष्य की प्रशंसा के पक्ष में 'धैर्य' आदि गुण और कमल पक्ष में कमल के तन्तु अर्थ है। अतः श्लेषात्मक शाब्दी उपमा द्वारा व्यतिरेक का प्रथम भेद है।

---

२ केवल शबरी और गीध को सुगति देना यह न्यूनता रूप अपकर्ष। ३ असंख्य खल जनों का उद्धार करना यह अधिकता रूप उत्कर्ष।

व्यतिरेक की ध्वनि—

नहिं राहू की संक है नहि कलंक की रेखु;
छवि-पूरित नित एक रस श्री राधा-मुख देखु ॥३०१॥

यहाँ केवल श्रीराधिकाजी के मुख-उपमेय के यथार्थ स्वरूप का वर्णन है। इसके द्वारा चन्द्रमा-उपमान से मुख-उपमेय का उत्कर्ष व्यञ्जना से ध्वनित होता है। व्यतिरेक की यह अर्थ-शक्तिमूला ध्वनि है।

आक्षिप्तोपमा के व्यतिरेक में और व्यतिरेक की ध्वनि में यह अन्तर है कि आक्षिप्तोपमा के व्यतिरेक में उपमान और उसके अपकर्ष सूचक विशेषण शब्द द्वारा कहे जाते हैं और व्यतिरेक की ध्वनि में उपमान के अपकर्ष-सूचक विशेषण शब्द द्वारा नहीं कहे जाते-केवल उपमेय के यथार्थ स्वरूप के वर्णन द्वारा ही उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष ध्वनित होता है।

आचार्य रुद्रट और रुय्यक ने उपमेय की अपेक्षा उपमान के उत्कर्ष में भी व्यतिरेक अलङ्कार माना है और निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

क्षीण हो हो कर पुनः यह चन्द्रमा,
पूर्ण होता है कला बढ़ बढ़ सभी;
कर रही तू मान क्यों प्रिय से अली !
नहीं गत-यौवन पुनः आता कभी ॥३०२॥

इनके मतानुसार यहाँ 'यौवन' उपमेय और 'चन्द्रमा' उपमान है। अतः चन्द्रमा का क्षीण हो, होकर भी फिर-फिर वृद्धि प्राप्त करना, यह उपमान चन्द्रमा का उत्कर्ष और यौवन का क्षीण हो जाने पर फिर प्राप्त न होना, यह उपमेय—यौवन का अपकर्ष कहा गया है। किन्तु आचार्य मम्मट और पण्डितराज उपमान के उत्कर्ष में व्यतिरेक नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि उक्त उदाहरण में भी उपमान चन्द्रमा की अपेक्षा उपमेय-यौवन का ही उत्कर्ष कहा गया है,

क्योंकि यहाँ यौवन का क्षय उपमेय है और चन्द्रमा का क्षय उपमान है, चन्द्रमा क्षीण हो हो कर भी पुनः बढ़ता रहता है, यह कहकर चन्द्रमा को उसने सुलभ बताया है और 'यौवन क्षीण होकर पुनः प्राप्त नहीं हो सकता' यह कह कर यौवन को दुर्लभ बताया है। यहाँ वक्ता—दूती को मानिनी नायिका के मान छुड़ाने के लिये यौवन की दुर्लभता बताना ही अभीष्ट है। अतः यहाँ यौवन को दुर्लभ बताकर यौवन का उत्कर्ष कहा गया है। यदि उपमेय का अपकर्ष शब्द द्वारा कहीं कहा भी जाय तो वहाँ भी वास्तव में उत्कर्ष कहना अभीष्ट होता है। जैसे—

निरपराधो-जनों को करना दुखित,
विषम-विष से भी अधिक है हीन यह,
जहर करता-मात्र भक्षक को विनष्ट,
सभी कुल को किंतु करता क्षीण यह॥३०३॥

यहाँ निरपराधी जनों को दुःख देना उपमेय है और विष उपमान है। यद्यपि विष की अपेक्षा निरपराधी जनों को दुःख देने के कार्य को शब्द द्वारा हीन कहा गया है; परन्तु 'विष केवल खानेवाले को ही नष्ट करता है, पर यह सारे कुल को' इस कथन में निरपराधी जनों को दुःख देने की क्रूरता का वास्तव में उत्कर्ष ही कहा गया है।

साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ और अप्पय्य दीक्षित भी रुद्रट और रुय्यक के अनुगामी हैं। विश्वनाथ ने उपमान के उत्कर्ष का निम्नलिखित उदाहरण[1] दिया है—

हनुमदादि निज सुजस सौं कीन्ह दूत-पथ सेत,
मैं तिहिं किय अरि-हास सौं उज्वल-प्रभा-निकेत ॥३०४॥

---

१ नैषधीयचरित के जिस संस्कृत पद्य का यह अनुवाद है, वह पद्य।

विश्वनाथ ने कहा है कि इसमें इन्द्रादि देवताओं द्वारा दूत बनाकर दमयन्ती के समीप भेजे हुए राजा नल ने उस दूत-कार्य में असफल होकर अपने को धिक्कार देते हुए कहा है—'श्री हनुमानजी आदि ने कृतकार्य होकर अपने सुयश द्वारा और मैंने असफल होकर शत्रुओं के हास्य द्वारा दूत-मार्ग को श्वेत किया है।' अतः इसमें उपमान—हनुमानजी की अपेक्षा उपमेय—नल की न्यूनता का वर्णन है। अतः इस वर्णन में स्पष्टतया उपमान का उत्कर्ष कहा गया है।" इसके प्रतिवाद में काव्यप्रकाश के उद्योत व्याख्याकार कहते हैं कि "जिस दूत-मार्ग को हनुमान जी आदि ने कृत कार्य होकर अपने यश द्वारा श्वेत किया था उसीको मैंने अकृतकार्य होकर भी हास्यजनक अपने कुयश द्वारा श्वेतकिया है अर्थात् नल की उक्ति में उपमेय (नल) का उत्कर्ष ही कहा गया है। क्योंकि सुयश द्वारा दूत-मार्ग को श्वेत किये जाने की अपेक्षा कुयश द्वारा उसे श्वेत किये जाने में कर्ता के चातुर्य का आधिक्य और चमत्कार है।

कुवलयानन्द में उपमान के अपकर्ष का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

तू नव-पल्लव[1] सौं रह रक्त रु हौंहू प्रिया-गुन-रक्त[2] लखावतु,
आवत तोपै सिलीमुख[3] त्यों स्मर-प्रेरित मोहूपै वे[4] नित धावतु,
कामिनी के पद-घात सौं तू बिकसात[5] त्यों मोहू वो मोद बढ़ावतु,
तोहि असोक पै मोहि स-शोक कियो बिधि, ये समता नहिं पावतु॥२०५॥

किन्तु पण्डितराज का कहना है कि वियोगी नायक की अशोक-वृक्ष के प्रति इस उक्ति में व्यतिरेक अलङ्कार नहीं है। तीन चरणों के वाच्यार्थ

---

१ नवीन पत्तों के कारण अरुण वर्ण। २ अपनी प्रिया के गुणों में अनुरक्त। ३ भृंग। ४ कामदेव के छोड़े हुए बाण।

५ तरुणी के पाद-प्रहार की इच्छा करने वाला—कवि सम्प्रदाय में तरुणी के पाद-प्रहार से अशोक वृक्ष का फूल उठना प्रसिद्ध है।

में कही हुई उपमा (सादृश्य) में ही वाक्य की समाप्ति मान ली जायगी तो कवि के वांछित वियोग-शृङ्गार का उत्कर्ष नहीं रह सकेगा। जिस प्रकार किसी विशेष अवसर पर अनुकूल होने के कारण रमणी के किसी अंग से आभूषण का दूर किया जाना शोभा-प्रद होता है उसी प्रकार यहाँ चौथे पाद में उपमा (सादृश्य) का दूर करना प्रसंग प्राप्त विप्रलंभ शृंगार के अनुकूल होने के कारण रमणीय है अतः यहाँ विप्रलंभ शृंगार प्रधान है न कि व्यतिरेक अलङ्कार।

हमारे विचार में यदि यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार भी मान लिया जाय तो भी अशोक की (उपमान की) अपेक्षा वक्ता वियोगी नायक का (उपमेय का) उत्कर्ष है। वक्ता अशोक वृक्ष से कहता है—'यद्यपि हम दोनों में और तो सब समानता है, पर तू जड़ होने के कारण वियोग-दुःख से व्याकुल नहीं है और मैं चेतन होने के कारण वियोग-दुःख से व्याकुल हूँ' अर्थात् तेरी अपेक्षा मुझ में यह (व्याकुलता रूप) अधिकता है।

काव्यादर्श और कुवलयानन्द में अनुभय पर्यवसायी अर्थात् उपमेय केउत्कर्ष और उपमान के अपकर्ष के विना भी उपमेय और उपमान में किसी भी प्रकार के भेद के कथनमात्र में भी 'व्यतिरेक' माना है। जैसे-

दृढ़ मुट्ठी बाँधैं रहतु[1] छिपे कोस-आगार[2]।
भेद कृपान रु कृपन के है केवल आकार ॥३०६॥

यहाँ उपमेय—कृपण और उपमान—कृपाण में श्लेष द्वारा देखने में आकृति का और लिखने में 'प' के 'आ' की मात्रा का (ह्रस्व और

---

१ कृपाण (तलवार) के पक्ष में हाथ की मुट्ठी और कृपण पक्ष में बद्ध-मुष्ठी अर्थात् किसी को कुछ न देना। २ कृपाण पक्ष में म्यान के भीतर छिपा रहना और कृपण पक्ष में धन को छिपाये रखना।

दीर्घ होने मात्र का) भेद कहा गया है। किन्तु इसमें पण्डित राज ने व्यतिरेक न मान कर गम्योपमा मानी है। उनका कहना है कि आकार का भेद मात्र होने पर भी अन्य सब समान होने के कारण अन्ततः उपमा ही है।

(२५) सहोक्तिअलङ्कार

सह-अर्थ-बोधक शब्दों के बल से एक ही शब्द जहाँ दो अर्थों का वाचक होता है वहाँ सहोक्ति अलङ्कार होता है।

सहोक्ति अलङ्कार में सह भाव की उक्ति होती है अर्थात् सह, संग और साथ आदि शब्दों की सामर्थ्य से एक अर्थ के अन्वय (सम्बन्ध) का बोधक शब्द दो अर्थों के अन्वय का बोधक होता है। ए० अर्थ का प्रधानता से और दूसरे अर्थ का अप्रधानता से एक ही क्रिया में अन्वय होता है। जहाँ दोनों अर्थ प्रधान होते हैं वहाँ दीपक या तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है अर्थात् तुल्ययोगिता और दीपक में उपमेयों का या उपमानों का अथवा उपमेय उपमान दोनों का प्रधानता से एक क्रिया में अन्वय होता है—प्रधान और अप्रधान भाव नहीं होता[1]।

सहोक्ति अलङ्कार कहीं शुद्ध और कहीं श्लेष-मिश्रित होता है।

शुद्ध सहोक्ति—

सकुच संग कुच जुग बढ़त कुटिल भौंह दृग संग,
मनमथ संग नितम्ब बढ़ि विलसत तरुनि-अंग ॥२०७॥

यहाँ सकुच और दृग का 'बढ़त' का साथ शब्द द्वारा सम्बन्ध कहा गया है और 'कुच' एवं भृकुटि का 'बढ़त' शब्द के साथ सम्बन्ध संग शब्द के सामर्थ्य से जानाजाता है।

---

१ साथ में लेजाने वाले प्रधान और साथ में जाने वाला अप्रधान होता है।

"फुलन के सँग फूलि हैं रोम परागन के सँग लाज उड़ाइ है,
पल्लव पुंज के संग अली ! हियरो अनुराग के रंग रंगाइ है,
आयो वसंत न कंत हितू अब वीर ! बदौंगी जो धीर धराइ है,
साथ तरून के पातन के तरुनीन के कोप निपात ह्वै जाइ है ॥"३०८॥[४६]

यहाँ 'फूल' आदि का 'फूलि है' आदि के साथ शब्द द्वारा सम्बन्ध कहा गया है और 'रोम' आदि का 'फूलि है' आदि के साथ सम्बन्ध सङ्ग शब्द के बल से बोध होता है ।

'सहोक्ति' के मूल में अध्यवसायरूपा अतिशयोक्ति अर्थात् रूपकातिशयोक्ति रहती है । जैसे रूपकातिशयोक्ति में आरोप के विषय (उपमेय) को न कहकर केवल आरोप्यमाण (उपमान) कहा जाता है, उसी प्रकार सहोक्ति में भी केवल आरोप्यमाण ही कहा जाता है । जैसे इस छंद के चौथे पाद में वसन्त के समय में वृक्षों के पत्रों के साथ ही कोप का (मानिनी नायिकाओं के मान का) निपात (गिर जाना) कहा गया है। पर कोप ऐसी वस्तु नहीं, जो गिर सके—कोप (मान) तो छूटता है । यहाँ मान के छूट जाने में निपात (गिर जाने) का आरोप किया गया है और मान का छूटना—जो आरोप का विषय है (जिसमें गिर जाने का आरोप किया गया है) न कहकर केवल 'निपात' जो आरोप्यमाण है (जिसका मान छूट जाने में आरोप किया गया है) कहा गया है । इसी प्रकार सहोक्ति के सभी उदाहरणों में रूपकातिशयोक्ति लगी रहती है ।

श्लेष-मिश्रित सहोक्ति—

मन सँग-रक्ताधर भये, सैसव सँग गति मंद,
मनमथ सँग गुरुता लही, तरुनी-कुचन अमंद ॥"३०६॥

यहाँ 'रक्त' पद में श्लेष है अधर के पक्ष में 'रक्त' का अर्थ सुरख -रंग और 'मन' के पक्ष में अनुरक्त होना है । 'रक्त' पद में श्लेष है—

अधर के पक्ष में रक्त का अर्थ है लाल रंग और मन के पक्ष में अनुरक्त होना—अतः श्लेष-मिश्रित है।

अलंकारसर्वस्व में कार्य-कारण के पौर्वापर्य-विपर्ययमें अतिशयोक्ति-मूला सहोक्ति का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

मुनि कौशिक की पुलकावलि संग उठा शिव-चाप लिया कर है,
नृपती-गण के मुख-मण्डल संग विनम्र तथैव किया, फिर है,
मिथिलेश-सुता-मन संग तथा उसको झट खैंच लिया धर है,
भृगुनाथ के गर्व के साथ उसे रघुनाथ ने भग्न दिया कर है॥३१२॥

यहाँ धनुष का भङ्ग होना कारण है और परशुरामजी के गर्व का भङ्ग होना कार्य है। इन दोनों का 'साथ' शब्द द्वारा एक काल में होना कहा गया है। अतः कार्य-कारण के एक साथ होने वाली अतिशयोक्ति का यहाँ मिश्रण है। विश्वनाथ ने भी सहोक्ति के इस भेद को माना है। पण्डितराज इसमें अतिशयोक्ति ही मानते हैं, न कि सहोक्ति। उनका कहना यह है कि सहोक्ति के इस उदाहरण में और अतिशयोक्ति के—

तुव-सिर अरु अरि-माथ नृप! भूमि परत इक साथ॥

ऐसे उदाहरणों में जहाँ कार्य और कारण के एक साथ होने का वर्णन होता है, कोई भेद नहीं रहता है।

जहाँ चमत्कार रहित केवल सहोक्ति होती है अर्थात् 'सह' आदि शब्दों का प्रयोग होता है—वहाँ अलंकार नहीं होता है। जैसे—

विकसित बन मुखरित भ्रमर सीतल मंद समीर,
गाऊन चरावत गोप सँग हरि जमुना के तीर॥३१३॥

यहाँ 'संग' शब्द का प्रयोग होने पर भी चमत्कार न होने के कारण अलंकार नहीं है।

(२६) बिनोक्ति अलंकार

एक के बिना दूसरे के शोभित अथवा अशोभित होने के वर्णन को विनोक्ति अलंकार कहते हैं।

बिनोक्ति का अर्थ है किसी के बिना उक्ति होना। बिनोक्ति अलंकार में एक वस्तु किसी दूसरी वस्तु के बिना शोभित अथवा अशोभित कही जाती है। यह अलंकार पूर्वोक्त सहोक्ति का प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) है।

बदन सुकबिता के बिना सदन सु बनिता हीन,
सोभित ह्वै नहिं जगत में नर हरि-भक्ति-बिहीन ॥३१२॥

यहाँ सुन्दर कविता आदि के बिना वदन आदि की शोभा-हीनता कही गई है।

तीरथ को अवलोकन ह्वै मिलि लोकन सौं धन हू लहिबो है,
बात अनेक नई लखि कै मति औ बच चातुरता गहिबो है।
हैं इतने सुख मित्र ! बिदेसु पै एकहिं दुःख बड़ो सहिबो है,
जो मृगलोचनि कामिनी के अधरामृत पान बिना रहिबो है॥३१३॥

यहाँ कामिनी के बिना विदेश पर्यटन में सुख के अभाव रूप अशोभा का कथन है।

त्रास[1] बिना सोहत सुभट ज्यों छबि जुत मनि-माल,
दान[2] बिना सोहत नहीं नृप जिमि गज बल-साल ॥३१४॥

यहाँ 'त्रास' और 'दान' शब्दों में श्लेष होने से श्लेष-मूलक बिनोक्ति है।

"झूमत द्वार अनेक मतंग जंजीर जड़े मद-अम्बु चुचाते,
तीखे तुरंग मनोगति" चंचल पौन के गौनहु तें बढ़ि जाते,

---

१ सुभट (वीर) पक्ष में भय और मणि पक्ष में दोष।
२ राजा के पक्ष में दान और हाथी के पक्ष में मद का पानी।

भीतर चंद्रमुखी अवलोकत बाहिर भूप खड़े न समाते,
ऐसे भये तो कहा 'तुलसी' जो पै जानकीनाथ के रंग न राते॥३१५॥

यहाँ राम-भक्ति के बिना मनुष्य के वैभवयुक्त जीवन की शोभा का अभाव ध्वनित होता है।

नलिनी जग जन्म निरर्थक है करके कवि-वृन्द प्रलोभित भी,
जब देख सकी न कभी वह है निशिराज नभस्थल सोभित भी,
रजनीपति का जग जन्म तथा कहते हम हैं, न प्रशंसित भी,
मनमोहक जो नलिनी-प्रतिभा वह देख सका न प्रफुल्लित भी॥३१६॥

यहाँ कमलिनी का जन्म चन्द्रमा के देखे बिना और चन्द्रमा का जन्म प्रफुल्लित कमलिनी के देखे बिना अशोभित कहा गया है। यहाँ 'बिना' शब्द के प्रयोग-रहित विनोक्ति होने के कारण इसमें भी विनोक्ति की ध्वनि है।

(२७) समासोक्ति अलङ्कार

प्रस्तुत के वर्णन द्वारा समान विशेषणों से जहाँ अप्रस्तुत का बोध कराया जाता है वहां समासोक्ति अलङ्कार होता है।

समासोक्ति का अर्थ है समास से अर्थात् संक्षिप्त से उक्ति। समासोक्ति में संक्षेप से उक्ति यह होती है कि एक अर्थ के (प्रस्तुत के) वर्णन द्वारा दो अर्थों का (प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का) बोध कराया जाता है। अर्थात् प्रस्तुत के वर्णन में समान (प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के साथ समान सम्बन्ध रखने वाले) विशेषणों की सामर्थ्य से अप्रस्तुत का बोध कराया जाता है।

समासोक्ति में विशेष्य-वाचक शब्द श्लिष्ट (दो अर्थवाला) नहीं होता—केवल विशेषण ही समान होते हैं। समान विशेषण कहीं श्लिष्ट

और कहीं साधारण—अर्थात् श्लेष-रहित होते हैं। समासोक्ति का विषय भी श्लेष अलंकार के समान बहुत जटिल है।

समासोक्ति की अन्य अलङ्कारों से पृथक्ता—

श्लेष और समासोक्ति में यह भेद है कि प्रकृत आश्रित या अप्रकृत आश्रित श्लेष में विशेष्य-वाचक पद श्लिष्ट होता है। समासोक्ति में केवल विशेषण ही श्लिष्ट होते हैं—विशेष्य श्लिष्ट नहीं होता है। और प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित श्लेष में विशेष्य-पद श्लिष्ट तो नहीं होता है, किन्तु प्रकृत और अप्रकृत दोनों विशेष्यों का भिन्न-भिन्न शब्द द्वारा कथन किया जाता है। समासोक्ति में दोनों विशेष्यों का भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन नहीं किया जाता—केवल प्रकृत-विशेष्य का ही शब्द द्वारा कथन होता है—समान विशेषणों की सामर्थ्य से ही अप्रकृत का बोध हो जाता है।

भारतीभूषण में श्लेष और समासोक्ति में यह भेद बताया गया है। कि "श्लेष में जितने अर्थ होते हैं वे सभी प्रस्तुत (प्रकृत) होते हैं" किन्तु यह भूल है क्योंकि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के वर्णन में भी श्लेष होता है, इसके अनेक उदाहरण हमने श्लेष अलङ्कार के प्रकरण में दिखाये हैं। एक देशविवर्ति रूपक अलंकार और समासोक्ति में यह भेद है कि एक देशविवर्ति रूपक में प्रस्तुत में अप्रस्तुत का आरोप किया जाता है अर्थात् उपमान अपने रूप से उपमेय के रूप को आच्छादित कर लेता है—ढक लेता है। समासोक्ति में स्वरूप का आच्छादन नहीं होता है पर प्रस्तुत के व्यवहार द्वारा अप्रस्तुत के व्यवहार की केवल प्रतीति होती है।

समासोक्ति केवल विशेषणों की समानता द्वारा ही नहीं किन्तु कार्य और लिङ्ग (पुल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग) की समानता में भी होती है अतः समासोक्ति के भेद इस प्रकार हैं—

समासोक्ति

विशेषणों की समानता से । लिंग की समानता से । कार्य की समानता से

शिलष्टविशेषण[1] साधारणविशेषण[2]

शिलष्टविशेषण—

विकसित-मुख प्राची निरखि रवि-कर सौं अनुरक्त।
प्राचेतस-दिसि जात ससि ह्वै दुति-मलिन बिरक्त[3] ॥२१॥

यह प्रातःकालीन अस्तोन्मुख चन्द्रमा और उदयोन्मुख सूर्य का वर्णन है। अतः प्रभात का वर्णन प्रस्तुत (प्रसङ्ग-गत) है। यहाँ विशेष्य शब्द 'प्राची' शिलष्ट नहीं है। केवल विशेषण शब्द—मुख, कर और अनुरक्त आदि ही शिलष्ट हैं। इन शिलष्ट विशेषणों द्वारा इस प्रभात के प्रस्तुत वर्णन में उस विलासी पुरुष की (अप्रस्तुत की) अवस्था की प्रतीति होती है, जो अपनी पूर्वानुरक्ता किसी कुलटा स्त्री को अपने सम्मुख अन्यासक्त देख विरक्त होकर मरने को उद्यत हो जाता है। पूर्व दिशा में उस कुलटा स्त्री के व्यवहार की प्रतीति होती है जो अपने

१ विशेषण पद शिलष्ट हो। २ श्लेष रहित विशेषण हो।

३ सूर्य के कर (श्लेषार्थ—हाथ) के स्पर्श से अनुरक्त अर्थात् प्रातःकालीन सूर्य की लालिमा से अरुण (श्लेषार्थ = अनुराग युक्त) और विकसित-मुख अर्थात् प्रकाशित अग्र भाग वाली (श्लेषार्थ—मुसकाती हुई), प्राची (पूर्व) दिशा को देख कर दुति-मलिन अर्थात् कान्तिहीन फीका पड़ा हुआ (श्लेषार्थ—दुखित) और विरक्त अर्थात् रक्तता रहित सफेद (श्लेषार्थ—वैराग्यप्राप्त) यह चन्द्रमा प्राचेतस अर्थात् वरुण की पश्चिम दिशा (श्लेषार्थ—मृत्यु) का आश्रय ले रहा है।

पहिले के प्रेमपात्र का वैभव नष्ट हो जाने से पर उछड़ी कर अन्य पुरुष में आसक्त हो जाती है।

तरल-तारका-रजनी-मुख को कर निज मृदुल करों से स्पर्श,
रजनीपति ने ग्रहण कर लिया क्रमशः हो अनुरक्त सहर्ष,
रागावृत उत्सुक हो वह भी विकसित होने लगी सुहान,
स्खलित हुआ तिमिरांशुक सारा उसका भी कुछ रहा न ध्यान॥३१८

यह उदयकालीन चन्द्रमा का वर्णन है। तरल-तारकावाले रजनी के मुख को अर्थात् जिसमें कहीं-कहीं तारागण चमक रहे हैं ऐसे रात्रि के प्रारम्भकाल को (श्लेषार्थ-चंचल नेत्रोंवाली नायिका के मुख को) चन्द्रमा ने अपने मृदुल करों से स्पर्श करके अर्थात् अपनी किरणों द्वा कुछ-कुछ प्रकाश डालकर (श्लेषार्थ-अनुरागी नायक ने अपने कोमल हाथों से) ग्रहण कर लिया, तब रागावृत (सायंकालीन-सन्ध्या की— लालिमा से युक्त) होकर वह रात्रि भी प्रकाशित होने लगी (श्लेषार्थ— नायिका प्रसन्न होकर हँसने लगी) और उसका तिमिरांशुक अर्थात् अन्धकार रूपी वस्त्र (श्लेषार्थ—नायिका का नीला वस्त्र) स्खलित हो गया। यहाँ उदयकालीन चन्द्रमा के इस प्रस्तुत वर्णन द्वारा 'तरल-तारका' आदि श्लिष्ट विशेषणों के श्लेषार्थ से नायक और नायिका के अप्रस्तुत व्यवहार का बोध कराया गया है, जैसा कि श्लेषार्थ द्वारा स्पष्ट किया गया है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'तिमिरांशुक' पद द्वारा अन्धकार में जो वस्त्र का आरोप किया गया है, वह एक देश में आरोप किया गया है, उसकी सामर्थ्य से 'रागावृत' आदि पदों द्वारा संध्याकालीन लालिमा में अनुराग आदि का आरोप समझ लिया जाता है, अतः यहाँ एकदेश-विवर्ति रूपक क्यों नहीं माना जाय? इसका समाधान यह है कि अन्धकार और वस्त्र इन दोनों का सादृश्य (किसी वस्तु को आच्छादन या अदृश्य कर देने की समानता) अत्यन्त स्पष्ट है—सहज में ज्ञात हो जाता है। अतः यह सादृश्य, जो रूपक माने जाने का कारण है,

समासोक्ति को हटा नहीं सकता है। एकदेशविवर्ति रूपक वहाँ होता है जहाँ रूप्य (उपमेय) और रूपक (उपमान) का सादृश्य अस्पष्ट होता है—सहज में ज्ञात नहीं हो सकता है वहाँ जिन वाक्यों में शब्द द्वारा आरोप नहीं किया जाता है यदि उनमें आरोप की कल्पना नहीं की जाती है तो एक देश में किया हुआ आरोप असङ्गत हो जाता है, अतएव एकदेशविवर्ति रूपक में जिन वाक्यों में आरोप नहीं किया जाता है, उन वाक्यों में अर्थ के बल से आरोप आक्षिप्त होकर ज्ञात हो जाता है। जैसे—

तेरे कर लखि असि-लता सोभित रन-रनवास;
रस-सनमुखहू रिपु-अनी भट ह्वै विमुख हतास[1]॥३१६॥

यहाँ कवि ने रणभूमि में राजा के उस रणवास के दृश्य का रूपक किया है जिसमें किसी एक रमणी का हाथ पकड़े हुए नायक को आते देखकर सन्मुख आती हुई अनुरक्ता भी दूसरी रमणी हताश होकर लौट जाती है। यहाँ असिलता और शत्रु सेना दोनों स्त्रीलिङ्ग होने के कारण प्रस्तुत-राजा के वर्णन में अप्रस्तुत—रणवास के उक्त व्यवहार की प्रतीति होने पर भी समासोक्ति नहीं, एकदेशविवर्ति रूपक ही है। क्योंकि रण और रणवास का सादृश्य अस्पष्ट है अर्थात् प्रसिद्ध न होने के कारण सहज ही उसका बोध नहीं होता है अतः असिलता में नायक के हस्तावलम्बित नायिका के और रिपु-सेना में अन्य रमणी (सपत्नी) के आरोप की कल्पना नहीं की जाती है तो एक देश में किया गया आरोप (रण में रणवास का आरोप) असङ्गत हो जाता है। इसलिये यहाँ असिलता में नायिका का और रिपुसेना में सपत्नी-रमणी का आरोप शब्द द्वारा न

---

१ हे राजन्! रण रूप रणवास (अन्तःपुर) में तेरे हाथ में असि-लता (तरवाररूपी लता) देख कर रसोन्मुख भी (वीर रस पूर्ण भी शत्रु-सेना तत्काल हताश होकर विमुख हो जाती है—पीछे हट जाती है।

किये जाने पर भी अर्थ के बल से आक्षिप्त होकर प्रतीत हो जाता है। अतः ऐसे वर्णनों में ही एकदेशविवर्ति रूपक हो सकता है।

उदयाचल-रूढ़ दिवाकर की प्रतिभा कुछ गूढ़ लगी विकसाने,
कर-कोमल का जब स्पर्श हुआ नलिनी मुख खोल लगी मुसकाने,
अनुरक्त हुए रवि को वह देख स-हास-विलास लगी दिखलाने,
मकरंद प्रलुब्ध स्वभाविक ही मधुपावलि मंजु लगी मँडराने ॥३२०॥

यहाँ प्रसंगगत प्रातःकाल का वर्णन प्रस्तुत है। 'कर'[1] 'कोमल'[2] और 'अनुरक्त'[3] आदि श्लिष्ट विशेषणों द्वारा नायक और नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है।

श्लेष-रहित साधारणविशेषणा समासोक्ति—

सहज सुगंध मदंध अलि करत चहुँ दिसि गान,
देखि उदित रवि कमलिनी लगी मुदित मुसकान ॥३२१॥

यहाँ श्लेष-रहित समान विशेषणों द्वारा प्रस्तुत कमलिनी के वर्णन में अप्रस्तुत नायिका के व्यवहार की प्रतीत होती है। नायिका के व्यवहार की प्रतीति होने का कारण यह है कि यहाँ केवल स्त्री में ही रहने वाले 'मुसकान' रूप धर्म का आरोप प्रफुल्लित कमलिनी में किया गया है। यदि 'मुसकान' का प्रयोग नहीं हो तो नायिका के व्यवहार की प्रतीति नहीं हो सकती है।

लिङ्ग की समानता द्वारा समासोक्ति—

गंभीरा के जल हृदय से स्वच्छ में भी सु-वेश—
होगी तेरी सु-ललित अहो! स्निग्ध छाया प्रवेश,

---

१ किरण (श्लेषार्थ हाथ)। २ मन्द किरण (श्लेषार्थ कोमल हाथ)। ३ रक्तवर्ण श्लेषार्थ—अनुराग।

डालेगी वो चपल-शफरी-कंज-कांती-कटाक्ष,
होगा तेरे उचित न उन्हें जो करेगा निराश ॥३२२॥

मेघदूत में प्रसंग-गत गम्भीरा नदी का यह वर्णन प्रस्तुत है। नदी स्त्रीलिंग और मेघ पुल्लिंग के जो विशेषण हैं, वे नायिका और नायक के व्यवहार की प्रतीति भी कराते हैं। इसलिए यहाँ लिंग की समानता द्वारा अप्रस्तुत नायिका-नायक का वृत्तान्त भी जाना जाता है। विशेषण श्लिष्ट नहीं हैं, किन्तु गम्भीरा नदी और नायिका दोनों के अर्थ के लिये समान है।

काय की समानता द्वारा समासोक्ति—

चंदमुखी तरुणी के कंचन-कलश-उरज का वसन बलात्—
दूर हटाकर स्पर्श कर रहा और मृदुल अधरों पर घात,
आलिंगन-सुख सभी अंग का दुर्लभ लेता है बे-शंक,
धन्यवाद मलयानिल! तुझको तेरा यह व्यवहार विलोक ॥३२३॥

यहाँ समान कार्यों द्वारा प्रस्तुत मलय-मारुत के वर्णन में अप्रस्तुत हट-कामुक के व्यवहार का बोध होता है।

आचार्य रुय्यक ने समासोक्ति का औपम्य-गर्भा नाम का भी एक भेद लिखा है। और उसका निम्नाशय का उदाहरण दिया है—

दशनावलि उज्वल कान्ति मई, कुसुमावलि मंजु खिली यह है,
अलकावलि जो बिखरी घन हैं मधुपावलि घेर रही यह है,
कर पल्लव कोमल रंजित है अनुरक्त बनी रहती यह है,
मनरंजन वेष बना रमणी सबके मन को हरती यह है॥ ३२४ ॥

रुय्यक का कहना है "यहाँ कामिनी का वर्णन प्रस्तुत है। पुष्पों के समान दन्तकान्ति, भ्रमरावली के समान अलकावली और कोमल रक्त पल्लवों के समान हाथ, इन उपमाओं द्वारा प्रस्तुत नायिका के वर्णन में अप्रस्तुत लता के व्यवहार की प्रतीति होती है"। और रुय्यक ने यह

भी कहा है "यहाँ रूपक-गर्भा समासोक्ति न मानकर उपमा-गर्भा समासोक्ति मानने का कारण यह है कि 'मन-रंजन वेष बना रमणी' पद उपमा का समर्थक है-सुन्दर वेषभूषा की रचना उपमेय—रमणी में ही सम्भव है; न कि उपमान—लता में। अतः उपमेय—नायिका के धर्म की ही प्रधानता से प्रतीति होने के कारण रूपक नहीं माना जा सकता, क्योंकि रूपक में उपमान के धर्म की ही प्रधानता होती है न कि उपमेय के धर्म की।"

किन्तु पण्डितराज[1] और विश्वनाथ[2] का कहना है "औपम्य-गर्भा समासोक्ति नहीं हो सकती। उपमा में केवल सादृश्य की प्रतीति होती है न कि व्यवहार की। अतः केवल व्यवहार की प्रतीत में होनेवाली समासोक्ति के गर्भ में उपमा नहीं हो सकती। इस पद्य में एकदेश-विवर्तिनी उपमा है दशन-कान्ति आदि को कुसुमावली आदि की जो उपमाएँ दी गई हैं वे शब्द द्वारा वाचक-लुप्ता उपमा कही गई हैं और नायिका को जो लता की उपमा दी गई है उसका अर्थ के बल से बोध होता है।"

इसी प्रकार—

> सुर-चाप नखक्षत से जिसके यह अंकित पांडु पयोधर है,
> सखि ! जोकि प्रभावित हो उससे शरदिंदु प्रसिद्ध हुआ फिर है,
> यह देख शरद् ऋतु का व्यवहार न जो प्रतिकार सका कर है,
> रवि के तन ताप बढ़ा इतना वह सह्य नहीं धरणी पर[3] है ॥३२५॥

---

१ 'एकदेशविवर्तिन्या उपमयैव गतार्थत्वात् समासोक्तेरानर्थक्यादत्राप्रसक्तः'—रसगङ्गाधर समासोक्ति-प्रकरण।

२ 'पर्यालोचने त्वाद्ये प्रकारे एकदेशविवर्तिन्युपमैवांगीकर्तुमुचिता'
—साहित्यदर्पण समासोक्ति-प्रकरण।

३ इस वर्णन में शरद् ऋतु में स्वभावतः कान्ति बढ जाने वाले

यहाँ भी शरद ऋतु में नायिका के व्यवहार की प्रतीति समझ कर 'समासोक्ति' नहीं मानी जा सकती। समासोक्ति वहीं हो सकती है जहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में समान रूप से विशेषण अन्वित होते हों। इस पद्य में—'सुरचाप-नखक्षत' विशेषण केवल शरद ऋतु के साथ ही सम्बन्ध रखता है, नायिका के साथ नहीं—नायिका के पयोधरों (उरोजों) पर इन्द्र-धनुष का धारण किया जाना सम्भव नहीं है। अतः 'नखक्षत के समान इन्द्र-धनुष अङ्कित पयोधर (मेघ) वाली शरद' इस प्रकार उपमा ही मानी जा सकती है। और शरद ऋतु को नायिका की एवं सूर्य को नायक की उपमा अर्थ-बल से आक्षिप्त होती है, अतः यहाँ भी एकदेशविवर्तिनी उपमा ही है, न कि समासोक्ति।

समासोक्ति में जिस दूसरे अर्थ की (अप्रस्तुत की) प्रतीति होती है वह व्यंग्यार्थ तो होता है, किन्तु वह व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं होने के कारण ध्वनि का विषय नहीं है। समासोक्ति में वाच्यार्थ ही प्रधान रहता है—वाच्यार्थ में ही अधिक चमत्कार होता है। व्यंग्यार्थ गौण रहता है और ऐसे गौण व्यंग्यार्थ को—गुणीभूत व्यंग्य को— समासोक्ति का विषय माना गया है[1]।

———

चन्द्रमा में नायक की तथा शरद ऋतु के कारण ताप बढ़ जाने वाले सूर्य में प्रतिनायक की और शरद् ऋतु में नायिका की कल्पना की गई है।

१ 'व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः,
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः।'
(ध्वन्यालोक)

अर्थात् जहाँ व्यंग्यार्थ अप्रधान होता है वाच्यार्थ का शोभाकारक होता है वहाँ निस्सन्देह समासोक्ति आदि अलङ्कार होते हैं।

(२८) परिकर अलङ्कार

साभिप्राय विशेषण कथन किये जाने को परिकर अलङ्कार कहते हैं।

'परिकर' का अर्थ है उपकरण अर्थात् उत्कर्षक वस्तु। जैसे राजाओं के छत्र चमर आदि[1] होते हैं। 'परिकर' अलङ्कार में ऐसे अभिप्राय सहित विशेषणों का प्रयोग किया जाता है जो वाक्यार्थ के उत्कर्षक (पोषक) होते हैं।

कलाधार द्विजराज तुम हरत सदा संताप,
मो अबला के गात क्यों जारत हो अब आप ॥३२६॥

यहाँ बिरहिणी नायिका का चन्द्रमा के प्रति जो उपालम्भ (उरहना) वह दोहा के उत्तरार्द्ध के अर्थ से सिद्ध हो जाता है। फिर पूर्वार्द्ध में चन्द्रमा के कलाधार आदि जो विशेषण हैं वे अभिप्राययुक्त हैं[2]। जिसके द्वारा उपालम्भ रूप वाक्यार्थ का उत्कर्ष होता है।

यहाँ यह शङ्का की जा सकती है कि "निष्प्रयोजन विशेषण होना काव्य में 'अपुष्टार्थ' दोष माना गया है। इसलिए साभिप्राय विशेषण होना उस दोष का अभाव मात्र है, न कि अलङ्कार। इसका उत्तर पण्डितराज तो यह देते हैं कि अपुष्टार्थ दोष के अभाव का विषय और परिकर अलंकार का विषय भिन्न-भिन्न है। 'सुन्दरतायुक्त उत्कर्षक

---

१ देखिये शब्द कल्पद्रुम।

२ इन विशेषणों में अभिप्राय यह है कि हे चन्द्र! तुम कलाधार हो—कला = विद्या या कान्ति वाले हो, द्विजों में श्रेष्ठ हो और तापहारक हो ऐसे होकर भी तम मुझ अबला को ताप देते हो यह तुम्हारे अयोग्य है।

विशेषण होना' परिकर का विषय है और चमत्कार के अपकर्ष का अभाव होना अपुष्टार्थ दोष के अभाव का विषय है। ये पृथक् पृथक् विषय वाले दोनों धर्म (लक्षण) यदि संयोग-वस एक ही स्थान पर आ जांय तो क्या हानि है? उपधेय (आश्रय) संकर (मिला हुआ) होने पर भी उपाधि (लक्षण) असंकर (भिन्न-भिन्न) है। जैसे ब्राह्मण के लिए मूर्ख होना दोष है और विद्वान् होना दोष का अभाव और गुण भी है। इसी प्रकार परिकर अलंकार में साभिप्राय विशेषण होना अपुष्टार्थ दोष का अभाव भी है और चमत्कारक होने के कारण अलंकार भी है। जैसे 'समासोक्ति' अलंकार गुणीभूतव्यंग्य होकर भी अलंकार भी है। अथवा जैसे उभय स्थान वासी (ऊपर के मकान में और जमीन पर नीचे के मकान में—दोनों स्थानों में रहने वाला मनुष्य) प्रासाद-वासियों की (ऊपर के मकानों में रहने वालों की) गणना में गिना जाने पर भी पृथ्वीतल-वासियों की (जमीन पर नीचे के मकान में रहने वालों की) गणना में भी गिना जाता है। उसी प्रकार परिकर अलंकार के मानने में भी कोई दोष नहीं समझना चाहिये। और आचार्य मम्मट का यह मत है कि 'परिकर' में एक विशेष्य के बहुत से विशेषण होते हैं इस चमत्कार के कारण यह अलंकार माना गया है। पण्डितराज का यह मत है कि यद्यपि एक से अधिक विशेषण होने पर व्यंग्य की अधिकता होने के कारण चमत्कार अधिक अवश्य हो सकता है, पर यह नहीं कि जब तक एक से अधिक विशेषण न हो तब-तक परिकर अलंकार हो ही नहीं सकता हो—एक भी साभिप्राय विशेषण होने पर परिकर अलंकार होता है। जैसे—

मीलित[1] मंत्र रु औषध व्यर्थ समर्थ नहीं सुर-वृन्द हु तारन,
मोहि सुधा हु गई है मुधा[2] मनि-गारुडि[3] हू को लगै उच्चारन;

---

१ संकुचित। २ झूठी = वृथा। ३ सर्प के विष को उतारने वाली मणि

कालिय दौन के पाद-पखारनहार[1] तू देवनदी ! निज-धारन[2],
हौं भव-व्याल-डस्यो जननी ! करुना करि तू करु ताप निबारन ॥३२७॥

संसार रूपी सर्प के ताप को दूर करने के लिये यह श्रीगङ्गा से प्रार्थना है। श्रीगङ्गा भव के ताप को नाश करने वाली प्रसिद्ध है। अतः जब भव को सर्प रूप कहा गया है तो उसका ताप भी श्रीगङ्गा द्वारा दूर किया जाना स्वयंसिद्ध है। इसके सिवा संसार को सर्प रूप कहे बिना भी पौराणिक[3] प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि सर्प के विष के सन्ताप को नाश करना भी श्रीगङ्गा का स्वभाव-सिद्ध है। इस प्रकार वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है अर्थात् संसाररूपी सर्प का ताप दूर करने को गङ्गाजी के लिये फिर कोई विशेषण देने की आवश्यकता नहीं रहती है। यहाँ गङ्गाजी को 'कालियदौन के पाद पखारन हार' यह जो विशेषण दिया गया है उसमें 'कालियदमन' शब्द की सामर्थ्य से विष हरण करने की शक्ति वाले श्री भगवत् चरणों के प्रक्षालन से उनके चरण-रेणु द्वारा विष-हारक शक्ति श्रीगङ्गा को प्राप्त हुई है यह अभिप्राय सूचित किया गया है। यहाँ इस एक ही विशेषण द्वारा वाञ्छित चमत्कार हो जाने के कारण परिकर अलंकार सिद्ध हो जाता है।

'परिकर' अलंकार के विशेषणों में जो अभिप्राय होता है, वह गौणव्यंग्यार्थ होता है—विशेषणों के वाच्यार्थ ही में अधिक चमत्कार होने के कारण वाच्यार्थ ही प्रधान होता है। गौण व्यंग्यार्थ (गुणीभूत व्यंग्य) दो प्रकार का होता है। कहीं वह वाच्यार्थ का उत्कर्षक होता

---

१ कालिय सर्प को दमन करने वाले श्री कृष्ण के चरणों को प्रक्षालन करने वाली। २ जल की धारा से अर्थात् प्रवाह से।
३ 'स्थास्नुजंगमसंभूतविषहन्त्र्यै नमो नमः' इत्यादि।

है और कहीं वह वाच्यसिद्ध्यङ्ग[1] होता है। उपर्युक्त "मीलित पंत्र क औषध व्यर्थ........" में वाच्यार्थ का व्यंग्यार्थ उत्कर्षक है—वाच्यार्थ के चमत्कार को बढ़ाने वाला है। और—

भ्रमि संसार-मरीचिका[2] मन-मृग व्यथित स-दाह;
कृपातरंगाकुल! चहतु अब तोमें अवगाह ॥३२८॥

यहाँ वाच्यसिद्ध्यङ्ग में परिकर अलंकार है। 'तरङ्गाकुल' पद में जो समुद्र रूप अर्थ व्यंग्य है, वह अवगाहन अर्थात् स्नान रूप वाच्यार्थ कि सिद्धि करता है, क्योंकि जब तक भगवान् को कृपातरङ्गाकुल (कृपा के समुद्र) न कहा जाय, तब तक स्नान रूप वाच्य-अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती।

(२६) परिकरांकुर अलंकार

साभिप्राय विशेष्य के कथन को परिकरांकुर अलंकार कहते हैं।

अर्थात् ऐसे विशेष्य-पद का प्रयोग किया जाना जिसमें कुछ

---

१ वाच्यसिद्ध्यङ्ग में जो व्यंयार्थ होता है, वह वाच्यार्थ की सिद्धि करने वाला होता है, इसका अधिक स्पष्टीकरण प्रथम भाग रसमञ्जरी में गुणीभूत व्यंग्य के प्रकरण में किया गया है।

२ सूर्य के प्रकाश द्वारा मरुस्थल के चमकीले मैदान में वस्तुतः पानी न होने पर भी भ्रम से वहाँ पानी समझ कर प्यासे मृग पानी मिलने की आशा से उस तरफ दौड़ते हैं, पर वहाँ पानी न मिलने पर फिर अन्यत्र उसी भ्रम से भागते हैं, पर वहाँ भी निराश होते हैं, उसीको मृग-मरीचिका या मृगतृष्णा कहते हैं।

अभिप्राय हो। पूर्वोक्त 'परिकर' में विशेषण साभिप्राय होते हैं। और इसमें विशेष्य साभिप्राय होता है।

लेखन हैहयनाथ ही कहन समर्थ फनिंद,
देखन को तेरे गुनन नृप समर्थ है इंद्र ॥३२९॥

यहाँ 'हैहयनाथ' 'फनिंद' और 'इन्द्र' विशेष्य पद हैं, ये क्रमशः सहस्र हाथ सहस्र जिह्वा और सहस्र नेत्र के अभिप्राय से कहे गये हैं।

"बामा भामा कामिनी कहि बोलो प्रानेस !
प्यारी कहत लजात नहिं, पावस चलत बिदेस ॥"३३०॥[४३]

विदेश जाने को उद्यत नायक के प्रति नायिका की यह उक्ति है। यहाँ 'वामा' 'भामा' 'प्यारी' इन विशेष्य-पदों में अभिप्राय यह है कि पावस ऋतु में विदेश गमन करते समय आपको मुझे प्यारी कहने में लज्जा नहीं आती ? क्योंकि यदि मैं आपको प्यारी ही होती तो ऐसे समय आप विदेश जाने को क्यों उद्यत होते अतः इस समय मुझे वामा (कुटिला) भामा (कोप करने वाली) कहिये, न कि प्यारी।

"कंस के कहे सौं जदुबंस को बताइ उन्हें
तैसे ही प्रसंसि कुब्जा पै ललचायौ जो।
कहै 'रतनाकर' न मुष्टिक चनूर आदि
मल्लनि कौ ध्यान आनि हिय कसकायौ जो।
नंद जसुदा की सुखमूरि करि धूरि सबै
गोपी ग्वाल गैय्यनि पै गाज लै गिरायौ जो।
होते कहूँ क्रूर तौ न जानौं करते धौं कहा
एतो क्रूर करम अक्रूर ह्वै कमायौ जो॥"३३१॥[१७]

गोपी-जनों की इस उक्ति में विशेष्य शब्द 'अक्रूर' में यह अभिप्राय है कि जिसने इतने क्रूर कर्म किये हैं, उसका अक्रूर नाम मिथ्या है।

यह अलङ्कार चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में लिखा है। अन्य आचार्य इसे पूर्वोक्त 'परिकर' के अन्तर्गत मानते हैं।

(३०) अर्थश्लेष अलङ्कार

स्वाभाविक एकार्थक शब्दों द्वारा जहाँ अनेक अर्थ कहे जाते हैं, वहाँ अर्थ-श्लेष होता है।

शब्दालङ्कारों में जो शब्द-श्लेष कहा गया है, उसमें ऐसे श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग होता है; जिनके स्थान पर उसी अर्थ वाले दूसरे शब्द रख देने पर एक से अधिक दूसरा अर्थ नहीं हो सकता। और अर्थ श्लेष में ऐसे एकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है, जिनके स्थान पर उसी अर्थ वाले दूसरे शब्द रख देने पर भी एक से अधिक अर्थ का एकसाथ ही बोध होता रहता है। किन्तु जहाँ एकार्थक शब्दों का एक अर्थ हो जाने के बाद क्रमशः दूसरे अर्थ की व्यंजना होती है, वहाँ अर्थ-शक्ति-मूलक ध्वनि काव्य होता है।

थोरहि सों ऊँचे[१] चढ़े थोरहिं सों नमि[२] जाय,
तुला-कोटि खल दुहुँन की यही रीति जग माँहि ॥३३२॥

यहाँ 'थोरे' आदि एकार्थक शब्दों द्वारा तुला-कोटि (तराजू की डंडी) और दुर्जन दोनों का वर्णन किया गया है। 'थोरे' शब्द के स्थान पर यदि इसी अर्थ वाले 'अल्प' आदि शब्द बदल दिये जायँ तो भी श्लेष बना रहता है यही अर्थ-श्लेषता है। 'श्लेष' के विषय में अधिक विवेचन शब्द-श्लेष के प्रकरण में पहिले किया गया है।

---

१ तराजू के पक्ष में डंडी ऊंची हो जाना और खल के पक्ष में अभिमान। २ तराजू के पक्ष में डंडी नीचे को झुक जाना और खल के पक्ष में दीन हो जाना।

कोमल बिमल रु सरस अति विकसत प्रभा अमन्द,
है सुबास मय मन हरन तिय-मुख अरु अरबिंद ॥२३३॥

यहाँ 'कोमल' और 'विमल' आदि एकार्थक शब्दों द्वारा मुख और कमल दोनों का वर्णन है। 'कोमल' आदि शब्दों के स्थान पर इनके समानार्थक-पर्याय शब्द 'मृदु' आदि रख देने पर भी मुख और कमल दोनों के अनुकूल अर्थ हो सकते हैं, अतः अर्थ-श्लेष है।

---

(३१) अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार

अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति कराये जाने को अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार कहते हैं।

अप्रस्तुतप्रशंसा का अर्थ है अप्रस्तुत की प्रशंसा। प्रशंसा शब्द का अर्थ यहाँ केवल वर्णन मात्र है न कि स्तुति। केवल अप्रस्तुत का वर्णन चमत्कारक न होने के कारण अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत का बोध कराया जाता है।

जिसका प्रधानतया वर्णन करना वक्ता (कवि) को अभीष्ट होता है या जिसका प्रकरणगत प्रसंग होता है, उसको प्रस्तुत या प्राकरणिक कहते हैं और जिसका अप्रधान रूप से वर्णन किया जाता है या जिसका प्रकरण-गत प्रसंग नहीं होता है, उसको अप्रस्तुत या अप्राकरणिक कहते हैं। अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत के वर्णन के लिये अप्रस्तुत का कथन किया जाता है अर्थात् प्रसंगगत बात को न कहकर अप्रासङ्गिक बात के वर्णन द्वारा प्रसंगगत बात का बोध कराया जाता है। अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का बोध किसी सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकता है, अतः अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का बोध होने में तीन सम्बन्ध होते हैं —(१) कार्य-कारण सम्बन्ध (२) सामान्य-विशेष सम्बन्ध,

और (३) सारूप्य सम्बन्ध । अतः अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद इस प्रकार होते हैं—
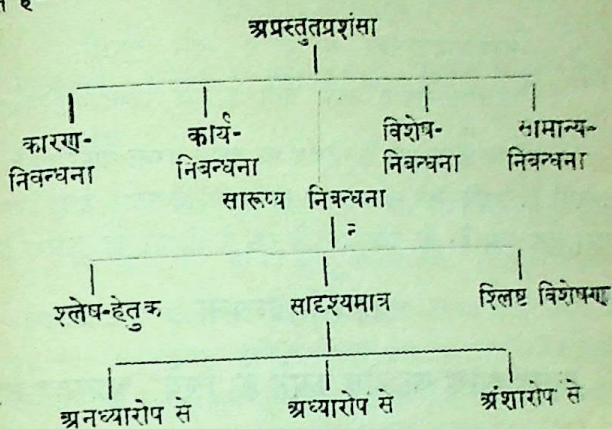
कारण-निबन्धना

प्रस्तुत (प्राकरणिक) कार्य्य का बोध कराने के लिए अप्रस्तुत कारण का कहा जाना ।

अर्थात् कारण के वर्णन द्वारा कार्य का बोध कराया जाना ।

रस भीने मनोहर प्रेम भरे मृदु-बैनन मोहि घनो समझायो,
नहि मान तिन्हैं करि रोष विदेस को गौन हिये अति ही सुदृढ़ायो,
हठ मेरो विलोकि प्रवीन प्रिया उर मांहि यही सु-विचार उपायो,
वश आँगुरी-सैन रहे नित ही तिहि खेल-बिलाव[१] सौं गैल रुकायो ॥३२४॥

विदेश जाने को उद्यत होकर फिर न जाने वाले व्यक्ति ने "आप तो जाने वाले थे, क्या नहीं गये ?" ऐसा पूछने वाले अपने मित्र के प्रति अपने न जाने का कारण कहा है । यहाँ कार्य प्रस्तुत है अर्थात्

१ पालतू बिलाव को इशारा करके मार्ग रुका दिया ।

मित्र ने जो पूछा था उसका उत्तर तो यही था कि 'मैं न जा सका' पर ऐसा न कहकर न जाने का कारण कहा गया है, जो कि अप्रस्तुत है।

सरद-सुधाकर-बिंब सौं लै कै सार सुधारि,
श्री राधा-मुख कौं रच्यो चतुर बिरंचि बिचारि ॥३३५॥

श्री राधिकाजी के मुख के सौन्दर्य का वर्णन करना वक्ता को अभीष्ट (प्रस्तुत) है, उसके लिये चन्द्रमा का सार भाग विधाता द्वारा निकाला जाना कहा गया है, जो राधिकाजी के मुख के सौन्दर्य का कारण है।

कार्य-निबन्धना

प्रस्तुत-कारण का बोध कराने के लिये अप्रस्तुत-कार्य का कहा जाना।

"मैं लै दयौ लयौ सु कर छुवत-छिनक गौ नीर,
लाल, तिहारौ अरगजा उर ह्वै लग्यौ अबीर [१] ॥"३३६[४३]

यहाँ सखी को नायक के प्रति नायिका का अत्यन्त अनुराग सूचन करना अभीष्ट था (प्रस्तुत था), वह न कह कर सखी द्वारा नायिका के विरह-जनित अप्रस्तुत-ताप का आधिक्य वर्णन किया गया है, जो कि अनुराग रूप कारण का कार्य है।

---

१ नायक के प्रति सखी की युक्ति है कि आपका भेजा हुआ प्रेमोपहार-अरगजा मैंने उसे दे दिया, पर उसके वियोग-जनित ताप इतना बढ़ा हुआ है कि जब उसने वह अरगजा हाथ में लिया तो स्पर्श मात्र से वह जल गया और वह अरगजा भस्म होकर सफेद अबीर के जैसा इसके हृदय पर जाकर लगा।

विशेष-निबन्धना

सामान्य[1] प्रस्तुत हो वहाँ अप्रस्तुत विशेष[2] का कथन किया जाना।

मृग कौं लै निज अंक ससि, मृग-लांछन कहि जाय,
नित मारत मृग अमित वह मृगपति सिंह कहाय[3] ॥२३७॥

शिशुपाल के प्रसंग में श्रीकृष्ण के प्रति बलभद्रजी को कहना यह अभीष्ट था, कि 'नम्रता रखने में दोष है और क्रूरता से गौरव बढ़ता है'। किन्तु यह प्रस्तुत रूप सामान्य न कहकर उन्होंने अप्रस्तुत चन्द्रमा और सिंह का विशेष वृत्तान्त कहा है, ज कि अप्रस्तुत है।

यद्यपि 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार में भी सामान्य विशेष सम्बन्ध का कथन होता है, पर वहाँ सामान्य और विशेष दोनों प्रस्तुत (प्रकरणगत प्रासङ्गिक) होते हैं और यहाँ सामान्य या विशेष में एक अप्रस्तुत होता है। इसके सिवा अर्थान्तरन्यास में सामान्य और विशेष दोनों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाता है और अप्रस्तुतप्रशंसा में सामान्य या विशेष दोनों में एक ही शब्द द्वारा स्पष्ट कहा जाता है।

---

१ जो बात साधारणतया सब लोगों से सम्बन्ध रखती है उसको 'सामान्य' कहते हैं। २ जो बात खास तौर से एक मनुष्य या एक वस्तु से सम्बन्ध रखती है उसको विशेष कहते हैं।

३ मृग को गोदी में रखने से चन्द्रमा का 'मृग-लाञ्छन' नाम हो गया और मृगों को रात दिन मारने वाले सिंह ने 'मृगराज' नाम पाकर अपना गौरव बढ़ाया। यह 'विशेष' बात है, क्योंकि यह खास चन्द्रमा और सिंह से सम्बन्ध रखती है।

सामान्य-निबन्धना

विशेष प्रस्तुत हो वहाँ अप्रस्तुत सामान्य का कथन किया जाना।

अपमान को कर सहन रहते मौन जो
उन नरों से धूलि भी अच्छी कहीं,
चरण का आघात सहती है न जो
शीश पर चढ़ बैठती है तुरत ही ॥३३८॥

यह भी शिशुपाल के प्रसंग में बलभद्र जी का श्रीकृष्ण के प्रति वाक्य है, उनको यह विशेष कहना अभीष्ट था कि 'हम से धूलि भी अच्छी' यह न कहकर समान्य[1] बात कही है।

किहिंको न समौ इकसो रहि है न रह्यो यह जानि निभाइबे में,
निज गौरवता समुझैं इक हैं अपने बिगरे की बनाइबे में,
नर अन्य कितेक वहो जग जो विपदागत-बंधु सताइबे में,
निज-स्वारथ साधिबो चाहत हैं धिक हाय दबेकों दबाइबे में ॥३३९॥

जो न समुझि करतव्य निज कीन्ह न कछू सहाय,
पै निज बिगरे बंधु की लैबो भलो न हाय ॥३४०॥

इन दोनों छन्दों में विपद-ग्रस्त किसी व्यक्ति विशेष का वृत्तान्त न कहकर सामान्य वृत्तांन्त कहा गया है।

सारूप्य-निबन्धना

प्रस्तुत को न कहकर उसके समान दशा वाले अप्रस्तुत का वर्णन किया जाना।

---

१ यह कथन सर्वसाधारण से सम्बन्ध रखता है, अतः सामान्य है।

इसके तीन प्रकार है—श्लेष-हेतुक, श्लिष्टविशेषण और सादृश्यमात्र

(१) श्लेषहेतुक। विशेषण और विशेष्य दोनों का श्लिष्ट होना।

(२) श्लिष्ट-विशेषण। केवल विशेषण का श्लिष्ट होना।

(३) सादृश्यमात्र। श्लिष्ट शब्द के प्रयोग के बिना अप्रस्तुत का ऐसा वर्णन होना जो प्रस्तुत के वर्णन से समानता रखता हो।

श्लेष-हेतुक—

> यूथप ! तेरे मान सम थान न इतै लखाँहि,
> क्यों हू काट निदाघ-दिन दीरघ कित इत छाँहि ॥३४१॥

यूथप (हाथी) के प्रति जो कवि का यह कथन है वह अप्रस्तुत है; क्योंकि पशु जति हाथी को कहना अभीष्ट नहीं, किन्तु अप्रस्तुत हाथी के वृत्तान्त द्वारा हाथी की परिस्थिति के समान उच्च कुलोत्पन्न किसी सज्जन के प्रति कहना अभीष्ट है अतएव वही प्रस्तुत है। यहाँ हाथी के लिये कहा हुआ 'यूथप' पद विशेष्य और उसके 'मान' आदि विशेषण भी श्लिष्ट हैं—बिशेष्य और विशेषण दोनों श्लिष्ट हैं—अतः श्लेष-हेतुक है। पर यहाँ श्लेष प्रधान नहीं, क्योंकि प्रकृत-अप्रकृत उभयाश्रित-श्लेष में विशेष्य और विशेषण दोनों श्लिष्ट नहीं होते—केवल विशेषण ही श्लिष्ट होते हैं। यहाँ विशेष्य भी श्लिष्ट होता है। और अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत के कथन ही में चमत्कार है, अतः श्लेष का बाधक होकर अप्रस्तुतप्रशंसा ही प्रधान है।

श्लिष्ट-विशेषण—

> धिक तेली जो चक्र-धर स्नेहिन करत बिहाल,
> पारथिवन बिचलित करत चक्री धन्य कुलाल [1] ॥३४२॥

---

१ चक्र धारण करने वाले अर्थात् कोल्हू को घुमाने वाले तेली को धिकार है, जोकि स्नेहियों को (जिनमें स्नेह है ऐसे तिलों को या दूसरे

यहाँ तेली और कुलाल (कुम्हार) के विषय में जो कथन है वह अप्रस्तुत है। वास्तव में इस अप्रस्तुत वृत्तान्त द्वारा श्लिष्ट-विशेषणों से राज-वृत्तान्त की प्रतीति कराई गई है। कहना यह अभीष्ट है कि अपने स्नेही जनों को पीड़ित करना तो नीच पुरुषों का काम है, वीर-पुरुषों का प्रशंसनीय कार्य तो वही है जिससे समानबल वाले प्रबल राजाओं के हृदय में खलबलाहट उत्पन्न हो जाय। यहाँ विशेष्य पद तेली और कुलाल दोनों अप्रस्तुत ही अश्लिष्ट हैं-केवल 'चक्रधर' 'स्नेही' आदि विशेषण श्लिष्ट हैं (जैसे कि समासोक्ति में होते हैं) किन्तु यहाँ 'समासोक्ति' अलंकार नहीं है, क्योंकि उसमें प्रस्तुत के वर्णन में अप्रस्तुत की प्रतीति होती है और इसमें अप्रस्तुत के कथन द्वारा प्रस्तुत का वर्णन है।

इस श्लिष्ट-विशेषण अप्रस्तुतप्रशंसा का नाम काव्य-प्रकाश में समासोक्ति हेतुक अप्रस्तुतप्रशंसा लिखा है किन्तु पण्डितराज का कहना है कि इसमें जो अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का वृत्तान्त प्रतीत होता है (जैसे उक्त उदाहरण में तेली और कुलाल के वृत्तान्त में जो राज-वृत्तान्त प्रतीत होता है) उसे यदि प्रस्तुत माना जाय तो 'समासोक्ति' नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसमें समान विशेषणों द्वारा प्रस्तुत के वर्णन में अप्रस्तुत का बोध कराया जाता है और यदि उस राजवृत्तान्त को अप्रस्तुत माना जाय तो 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' नहीं कही जा सकती क्योंकि इसमें 'अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का वर्णन' होता है। अतः इस भेद को 'श्लिष्ट-विशेषण' कहना ही उचित है, न कि समासोक्ति-हेतुक।

यद्यपि अप्रस्तुत-प्रस्तुत उभयाश्रित श्लेष में केवल विशेषण ही

पक्ष में अपने स्नेहीजनों को) पीडित करता है (दूसरे पक्ष में दुःख देता है, किन्तु कुलाल (कुम्हार) धन्य है जो चक्र धारण करके (चाक फिराकर) पार्थिवों को (मिट्टी के पिंडों को दूसरे पक्ष में पार्थिव अर्थात् राजाओं को विचलित (चलायमान) करता है।

श्लिष्ट होते हैं किन्तु वहाँ अप्रस्तुत और प्रस्तुत दोनों विशेष्यों का पृथक-पृथक शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाता है। और इस अप्रस्तुत-प्रशंसा में केवल अप्रस्तुत विशेष्य का ही शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाता है, जैसे कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है।

हौं अति नीचो समुझि यह दुखित न ह्वै रे कूप,
पर-गुण-ग्राहक है सरस तेरो हृदय अनूप ॥"३४३॥

यहाँ कूप के प्रति जो कहा गया है, वह अप्रस्तुत है, वास्तव में इस अप्रस्तुत वर्णन द्वारा श्लिष्ट विशेषणों से[1] ऐसे सहृदय सज्जन से कहा गया है, जिसको कोई उच्च पद प्राप्त नहीं हो सका है।

सादृश्य मात्र निबन्धना। इसे अन्योक्ति भी कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—

(१) वाच्यार्थ में अर्थ के अनध्यारोप से अर्थात् आरोप[2] किये बिना वर्णन किया जाना।

(२) वाच्यार्थ में अर्थ के अध्यारोप से अर्थात् आरोप पूर्वक वर्णन किया जाना।

(३) वाच्यार्थ में अर्थ के अंशारोप से अर्थात् किसी वाच्यार्थ में आरोप होना और किसी में आरोप न होना।

---

१ कुएँ के पक्ष में पर-गुण-ग्राहक का अर्थ रस्सी को (गुण नाम रस्सी का भी है) कुआ पानी भरने के समय अपनी ओर ग्रहण करता है और सज्जन के पक्ष में दूसरे के गुणों को ग्रहण करना। तथा सरस हृदय का अर्थ कुएँ के पक्ष में जल भरा हुआ और सज्जन के पक्ष में सहृदय होना।

२ आरोप का अर्थ रूपक अलंकार में देखिये।

अनध्यारोप का उदाहरण—

पय निर्मल मानसरोवर का कर पान सुगंधित नित्य महा,
जिसका सुखसे सब काल व्यतीत हुआ विकसे कल कंज वहाँ,
विधि के वश राज-मराल वही इस पंकिल ताल गिरा अब हा!
बिखरे जल-जाल शिवाल तथैव रहे भर भेक[1] अनेक जहाँ ॥३४४॥

अप्रस्तुत हंस के वृत्तान्त द्वारा यहाँ उसी के समान अवस्था वाले किसी सम्पत्तिभ्रष्ट पुरुष की दशा का बोध कराया गया है। हंस का मानसरोवर से अलग होकर दूसरे तालों पर दुःखित होना संभव है, अतः यहाँ कुछ आरोप न किये जाने से अनध्यारोप है।

सुमनावलि गंध-प्रलुब्ध, लिये हरिणी सँग मोद रहा भर है,
सुन रक्त हुआ मधुपावलि-गान हरे तृण तुच्छ रहा चर है,
वृक[2] सम्मुख, लुब्धक[3] पृष्ठ खड़ा जिसको शर-लक्ष्य[4] रहा कर है,
फिर भी यह दौड़ रहा मृगमूढ़ उसी पथ में न रहा डर है ॥३४५॥

यहाँ अप्रस्तुत मृग के वृत्तान्त के वर्णन द्वारा उसी दशा वाले प्रस्तुत विषयासक्त मनुष्य की अवस्था का बोध कराया है। यहाँ भी आरोप नहीं है—मृग और विषयासक्त मनुष्य दोनों की ठीक यही दशा है।

"कली मुकताहल कमल जहाँ कुंदन के,
पन्ना ही की पैरी पैज जाके चहूँधा करी।
विहरत सुर मुनि उच्चरत वेद-धुनि,
सुख को समाज रास बिंधिना तहाँ करी।
बासी ऐसे सर को उदासी भयो बिछुरे ते,
'कासीराम' तोऊ कहूँ ऐसी आस नाँ करी।

---

१ मेंढक। २ भेड़िया सामने खड़ा हुआ है। ३ व्याध-बहेलिया। ४ निसाना बना रहा है।

पड़ो कोऊ काल ताते ताक्यो एक तुच्छ ताल,
लख्यो है मराल पै चुगै वहा काँकरी ॥"२६३॥[६]

यहाँ अप्रस्तुत हंस के वृत्तान्त द्वारा उसी दशा वाले सम्पत्ति-भ्रष्ट सज्जन पुरुष का वर्णन है।

रितु निदाघ दुःसह समय मरु-मग पथिक अनेक ;
मेटे पाप कितेन को यह मारग-तरु एक ॥२४६॥

यहाँ अप्रस्तुत-मरुस्थल के मार्ग में स्थित वृक्ष के वृत्तान्त द्वारा उसी दशा वाले किसी मध्यश्रेणी के दाता की अवस्था का सूचन किया गया है। यहाँ भी आरोप नहीं है, क्योंकि मरुस्थल के वृक्ष की छाया और मध्यश्रेणी के दाता दोनों की यही समानदशा होती है।

आरोप द्वारा —

इस पंकज के विकसे वन में न यहाँ भ्रम तू मधु-मत्त-अली !
सुख-लेश नहीं अति क्लेशमयी यह नाशक है सब रंगरली,
मतिमूढ़ ! अरे इस कानन का वह भक्षक है गजराज बली,
उड़ जा अविलम्ब, विनाश न हो जबलौं रुक के इस कंज-कली ॥२४७॥

यहाँ अप्रस्तुत भृंग को सम्बोधन करके प्रस्तुत विषयासक्त मनुष्य के प्रति उपदेश किया गया है। भृंग पक्षी के प्रति उपदेश किया जाना असंगत है, अतः यहाँ विषयासक्त मनुष्य में भृंग का आरोप किया गया है।

पाके ग्रीष्म-घोर चातक हुआ जो दग्ध संताप से,
तेरा ही रख ध्यान नित्य दिन वे काटे बड़े ताप से,
दैवाधीन अदीन[1] दर्शन उसे तेरे हुए आज हैं,
डालै जो करिका[2] पयोद ! अब तू ए रे तुझे क्या कहैं ॥२४८॥

---

१ उदार। २ पत्थर के टूक—ओले।

यहाँ किसी आशा-बद्ध व्यक्ति को निराश करने वाले धनवान को उपालम्भ देना प्रस्तुत है। वह उपालम्भ धनवान को न देकर उसी के समान अविचारी अप्रस्तुत मेघ के प्रति दिया गया है। यहाँ जड़ मेघ के प्रति कहा गया है, अतः आरोप है।

रे कोकिल ! तू काटि कित, नीरस काल-कराल,
जौलौं अलि-कुल-कलित नहिं, फूलै ललित रसाल ॥३४६॥

यहाँ अप्रस्तुत कोकिल के वृत्तान्त द्वारा किसी विपद्ग्रस्त सज्जन को धैर्य रखने का उपदेश है। यहाँ पक्षी जाति कोकिल के प्रति उपदेश होने के कारण आरोप है।

आते ही ऋतुराज चारु जिसके फूली घनी मंजरी,
रे तूने अति गुंज मंजुल जहाँ सानन्द लीला करी।
हा ! दुर्दैव ! रसाल काल-वश वो है जा रहा सूखता,
छोड़ेगा अब भृंग ! साथ यदि तू होगी बड़ी नीचता ॥३५०॥

जिसके द्वारा अत्यन्त सुख मिला था उप उपकारी के उन उपकारों को भूल कर उपकार करकेवाले को गिरती हुई दशा में जो उसकी कुछ सेवा नहीं करता है, उस कृतघ्न के प्रति कहना अभीष्ट है। वह उसके प्रति न कहकर रसाल (आम्र) के विषय में भौंरे को कहा गया है। यहाँ पक्षी-जाति भृंग के प्रति उपालम्भ है, अतः आरोप है।

आरोप और अनारोप द्वारा—

कर्न-चपल[1] कर-सून्य[2] पुनि, रसना विधि प्रतिकूल[3],
अस-मदंध गज को भ्रमर ! क्यों सेवत हठि भूलि ॥३५१॥

---

१ हाथी के पक्ष में कानों की चपलता और कृपण पक्ष में कानों का कच्चा अर्थात् चुगली सुन कर विश्वास कर लेना। २ हाथी के पक्ष में सूंड का थोथा होना और कृपण के पक्ष में कुछ न देने वाला।

यह किसी कृपण और दुर्जन मनुष्य की सेवा करने वाले प्रस्तुत मनुष्य के प्रति कहना अभीष्ट है। उसे न कहकर अप्रस्तुत भ्रमर के प्रति कहा गया है। यहाँ भ्रमर को हाथी की सेवा करने में रसना (जीभ) का प्रतिकूल होना और शून्य-कर होना (शूंड का थोथा होना) प्रतिकूल नहीं—इनके होने से भ्रमर को कुछ कष्ट नहीं होता है, किन्तु यहाँ इन को भी हाथी की सेवा करने के प्रतिकूल कहा गया है अतः यह आरोप है। कर्ण की चपलता वस्तुतः भ्रमर को हाथी के सेवन—न करने में कारण है क्योंकि हाथी के कर्ण की चपलता के कारण भ्रमर को कष्ट होता है अतः यह अनारोप है। और मदांध गज कहा है पर मद के लोभ से तो भौंरे हाथी के पास जाते ही हैं, अतः मद तो हाथी को सेवन करने में भ्रमरों के लिये कारण ही हैं पर वह भी असेवन करने का ही कारण बताया गया है, अतः यहाँ आरोप और अनारोप दोनों हैं।

समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा का विषय विभाजन—

यद्यपि अप्रस्तुतप्रशंसा और पूर्वोक्त समासोक्ति में यह स्पष्ट भेद है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रासङ्गिक (अप्रस्तुत) के वर्णन द्वारा प्रासङ्गिक (प्रस्तुत) की प्रतीति कराई जाती है। और इसके विपरीत समासोक्ति में प्रासङ्गिक (प्रस्तुत) के वर्णन द्वारा अप्रासङ्गिक (अप्रस्तुत) की। फिर भी किसी किसी स्थल पर जहाँ प्रथम बोध होनेवाला वाच्यार्थ प्रासङ्गिक है, या उसके बाद दूसरा अर्थ (व्यंग्यार्थ) प्रासंगिक है? यह निर्णय नहीं हो पाता है, वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा और समासोक्ति इन दोनों में कौन सा अलङ्कार है? यह प्रायः संदिग्ध ही

---

३ हाथी के पक्ष में जीभ का उलटा होना और कृपण के पक्ष में असत्य शब्द कहने वाला।

रहता है। वहाँ वर्णन के प्रसङ्ग को देख कर ही निर्णय हो सकता है। यदि वाच्यार्थ प्रसङ्ग के अनुसार प्रस्तुत से सम्बन्ध रखता हो तो समासोक्ति समझना चाहिये और वह यदि प्रसंग से सम्बन्ध न रखता हो तो अप्रस्तुतप्रशंसा समझना चाहिये। जैसे—

मलिन चपल वाचाल तू, तउ यह है अनुरक्त,
सरस विकासित नलिनि सौं क्यों तू मधुप विरक्त ॥३५२॥

नायिका का यह वाक्य यदि जल क्रीडा के समय भ्रमर के प्रति प्रत्यक्ष कहा गया हो तो प्रासंगिक होने के कारण इसका वाच्यार्थ प्रस्तुत होगा और इसमें धृष्ट नायक का नायिका के प्रति किया गया व्यवहार रूप व्यंग्यार्थ अप्रस्तुत होने के कारण यहाँ समासोक्ति मानी जा सकती है और यदि भृंग के प्रति प्रत्यक्ष न कहा गया हो तो इसका वाच्यार्थ अप्रस्तुत होगा और धृष्ट नायक का व्यवहार—जो व्यंग्यार्थ है, वह, प्रस्तुत होगा अतः अप्रस्तुतप्रशंसा मानी जा सकती है।

अप्रस्तुतप्रशंसा और रूपकातिशयोक्ति का विषय विभाजन—

रूपकातिशयोक्ति में भी प्रस्तुत का कथन न किया जाकर अप्रस्तुत (उपमान) का ही वर्णन किया जाता है। और अप्रस्तुतप्रशंसा में भी प्रस्तुत का वर्णन न किया जाकर अप्रस्तुत का ही वर्णन किया जाता है। किन्तु इन दोनों में भेद यह है कि रूपकातिशयोक्ति में अप्रस्तुत (उपमान) का जो वर्णन किया जाता है, उसका वाच्यार्थ असंगत होता है। जैसे—

बिन जल कमल रु कमल में नील नलिन द्वै चारु,
कनक-लता में लसत है चलि तुम लेहु निहारु ॥३५३॥

रूपकातिशयोक्ति के इस उदाहरण के वाच्यार्थ में जल के बिना कमल, उस कमल में दो और नीले कमल एवं उनका कनक-लता

सुवर्ण-लता में होना कहा गया है किन्तु ऐसा कहीं प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता है, अतः यह वर्णन असंगत है, इसमें अप्रस्तुत का (कामिनी के मुख, नेत्र और शरीर के उपमानों का) वर्णन किया गया है। अतः जब इन 'कमल आदि अप्रस्तुतों (उपमानों) के वर्णन में प्रस्तुत—कामिनी के मुख आदि उपमेयों का वर्णन किया जाता है तभी अप्रस्तुत वाच्यार्थ की संगति बैठ सकती हैं। किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा में जो अप्रस्तुत का वर्णन किया जाता है, वह संभव होता है, जैसा कि अप्रस्तुत प्रशंसा के ऊपर वाले उदाहरणों से स्पष्ट है। अर्थात् रूपकातिशयोक्ति में प्रस्तुत अर्थ साध्यवसाना लक्षणा[1] का लक्ष्यार्थ होता है और अप्रस्तुत प्रशंसा में प्रस्तुत अर्थ होता है वह व्यंग्यार्थ होता है यद्यपि व्यंग्यार्थ ध्वनि-काव्य का विषय है, पर जहाँ वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारक-प्रधान-होता है वही व्यंग्यार्थ ध्वनि काव्य होता है। किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा में जो व्यंग्यार्थ होता है यह वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारक नहीं होता है—वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में समान चमत्करक होता है। अर्थात् काव्य में पहिले पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों का ज्ञान होता है पीछे जब सारे पदों के समूह के अर्थ का ज्ञान हो जाता है उस समय पदों के पृथक्-पृथक् अर्थ का ध्यान जिस प्रकार नहीं रहता है उसी प्रकार ध्वनि काव्य में व्यंग्यार्थ के ज्ञान के समय वाच्यार्थ का ध्यान नहीं रहता है। अतः ध्वनि में व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारक होता है। किन्तु अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुतरूप व्यंग्यार्थ का ज्ञान होने पर भी साधर्म्य-विवक्षा से अर्थात् प्रस्तुत के समान अप्रस्तुत का वर्णन चमत्कारक होने के कारण बुद्धि फिर शीघ्र ही प्रस्तुत वृत्तान्त रूप वाच्यार्थ का

---

१ लक्षणा और लक्ष्यार्थ का स्पष्टीकरण इस ग्रंथ के प्रथम भाग रसमंजरी के द्वितीय स्तवक में किया गया है।

भी ध्यान कर लेती है[१]। अतः अप्रस्ततप्रशंसा में प्रस्तुत वाच्यार्थ और अप्रस्तुत व्यंग्यार्थ दोनों में समान चमत्कार होनेके कारण समप्रधान गौण व्यंग्य रहता है[२] ऐसे व्यंग्यार्थ में अप्रस्तुतप्रशंसा और समासोक्ति आदि अलंकार माने गये हैं।

कुवलयानन्द में प्रस्तुत के द्वारा किसी दूसरे वाञ्छित प्रस्तुत के वर्णन में 'प्रस्तुतांकुर' नामक अलङ्कार माना है। और कहा है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का बोध कराया जाता है और इसमें प्रस्तुत द्वारा ही प्रस्तुत का बोध कराया जाता है। जैसे—

मनमोहक मंजुल मालति है फिर भी अलि! क्यों भटका फिरता,
पहुँचा उड़ तू इस केतकि पै पर देख वहाँ रहना डरता;
बस मान कहा अनुरक्त न हो लख ऊपर की यह सुंदरता,
छिद जायगा कंटक से, मधु की अभिलाष वृथा करता करता ॥३५॥

अपने प्रियतम के साथ पुष्पवाटिका में टहलती हुई किसी नायिका की यह भ्रमर के प्रति उक्ति है। कुवलयानन्द में इसकी स्पष्टता करते हुए लिखा है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में भृंगादि के प्रति प्रत्यक्ष कथन नहीं होता है, अतः वे अप्रस्तुत होते हैं। और यहां वाटिका में भृंग को मालती लता पर से केतकी पर गया हुआ देखकर भृंग के प्रति नायिका द्वारा प्रत्यक्ष उपालम्भ दिया गया है, अतः प्राकरणिक होने से प्रस्तुत है। भृंग के प्रति उपालम्भ रूप इस वाच्यार्थ में, वक्ता जो

---

१ 'स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते।
तद्वत्सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम्,
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते।'
—ध्वन्यालोक१–११–१२

२ 'अप्रस्तुतप्रशंसायामपि.................. अभिधेयप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्'।—ध्वन्यालोक पृ० ४२।

सौन्दर्याभिमानी कुल-वधू है उसके द्वारा, सर्वस्व का हरण करने वाली सकंटका केतकी के समान वेश्या में आसक्त रहने वाले निज प्रियतम के प्रति जो उपालम्भ सूचन किया गया है वह भी वाञ्छित है अतः प्रस्तुत है। ऐसा न समझना चाहिये कि भ्रमर को सम्बोधन असम्भव होने के कारण वाच्यार्थ अप्रस्तुत है, क्योंकि लोक में भृंगादि पक्षियों और जड़ वृक्ष आदि को भी प्रत्यक्ष सम्बोधन देखा जाता है। जैसे—

को है तू ?, हौं विधि-हतक, तरु शाखोटक नाम,
पथ-थित हौं तउ आतु नहिं, मो छाया किहिं काम[1] ॥३५५॥

यहाँ चेतन अचेतनों का प्रश्नोत्तर है। और—

यह धारैं सखी ! नलिनी जुग-कंज के कोस मराल की चोंच चुँथाये,
नर-कोकिल-दंसित आम्रलता नव-पल्लव क्यों न लखै ? मनभाये,
सखियांन की ये बतियाँ सुनिकै तट-वापिका पै नव बाल लजायें,
अरुनाधर पानि-सरोज ढक्यो रु उरोज दुहूँ पट सों दुबकायें[2] ॥३५६॥

---

१ यह शाखोटक वृक्ष के साथ किसी की उक्ति प्रतिउक्ति है। शाखोटक एक वृक्ष विशेष का नाम है, जो श्मशान में होता है और जिसके श्मशान की अग्नि-ज्वाला लगती है—'शाखोटको हि श्मशानाग्निज्वालालीढलतापल्लवादिस्तरुविशेषः'—ध्वन्यालोकलोचन पृ० २१६

२ हे सखी! देख तो यह नलिनी (बावड़ी) हंस की चोंच के चूँथे हुए दो कोश (कमल की कली) धारण किये हैं और यह नर-कोकिल के चबाये हुए आम की लता के नवीन पत्ते कैसे मनोहर हैं। यह बात बावड़ी के तट पर अपनी सखियों के मुँह से सुनकर नायिका ने यह समझ कर कि मेरे अंगों के नख-क्षत आदि चिह्नों के विषय में ये व्यंग से कह रही हैं, लज्जित होकर अधर को हाथ से और उरोजों को वस्त्र से छिपा लिया।

यहाँ 'तट-वापिका पै' और 'यह नलिनी' इन पदों द्वारा वाच्यार्थ प्रत्यक्ष प्रस्तुत है—प्रसंगगत है। और चौथे चरण में दूसरे प्रस्तुत को कवि ने स्वयं सूचन किया है।

किन्तु पंडितराज एवं नागेश भट्ट 'प्रस्तुताङ्कुर' को अप्रस्तुतप्रशंसा के अन्तर्गत ही मानते हैं[1]। क्योंकि अप्रस्तुतप्रशंसा में मुख्य तात्पर्य (प्रस्तुत—प्राकरणिक) का वर्णन न कर के उसे सूचन करने के लिये जो कुछ भी वर्णन होता है, उसीके लिये अप्रस्तुत शब्द का प्रयोग किया गया है, वह कहीं अत्यन्त अप्राकरणिक होता है और कहीं प्राकरणिक भी होता है। अतएव यह "धार रही नलिनी······" में भी सखी जनों की उक्ति में कमलिनी और हंस के अप्रस्तुत वृत्तान्त द्वारा प्रस्तुत नायिका का वृत्तान्त सूचन किया गया है।

---

(३२) पर्यायोक्ति अलङ्कार

अभीष्ट अर्थ का भंग्यन्तर से कथन किये जाने को पर्यायोक्ति अलङ्कार कहते हैं।

'पर्यायोक्ति' का अर्थ है पर्याय से[2] उक्ति अर्थात् पर्यायोक्ति में अपना वक्तव्य सीधी तरह से न कह कर भंग्यन्तर से (दूसरी तरह से) कहा जाता है।

> गरब-विनासक तियन कौ लखि तौकौं रन मांहि,
> किहिं अरि-नृप की राज-श्रिय तजत पतिव्रत नांहि ॥३५७॥

किसी राजा की प्रशंसा में कवि को कहना तो यह अभीष्ट है कि

---

१ देखिये रसगंगाधर और काव्यप्रकाश की व्याख्या उद्योत अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरण।

२ 'पर्यायस्त प्रकारे'—विश्वकोष।

'सब शत्रुओं पर युद्ध में तुम विजय प्राप्त करते हो' इस बात को इसी प्रकार न कह कर 'संग्राम में तुम्हें देख कर किस शत्रु की राज्य-लक्ष्मी पतिव्रत को नहीं छोड़ देती है' इस प्रकार भंग्यन्तर—प्रकारान्तर—से कहा है।

यहाँ 'सब शत्रुओं पर तुम विजय प्राप्त करते हो' यह बात यद्यपि स्पष्ट नहीं कही जाने से वाच्यार्थ नहीं है—व्यंग्यार्थ है। पर यहाँ यह व्यंग्यार्थ शब्द द्वारा कह दिया गया है अर्थात् अभीष्ट अर्थ भंग्यन्तर से कहा गया है, अतएव ध्वनि नहीं है। ध्वनि में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे ध्वनि के—

नलिनी-दल बैठे अचल यह बक-जुगुल निहारु,
मरकत-भाजन में धरे संख-सीप जिमि चारु ॥३५८॥

इस उदाहरण में वाच्यार्थ में कमल-दल पर निश्चल बैठे हुए बगुले के जोड़े का वर्णन है। और बगुले के जोड़े के निःशंक निश्चल बैठने के व्यंग्यार्थ में उस स्थान का एकान्त होना सूचन किया हैं। अतः वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु पर्यायोक्ति में वाच्यार्थ ही रूपान्तर से कहा जाता है जैसे—'सब शत्रुओं पर तुम विजय करते हो' यही बात 'गर्व विनासक तियन को' इस उदाहरण में 'संग्राम में तुमको देखकर किस शत्रु की राज्य-लक्ष्मी पतिव्रत नहीं छोड़ देतीं'—इस वाच्यार्थ में रूपान्तर से—कही गई है। भंग्यन्तर से कथन में और वाच्यार्थ में वैसा ही अन्तर है जैसा कि जावक, मेहँदी, जपा और कसूम आदि के पुष्प सभी रक्त होते हैं पर जाति-भेदके कारण उनमें एक दूसरे की रक्तता में अन्तर होता है। इसी प्रकार भंग्यन्तरका कथन भी एक प्रकार का वाच्यार्थ ही होता है। वास्तव में भंग्यन्तर द्वारा कहना वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का मध्यवर्ती अर्थ है अर्थात् गुणी-भूत व्यंग्य है[1]।

---

१ "समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्त्यादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैक

अलङ्कारसर्वस्व प्रणेता रुय्यक और उसके विमर्शनी-टीकाकार का मत है कि केवल पर्याय से—प्रकारान्तर से कहे जाने मात्र में पर्यायोक्ति अलङ्कार नहीं हो सकता। जैसे—

> रन बांके थाके नहीं तेरे सुभट नरेश;
> पिय-दरसन अरि-तियन कौं सपनो कियो हमेस ॥ ३५९ ॥

यहाँ 'राजा के योद्धाओं द्वारा शत्रु मार दिये गये' इस बात को 'शत्रुओं की रमणियों को उनके पतियों के दर्शन अब स्वप्न-मात्र कर दिये' इस प्रकार प्रकारान्तर से कही गई है। पर इस प्रकार से कहना तो 'अकाव्यता' का परिहार मात्र है, क्योंकि केवल यह कहने में कि "तेरे योद्धाओं ने शत्रुओं को मार डाला' काव्यत्व नहीं, अतः वर्णन में काव्यत्व-प्रतिपादन के लिये इस प्रकार कहा गया है। 'पर्यायोक्ति' अलङ्कार तो वहीं हो सकता है, जहाँ कारण रूप जो कहने को अभीष्ट हो उसे कार्य द्वारा कहा जाता है। जैसे उपर्युक्त 'गरब विनासक तियन को·····' इस उदाहरण में शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने रूप कारण का शत्रु-राजाओं की राज्यलक्ष्मी का पातिव्रत्य छोड़ने रूप कार्य कहा गया है। यद्यपि कार्यनिबन्धना अप्रस्तुत-प्रशंसा में भी कारण रूप मुख्य अर्थ को कार्य द्वारा कहा जाता है, किन्तु वहाँ कारण प्रस्तुत और कार्य अप्रस्तुत होता है और यहाँ कारण और कार्य दोनों ही प्राकरणिक होने के कारण प्रस्तुत होते हैं।

रुय्यक ने अपने इसी मत के अनुसार आचार्य मम्मट की आलोचना भी की है। काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने कार्य-निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा में निम्नाशय का उदाहरण दिया है—

तत्त्वव्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यंग्यता निर्विवादैव।"

—ध्वन्यालोक ३। ३ पृ० २०६

राज सुता न पढ़ाती मुझे ! नृप ? देवियाँ मौन दिखाती हैं क्यों ?
डालती क्यों न चुगा कुब्जे ! न कुमार भी आज खिलाती है क्यों ?
शून्य हुए अरि-मन्दिर में अब पिंजर से छुट जाती हैं जो—
जाके वहाँ प्रति चित्र समीप वे सारिका वाक्य सुनाती हैं यों[1] ॥३५८॥

इसमें किसी राजा की प्रशंसा में कवि को यह कहना अभीष्ट था कि 'अपने ऊपर चढ़ाई करने के लिए तुम्हें उद्यत समझ कर आपके शत्रु भाग गये' इस प्रस्तुत (प्रसंगगत) कारण को न कहकर अप्रस्तुत कार्य—'शत्रु राजाओं के भवनों का शून्य हो जाना' कहा है।' रुय्यक इसकी आलोचना में कहता है—"यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं है पर्यायोक्ति अलङ्कार है। क्योंकि अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत का सूचन कराया जाता है। किन्तु यहाँ शत्रुओं के भवन शून्य हो जाने का वर्णन अप्रस्तुत (अप्रासंगिक) नहीं किन्तु वर्णनीय होने से प्रस्तुत है। अतः इस बात को (शत्रुओं के भग जाने रूप प्रस्तुत कारण को) न कहकर प्रकारान्तर से (भवन शून्य हो जाने रूप प्रस्तुत कार्य द्वारा) कहा गया है। किन्तु रुय्यक के इस मत के अनुसार तो पर्यायोक्ति और कार्य-निबन्धना-अप्रस्तुतप्रशंसा की पृथक्ता बहुत ही संदिग्ध हो जाती है[2]।

१ राजा के प्रति कवि की उक्ति है—तुम्हारे भय से भगे हुए शत्रु-राजाओं के सूने भवनों की यह दशा हो गई है कि पिंजरों में से पथिकों द्वारा निकाली हुई मैनाएं वहाँ दीवारों पर लिखे हुए राजा, रानी, राजकुमारी और दासियों के चित्रों के समीप जाकर उनसे कहती हैं कि हे राजन् ! राजकुमारी हमको क्यों नहीं पढ़ाती हैं। रानियाँ क्यों मौन हैं, कुब्जे ! तू हमें चुगा क्यों नहीं डालती, और आज राजकुमारी को क्यों नहीं खिलाती है ?

२ पर्यायोक्ति अलंकार का विषय बड़ा विवादास्पद है। इस पर ध्वन्यालोक (१।१३), रसगंगाधर (पर्यायोक्ति-प्रकरण) और कुवल-

चौरासी गिन लक्ष रूप नट ज्यों लाया बना के नये,
बारंबार कृपाभिलाष कर मैं ये आप ही के लिये,
हूए जोकि प्रसन्न देख उनको, माँगूँ वही दो हरे !
आये जो न पसंद, नाथ ! कहिये ये स्वांग लाना न रे ॥३६१

यहाँ भगवान् से मोक्ष की प्रार्थना अभीष्ट है, वह भंग्यन्तर से कहा गया है।

"जाउँ जम-गाउँ सो समेत अघओघनि के
तोपै तिहिं ठाउँ ना समाउँ उबरयो रहौं।
कहै 'रतनाकर' पठावौ अघ-नासि जु पै
तोपै तहाँ जाइवे की जोगता हरयो रहौं।
सुकृत बिना तो सुरपुर में प्रवेस नांहि,
पर तिनतैं तो नित दूर ही टरयो रहौं।
तातैं नयो जोलौं ना निवास निरमान होइ,
तोलौं तव द्वार पै अमानत परयो रहौं ॥"३६२॥[१७]

यहाँ 'आपकी शरण में रखिये' इस अभीष्ट को वक्ता ने भंग्यन्तर से कहा है।

पावन हुआ स्थल यह जहाँ पद आपके अर्पित हुए,
रूप-छवि की माधुरी से नेत्र आप्यायित हुए,
मधुर श्रवणामृत रसायन-वचन का कर दान क्या—
सम्मान्य ! इस जन के श्रवण अब सफल करियेगा न क्या ॥३६३॥

'आप यहाँ आने का अपना अभीष्ट कहिये' यह बात यहाँ इस पद्य के उत्तरार्द्ध में प्रकारान्तर से कही गई है।

यानन्द आदि में बहुत विस्तृत विवेचन है।

दूसरा पर्यायोक्ति अलंकार

अपने इष्ट अर्थ को साक्षात् (स्पष्ट) न कहकर उस (इष्ट) की सिद्धि के लिए प्रकारान्तर (दूसरे प्रकार) से कथन किए जाने को द्वितीय पर्यायोक्ति कहते हैं।

इसका लक्षण चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में 'व्याज (बहाने) से इष्ट साधन किया जाना' लिखा है। किन्तु इस लक्षण द्वारा 'पर्याय-उक्ति' अर्थात् 'प्रकारान्तर से कहा जाना' जो इस अलङ्कार में विशेष चमत्कार है वह स्पष्ट नहीं हो सकता है। अतः यहाँ आचार्य दण्डी के मतानुसार लक्षण लिखा गया है।

उदाहरण—

वसन छिपाई चोर, क्यों न देतु अब गैंद यह,
अस कहि नंदकिसोर, परस्यो गोपी उर चतुर ॥३६४।

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण ने उरु-स्थल स्पर्श करने के इष्टार्थ (वांछितार्थ) को स्पष्ट न कह कर पूर्वार्द्ध में गोपाङ्गना को प्रकारान्तर से कहा है।

(३३) व्याजस्तुति अलङ्कार

निन्दा के वाक्यों द्वारा स्तुति और स्तुति के वाक्यों द्वारा निन्दा करने को व्याजस्तुति अलङ्कार कहते हैं।

व्याजस्तुति का अर्थ है व्याज अर्थात् बहाने से स्तुति। व्याज-स्तुति में स्तुति के बहाने से निन्दा और निन्दा के बहाने से स्तुति की जाती है।

निन्दा में स्तुति—

सुर-लोक से आप गिरीं जननी! अवनी-तल-दुःख-निवारण को,
दिक्-अंबर भी शिव ने तुमको ली जटा में छिपा, कर धारण सो।

निरलोभियों के मन लुब्ध बना, करती तुम क्या न प्रतारण[१] हो,
गुण-राशि में दोष तुम्हारे यही कहते सब हैं, न अकारण जो ॥३६५॥

यहाँ श्री गङ्गाजी की निन्दा प्रतीत होती है, पर वस्तुतः उनकी स्तुति है।

"दिसि दिसि देखि दीठि चपल चलावै मनि-
भूषन दिखावै मंजु विभव बिसाला ज्यों।
सुबरन-सेवी[२] अभिरूप जन[३] आवै तिन्हें
आसु[४] अपनावै मिलि लावै गरे माला ज्यों।
कोटिन[५] पै कोटिन कुमावै अर्थ कामिन तैं
सदन न सूनो राखै राग इकताला ज्यों[६]।
निलज निसर्ग नृप राम की समृद्धि सांची
बित्ताकर वृद्धन बुलावै बारबाला[७] ज्यों।"३६६॥ [६०

यहाँ बूंदी नरेश रामसिंह की समृद्धि को वेश्या के समान निर्लज्ज कह कर निन्दा के व्याज से राजा की स्तुति की गई है। यह श्लेष-मूलक व्याजस्तुति है। यद्यपि यहाँ श्लेषोपमा भी है, पर कवि का अभीष्ट यहाँ निन्दा के व्याज से राजा की स्तुति करना ही है अतः व्याजस्तुति ही प्रधान है।

---

१ ठगाई। २ राजा की समृद्धि के पक्ष से साक्षर विद्वानों की सेवा करने वाली, वेश्या के पक्ष में सुवर्ण—धन। ३ राजा के पक्ष में पण्डित, वेश्या के पक्ष में अच्छे रूप वाले। ४ शीघ्र। ५ राजा के पक्ष में कोटि अर्थात् शास्त्रीय निर्णय, वेश्या के पक्ष में करोड़ों रुपये। ६ इकताला राग जिसमें स्थान रिक्त (खाली) नहीं रहता है। ७ वेश्या।

स्तुति में निन्दा—

तरु सेमर का जगतीतल में यह भाग्य कहो कम है किससे ?
जिसके अरुण-प्रभ पुष्प खिले लख लजित हों सरसीरुह से ,
समझें जलजात मराल तथा मकरंद-प्रलोभित भृंग जिसे ;
करके फल-आश विहगम भी अनुरक्त सदा रहते जिससे ॥३६७॥

जिसके फूलों की सुन्दरता पर मुग्ध होके आये हुए आशाबद्ध पक्षीगण निराश हो जाते हैं, उस सेमर के वृक्ष की यहाँ स्तुति की गई है किन्तु वास्तव में निन्दा है। यहाँ सेमर के पुष्पों में मराल (हंस) आदि को कमल आदि का भ्रम कहे जाने में जो भ्रान्तिमान् अलङ्कार है वह व्याजस्तुति का अंग है—प्रधान नहीं और यहाँ सेमर का वृत्तान्त अप्रस्तुत है वस्तुतः बहिराडम्बर वाले कृपण व्यक्ति के प्रति कहा गया है, अतः यह अप्रस्तुतप्रशंसा से मिश्रित व्याजस्तुति है।

तव कलत्र यह मेदिनी है भुजंग संसक्त,
आप करत गुमान नृप! है तापै अनुरक्त ॥३६८॥

यहाँ 'भुजंग' शब्द श्लिष्ट है, इसके जार पुरुष और सर्प दो अर्थ हैं और 'संसक्त' के भी दो अर्थ हैं आसक्त और व्याप्त। यह श्लेष मिश्रित है।

व्याजस्तुति और अप्रस्तुतप्रशंसा

इन दोनों के उदाहरणों के विषय में आचार्यों का मतभेद है। जैसे—

जीते सुभावहि बोद्धन कौं हिय तेरे अहो करुना अति छाई,
अंबुधि, तोहि समान अरे उपकारक और न कोउ लखाई,
प्यासन कौं करिबो जु निरास मरुस्थल ये जग लीन्ह बड़ाई,
भार उठावन में तिहि कौं तू सहायक होइ रह्यौं छिति मांई ॥३६९॥

इसमें समुद्र की स्तुति के बहाने से ऐसे धनाढ्य व्यक्ति की निन्दा की गई है—जिसके धन से किसी को लाभ न होता हो। अर्थात् किसी अन्य व्यक्ति की स्तुति के बहाने किसी दूसरे व्यक्ति की निन्दा की गई

है। यह जिस संस्कृत पद्य का अनुवाद है, उसे आचार्य मम्मट ने व्याजस्तुति के उदाहरण में लिखा है। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में और रुय्यक ने अलङ्कारसर्वस्व में भी व्याजस्तुति के ही उदाहरण में लिखा है। और कुवलयानन्द में भी निम्नाशय का उदाहरण व्याजस्तुति में लिखा है।

धन-अंधन के मुख कौं न लखै करि चाटुता झूठ न बोलतु है,
न सुनै अति गर्व-गिरा उनकी करि आस भग्यो नहिं डोलतु है,
मृदु-खाय समे पै हरे तृन औ जब नींद लगे सुख सोवतु है,
धन रे मृग मित्र! बताय हमें तप कीन्हों कहा जिहिं भोगतु है ॥३७०॥

इसमें भी मृग की स्तुति के बहाने से किसी दुखी राजसेवक की निन्दा की गई है। किन्तु कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित में—'जीते सुभावहि बौद्धन कौं···' इस पद्य में अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार बतलाया है। कुन्तक ने कहा है कि इसमें समुद्र का वर्णन अप्रासङ्गिक (अप्रस्तुत) है, और धनाढ्य व्यक्ति की निन्दा प्रस्तुत है, अतः अप्रस्तुतप्रशंसा प्रधान है—न कि व्याजस्तुति। और—'धन-अंधन के मुख कौं···' के भावार्थ वाले पद्य को दण्डी ने भी अप्रस्तुतप्रशंसा के उदाहरण में ही लिखा है। पण्डितराज भी ऐसे उदाहरणों में अप्रस्तुत-प्रशंसा ही मानते हैं। उनका मत है कि व्याजस्तुति वहीं मानी जा सकती है, जहाँ जिस व्यक्ति की स्तुति या निन्दा की जाय, उसी व्यक्ति की स्तुति के बहाने से निन्दा और निन्दा के बहाने से स्तुति की जाय। किन्तु 'धन-अंधन के मुख······' में प्रथम की गई मृग की स्तुति ही बनी रहती है, मृग की निन्दा व्यक्त नहीं होती, अतः यह अप्रस्तुतप्रशंसा का ही विषय है, न कि व्याजस्तुति का। किन्तु हमारे विचार में ऐसे वर्णनों में व्याजस्तुति का चमत्कार प्रधान रहता है, अतः व्याजस्तुति ही माना जाना युक्तियुक्त[1] है।

---

१ देखो काव्यप्रकाश की उद्योत व्याख्या

(३४) आक्षेप अलंकार

'आक्षेप' शब्द अनेकार्थी है। यहाँ आक्षेप का अर्थ निषेध है। निषेधात्मक चमत्कार की प्रधानता के कारण इस अलंकार का नाम आक्षेप है।

आक्षेप में कहीं निषेध का और कहीं विधि का आभास होता है। अतः आक्षेप अलंकार तीन प्रकार का होता है।

प्रथम आक्षेप

विवक्षित[1] अर्थ का निषेध सा किये जाने को प्रथम आक्षेप अलंकार कहते हैं।

अर्थात् वास्तव में निषेध न होकर निषेध का आभास होना। इसके भेद इस प्रकार हैं—

(१) विवक्षित अर्थ का वक्ष्यमाण (आगे को कहे जाने वाले) विषय में, अवक्तव्यता (नहीं कहने योग्य) रूप विशेष [2] कहने की इच्छा से निषेध का आभास होना। इसमें भी कहीं तो सामान्य रूप से सूचित की हुई सारी बात का निषेधाभास होता है और कहीं एक अंश कह कर दूसरे अंश का निषेधाभास होता है।

(२) विवक्षित अर्थ का उक्त-विषय में (कही हुई बात में) अति प्रसिद्धता रूप विशेष कहने की इच्छा से निषेधाभास होना। इसमें कहीं वस्तु के स्वरूप का और कहीं कही हुई बात का निषेधाभास होता है।

वक्ष्यमाण-निषेधाभास—

रे खल! तेरे चरित ये कहि हौं सबहिं सुनाय,
अथवा कहिबो हत-कथा उचित न मोहि जनाय ॥३७१॥

---

१ जो बात कहने के लिये अभीष्ट हो उसको विवक्षित अर्थ कहते हैं।
२ किसी खास बात को सूचित करने के लिये।

यहाँ नीचव्यक्ति का चरित्र जो कहना अभीष्ट है वह वक्ष्यमाण है कहा नहीं गया है, 'कहि हों' पद से भावि कथनीय है। उसका चौथे चरण में जो निषेध है यह 'खल-चरित्र का कहना भी पाप है' इस विशेष-कथन की इच्छा से है, अतः निषेध का आभासमात्र है। यहाँ सूचित की हुई बात का निषेध है।

खिली देखि नव-मालती बिरह-विकल वह बाल,
अथवा कहिबे में कथा कहा लाभ इहिं काल ॥३७२॥

विरह-निवेदना-दूती की नायक के प्रति उक्ति है। 'वह तुम्हारे वियोग में मर जायगी' यह कहना अभीष्ट है, किन्तु यह वाक्यांश कहा नहीं है, उत्तरार्द्ध में जो निषेध है वह नायिका की इस वर्णनातीत अवस्था का सूचन करने के लिये निषेध का आभास है।

उक्त-विषय में स्वरूप का निषेधाभास—

लाल नहीं दूतीपनो करिबो मेरो काम,
तुम्हैं वृथा लगि है अजस मरिजै है वह बाम ॥३७३॥

नायक के प्रति दूती की इस उक्ति में उक्त विषय में स्वरूप के निषेध का आभास है, क्योंकि उत्तरार्द्ध के वाक्य में नायिका की विरहावस्था का सूचन करने का दूत-कार्य करती हुई भी वह अपने दूती पने के स्वरूप को पूर्वार्द्ध में निषेध करती है। और यह निषेध नायिका के दुःख की अधिकता कहने की इच्छा से किया है।

उक्त-विषय में कही हुई बात का निषेधाभास—

चंदन चंद्रक चंद्रिका चंद-कांत-मनि हार,
हौं न कहौं सब होय ये ताकौ दाहन-हार ॥३७४॥

विरह-ताप-सूचन करना विवक्षित है, जिसका चौथे पाद में कथन करके भी 'हौं न कहौं' पद से जो निषेध है वह निषेधाभास है। यह निषेध, ताप की अधिकता रूप विशेष कथन के लिये, किया गया है।

द्वितीय आक्षेप

पक्षान्तर ग्रहण करके कथित अर्थ (कही हुई बात) का निषेध किये जाने को द्वितीय आक्षेप कहते हैं ।

कुरु-वृद्ध कौं युद्ध के धर्म विरुद्ध हते जु सिखंडि हि कै समुहानी,
गुरु द्रौन हू मौन ह्वै सस्त्र तजै सुत-धर्म अहो ! जब झूठ बखानी,
छल ही सौं हत्यो न कहा ? अब मोहि कहै दुरजोधन ये जग जानी,
तुम केसव ! तथ्य कहौ न कहौ, चलि है न कहा यह सत्य कहानी॥३७५

गदा के प्रहार से भूमि पर गिरे हुए दुर्योधन की श्रीकृष्ण के प्रति उक्ति है । दुर्योधन ने 'चलि है न कहा जग सत्य कहानी' यह पक्षान्तर ग्रहण करके 'न कहौ' पद से निषेध किया है।

"छोड़-छोड़ फूल मत तोड़ आली ! देख मेरा—
हाथ लगते ही यह कैसे कुम्हिलाये हैं ।
कितना विनाश निज क्षणिक विनोद में हैं,
दु:खिनी लता के लाल आँसुओं से छाये हैं ।
किंतु नहीं चुनले तू खिले-खिले फूल सब,
रूप गुण गंध से जो तेरे मन भाये हैं ।
जाये नहीं लाल लतिका ने झड़ने के लिये;
गौरव के संग चढ़ने के लिये जाये हैं ॥"३७६॥[५०]

उर्मिला ने पूर्वार्द्ध में फूल तोड़ने का निषेध करके उत्तरार्द्ध में पक्षान्तर ग्रहण करके तोड़ने को कहा है ।

आक्षेप के इस दूसरे भेद में वस्तुतः निषेध है । आक्षेप का यह भेद कुवलयानन्द में लिखा है। किन्तु अग्निपुराण के अनुसार ध्वनिकार, भामह, उद्भट, मम्मट, रुय्यक और विश्वनाथ ने निषेध के आभास में ही आक्षेप अलङ्कार माना है—वास्तव निषेध में नहीं । सर्वस्वकार ने[1]

१ देखिये अलङ्कारसर्वस्व-विमर्शिनी पृ० ११८।

वास्तव निषेध में आक्षेप अलंकार का खण्डन भी किया है। पण्डितराज का मत है कि वास्तव निषेध में भी आक्षेप अलंकार माने जाने में कोई आपत्ति नहीं।

तृतीय आक्षेप

बिशेष कथन की इच्छा से अनिष्ट में सम्मति के आभास होने को तृतीय आक्षेप अलङ्कार कहते हैं।

अर्थात् विधि का आभास होना।

"जाहु जाहु परदेस पिय! मोहि न कछु दुख भीर,
लहहुँ ईस ते बिनय करि मैं हू वहाँ सरीर ॥"३७७॥

विदेश जाने को उद्यत नायक के प्रति नायिका की इस उक्ति में 'जाहु जाहु' पद से विदेश-गमन रूप अनिष्ट की जो सम्मति है वह सम्मति का आभास मात्र है क्योंकि 'आपके वियोग में मैं न जी सकूँगी' यह विशेष-अर्थ उत्तरार्द्ध में सूचित किया गया है। आक्षेप का यह भेद काव्यादर्श में 'अनुज्ञाक्षेप' नाम से कहा गया है।

"मानु करत बरजति न हौं उलटि दिवावत सौंह,
करी रिसौंही जायगी? सहज हँसौंही भौंह ॥"३७८॥[४३]

मानिनी नायिका को मान करने के लिये पूर्वार्द्ध में जो सखी कह रही है, वह आभासमात्र है। क्योंकि सखी के—'क्या तुमसे अपनी हँसोंहीं भौं हैं रिसोहीं की जा सकेंगी? 'इस कथन के द्वारा मान का निषेध ही सूचित होता है।

———

(३५) विरोध या विरोधाभास अलङ्कार

वस्तुतः विरोध न होने पर भी विरोध के आभास के वर्णन को 'विरोध' अलङ्कार कहते हैं।

विरोधाभास का अर्थ है, विरोध का आभास। वास्तव विरोधात्मक वर्णन में दोष होने के कारण विरोध अलंकार में विरोध का आभास होता है, अर्थात् विरोध न होने पर भी विरोध जैसा प्रतीत होता है। इस अलंकार में जिन पदार्थों का एक अधिकरण (एक स्थान) में होने में विरोध हो उनका एक अधिकरण में होना कहा जाता है। जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य का परस्पर एक का दूसरे के साथ विरोधाभास होने में दश भेद होते हैं—

इनके कुछ उदाहरण—

दव सम नव-किसलय लगत अब ह्वै लगत मृनाल,
लाल! भयो वा बाल को विरह-विकल यह हाल ॥२७६॥

शीतल स्वभाव वाले मृनाल आदि पुष्प जाति को अग्नि के समान ताप-कारक कहने में विरोध प्रतीत होता है, पर वियोग में वे दाहक ही होते हैं, अतः विरोध का आभास है। यहाँ पुष्प जाति से ताप जाति का विरोध है।

सरद की रैन दैन आनँद के साज सबै,
सोभित सु मंदिर सो स्वच्छ अवरेख्यो आज।
तामें गिरिराज कुञ्ज-गली ह्व इकोर बनी,
तहाँ रास-मंडल सिंगार सित लेख्यो आज।
कुंडल के ऊपर तें श्री-मुख विलोकबे कों,
ढरक्यो स-नाल कौल कीट तरै पेख्यो आज।

झांकी द्वारकेश की निहारि के अचेतन से,
चेतन अचेतन हू चेतन-भो देख्यो आज[१] ॥३८०॥

यहाँ चेतन मनुष्य जाति का अचेतन क्रिया के साथ और अचेतन कमल जाति का चेतन क्रिया के साथ विरोध है, श्रीप्रभु की महिमा से उसका परिहार है।

"मोरपखा 'मतिराम' किरीट में कंठ बनी बनमाल सुहाई,
मोहन की मुसकान मनोहर कुंडल डोलिन में छबि छाई,
लोचन लोल विसाल विलोकनि को न विलोकि भयो बस माई,
वा मुख की मधुराई कहा कहौं मीठी लगै अँखियान लुनाई ॥"३८१॥[४८]

यहाँ 'लुनाई' गुण का मधुर गुण के साथ विरोध का आभास है।

"या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोइ,
ज्यों ज्यों बूडै स्याम रँग त्यों त्यों उज्ज्वल होइ ॥"३८२॥[४९]

यहाँ श्याम-रंग 'गुण' द्वारा उज्वल-रंग 'गुण' के उत्पन्न होने में विरोध है, किन्तु श्लेष द्वारा श्याम का अर्थ श्याम रंग के श्रीकृष्ण, हो जाने पर विरोध हट जाता है। यहाँ गुण का गुण के साथ विरोधा-भास है।

मृदुल मधुर हू खल-वचन दाहक होतु विसेस,
जदपि कठिन तउ सुख-करन सजन बचन हमेस ॥३८३॥

यहाँ 'मृदुल' गुण का 'दाह'-क्रिया के साथ और 'कठिन'-गुण का 'सुख करन' क्रिया के साथ विरोधाभास है।

---

१ मथुरा में विराजमान महाराज द्वारिकाधीश के शारदोत्सव के समय कुण्डल के ऊपर शृंगाररूप में शोभित कमल, मुकुट के आगे स्वतः ही आ गया था, उसी अनुपम दृश्य का वर्णन मेरे मित्र स्वर्गीय राजा सेठ लक्ष्मणदासजी के प्रेमावरोध से इसमें किया गया है।

बातें सरोस कवौं कहिकै हित सों कबहू समुझाइबो तेरो,
मेरे घने अपराधन कौं बहु व्योंत बनाइ दुराइबो तेरो,
कोह किये कपटी 'हरिऔध' के रंचक हू न रिसाइबो तेरो,
मारिबो पी को न सालत है पर सालत सौंत ! बचाइबो तेरो ॥"३८४॥[१]

यहाँ, चौथे चरण में 'मारिबो' क्रिया का 'न सालत' क्रिया के साथ और 'बचाइबो' क्रिया का 'सालत' क्रिया के साथ विरोधाभास है।

जाते ऊपर को अहो ! उतर के नीचे जहाँ से कृती,
है पैडी हरि की अलौकिक जहाँ ऐसी विचित्राकृती,
देखो ? भू गिरती हुई सगरजों को स्वर्गगामी किये,
स्वर्गारोहण मार्ग जो कि इनके क्या हैं अनोखे नये ॥३८५॥

हरिद्वार की हरि की पैडियों का वर्णन है। नीचे उतरने की क्रिया से ऊपर चढने की (स्वर्गलोक-प्राप्ति की) क्रिया के साथ विरोध है पर यहाँ हरि की पैडियों द्वारा नीचे उतर कर श्रीगंगा-स्नान करने का तात्पर्य होने के कारण वास्तव में विरोध नहीं रहता है।

कुछ आचार्यों का मत है कि 'अपि' 'तऊ' 'पर' आदि विरोध-वाचक शब्दों के प्रयोग में शाब्द विरोध अलंकार होता है, और विरोध-वाचक शब्दों के अभाव में आर्थ विरोध होता है। जैसे—

"वंदौं मुनि-पद-कंजु[1] रामायन जिन निरमयऊ,
स-खर[2] स-कोमल मंजु दोष-रहित दूषन-सहित[3] ॥"३८६॥ [२२]

श्री रामायणी कथा को 'सखर' 'सकोमल' और 'दोष-रहित' 'दूषण-सहित' में विरोध-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होने ऐसे उदाहरणों में आर्थ विरोध होता है।

---

१ महर्षि वाल्मीकि जी के चरण।
२ कठोरतायुक्त, अथवा खर राक्षस की कथायुक्त।
३ दूषण राक्षस की कथायुक्त।

'कविप्रिया' में विरोध और विरोधाभास दो अलंकार लिखे हैं। किन्तु महाकवि केशव स्वयं इन दोनों की पृथक्ता नहीं दिखा सके हैं। उन्होंने विरोध का लक्षण अस्पष्ट लिखकर काव्यादर्श से अनुवादित—

"ऐरी मेरी सखी ! तेरी कैसे के प्रतीत कीजै।
कृसनानुसारी दृग करनानुसारी है॥"३८७॥ [७]

यह उदाहरण दिया है इसमें कृष्ण और कर्ण इन श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग द्वारा विरोध प्रदर्शित होता है पर कृष्ण का श्याम रंग और कर्ण का श्रवण (कान) श्लेषार्थ हो जाने पर विरोध का आभास रह जाता है, अतः इसमें विरोधाभास ही है, वास्तव विरोध नहीं। और—

"आपु सितासित रूप चितै चित श्याम सरीर रंगै रंग रातैं,
'केसव' कानन-हीन सुनै सु कहै रस की रसना बिन बातैं,
नैन किधौं कोउ अंतरजामी री ! जानति नांहिन बूझति यातैं,
दूर लौं दौरत हैं बिन पाँयन दूर दुरी दरसैं मति जातैं॥"३८८॥ [७]

इस दूसरे उदाहरण में कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति कहे जाने के कारण प्रथम विभावना है, न कि विरोध।

(३६) विभावना अलङ्कार

प्रसिद्ध कारण के अभाव में भी कार्य उत्पन्न होने के वर्णन को प्रथम विभावना कहते हैं।

'विभावना' का अर्थ कारणान्तर (अन्य कारण) की कल्पना किया जाना है[1]। अर्थात् कारण के न होने पर कार्य का होना असंभव

---

१ विभावयति कारणान्तरमिति विभावना।

है, अतः प्रसिद्ध कारण के अभाव में जिस कार्य का होना कहा जाता है, उसका अन्य कारण कल्पना किया जाता है, जिससे वह असम्भवता दूर हो जाती है।

उदाहरण—

करतु बिदारन सस्त्र बिन युवक जनन को हीय,
हाव-भाव तरुनीन के हैं विचित्र रमनीय ॥३८६॥

विदीर्ण (चीरफाड़) करने का प्रसिद्ध कारण शस्त्र है, पर यहाँ शस्त्र के बिना ही हृदय विदीर्ण करने रूप कार्य का होना कहा गया है। अतः यहाँ विदीर्ण करने रूप कार्य का अन्य कारण—तरुणियों के रमणीय हाव-भावोंकी कल्पना की गई है।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि विभावना अलङ्कार के मूलमें अभेद अध्यवसाय[१] रहता है। जैसा कि पूर्वोक्त 'रूपकातिशयोक्ति' और 'रूपक' में होता है। अतः विभावना में, कारण के अभाव में जिस कार्य का होना कहा जाता है, उस कार्य के वर्णन में बहुधा तो रूपकातिशयोक्ति अनिवार्य रूपसे रहती है, और कहीं-कहीं रूपक भी। जैसे ऊपर के उदाहरण में शस्त्र रूप कारण के अभाव में युवकों का हृदय विदीर्ण होने रूप कार्य का होना कहा गया है, पर यहाँ कवि का अभिप्राय युवकों का हृदय कामजनित पीड़ा से व्याकुल होना कहने का है। किंतु वह—काम-जनित पीड़ा से व्याकुल होना—न कहकर काम-जनित पीड़ा में (जो आरोप का विषय है उसमें) विदीर्ण होने का (जो आरोप्यमाण है उसका) अध्यवसाय किया गया है। अध्यवसाय के बिना विभावना अलङ्कार बन ही नहीं सकता। जैसे—

---

१ अभेद अध्यवसाय का अर्थ यह है कि आरोप के विषय को न कह कर केवल आरोप्यमाण का ही कहा जाना। इसका स्पष्टीकरण पूर्वोक्त रूपक और अतिशयोक्ति अलङ्कार में किया गया है।

लुब्धक धींवर पिसुन जन करहिं अकारन बैर ।

यहाँ कारण के अभाव में 'वैर' रूप कार्य का होना कहा गया है, पर अभेद अध्यवसाय न होने के कारण कुछ चमत्कार नहीं होने से विभावना नहीं है । और चमत्कार के बिना आलङ्कारिक आचार्य किसी अलङ्कार को नहीं मानते । इसी प्रकार—

दुरजन बिन अपराध हू बैर करतु जग माँहि ।

इसमें भी कुछ चमत्कार नहीं—सीधा-साधा वर्णन है । वैर रूप कार्य में किसी का अभेद अध्यवसाय नहीं किया गया, अतः विभावना अलङ्कार नहीं । और—

खल जन बिनु अपराध हू दहन करहि संसार ।

यहाँ दुःख देने रूप कार्य में तो दहन करने का अभेद अध्यवसाय किया गया है, अर्थात् दुःख देना न कह कर दहन करना कहा गया है, किन्तु दहन करने के कारण 'अपराध' का निषेध किया गया है; जो दहन करने का असली कारण नहीं है—असली कारण तो अग्नि है, जिसका निषेध किया नहीं गया है । किन्तु विभावना अलङ्कार वहाँ होता है, जहाँ जिस कार्य रूप आरोप के विषय में जिस आरोप्यमाण का (जिसका आरोप किया जाय उसीका) अभेद अध्यवसाय किया जाय । अतः यहाँ भी अलङ्कार नहीं । विभावना तो—

दुरजन, बिन ही दहन के दहन करत संसार ।

ऐसे वर्णनों में ही होती है । क्योंकि यहाँ जिस दुःख देने रूप कार्य में दहन करने का अभेद अध्यवसाय किया गया है, उसी के (दहन करने के) असली कारण दहन (अग्नि) का निषेध किया गया है ।

विद्याभास्कर पण्डित परमानन्द जी शास्त्री साहित्याचार्य ने अपने 'काव्यसर्वस्व', में विभावना के उदाहरण में जयद्रथ-बध के—

"हैं नीच ये सब शूर पर आचार्य तुम आचार्य हो,
वर वीर विद्या-विज्ञ मेरे तात-शिक्षक आर्य हो,
फिर आज इनके साथ तुमसे हो रहा जो कर्म है,
मैं पूछता हूँ, वीर का रण में यही क्या धर्म है ॥"२६०॥[५०]

इस पद्य को लिखकर कहा है "इसमें अतिशयोक्ति की गन्ध भी नहीं है।" हाँ, इसमें अतिशयोक्ति की गन्ध नहीं है। किंतु इसमें विभावना अलंकार की भी गन्ध नहीं है[1]। इसमें तो अभिमन्यु द्वारा द्रोणाचार्य को उपालम्भ मात्र है, जोकि वास्तविक वर्णन है। निष्कर्ष यह कि अभेद अध्यवसाय के बिना विभावना का चमत्कार आ ही नहीं सकता, जैसा कि ऊपर के उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

विभावना और पूर्वोक्त विरोधाभास में यह भेद है कि विभावना में 'कारण के अभाव में कार्य का होना' केवल इतना ही विरोधात्मक वर्णन होता है—कारण-कार्य का परस्पर में विरोध नहीं होता। किन्तु विरोधाभास में ऐसी दो वस्तुओं का—जिनमें परस्पर कारण-कार्य का सम्बन्ध, बुद्धि का विषय नहीं, वर्णन किया जाता है[2]।

"जेते एंडदार दरबार सरदार सब—
ऊपर प्रताप दिल्लीपति को अभंग भो।
'मतिराम' कहै तरवार के कसैया केते,
गाडर से मूँड़े जग हाँसी को प्रसंग भो।
सरजन-सुत रन लाज रखवारो एक,
भोज ही तैं साह को हुकुम-पन भंग भो।
मूछन सौं राव-मुख लाल रंग देखि, मुख—
औरन को मूछन बिना ही स्याम रंग भो ॥"२६१॥[४८]

---

१ देखिये, हमारा नवीन ग्रन्थ 'साहित्य समीक्षा'।
२ देखिये, रसगंगाधर 'विरोध' प्रकरण।

मूँछों के होने से मुख पर श्यामता दीख पड़ती है। यहाँ मुगल बादशाह के हुक्म से मूँछ मुड़वा डालने वाले अन्य राजाओं के मुखों को मूँछों के मुँडा लेने पर मूँछों के बिना ही अर्थात् मुख पर श्यामता होने के कारण के बिना ही (लज्जा के कारण) श्याम होना कहा गया है। यहाँ लज्जित होने रूप कार्य में श्यामता का अभेद अध्यवसाय किया गया है और उन राजाओं के काले मुख होने का कारण-निमित्त—बूँदी-नरेश भोजराज के मुख पर मूँछों का होना कारणान्तर कल्पना करके कहा गया है—

"रहति सदाई हरियाई हिय घायनि में,
ऊरध उसास सो झकोर पुरबा की है।
पीव पीव गोपी पीर-पूरित पुकारति हैं,
सोई 'रतनाकर' पुकार पपिहा की है।
लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ उठै,
चित में चमक सो चमक चपला की है।
बिनु घनस्याम धाम धाम ब्रज-मंडल में;
ऊधो! नित बसति बहार बरसा की है॥"३६२॥[१७]

यहाँ घनश्याम (मेघ रूप कारण के) बिना ही बरसा रूप कार्य का होना कहा गया है। 'घनस्याम' शब्द श्लिष्ट है—इसके मेघ और श्रीकृष्ण दो अर्थ हैं। ब्रज में नित्य बरसा के होने का कारण ऊपर के तीनों चरणों में कारणान्तर कल्पना करके कहा गया है। यहाँ वियोग-जनित अश्रु धाराओं में रूपक द्वारा बरसा का अभेद अध्यवसाय किया गया है।

"ओठ सुरंग अनूपम सोहैं सुभाव ही बीरिओ बाल न खाई,
भूषन हू बिन भूषित देह सुअंजन हू बिन नैन निकाई,
रूप की रासि विलासमई इक गोपकुमारि बनी छबिछाई,
जावक दीन्हें बिनाहू अली! झलके यह पाइन में अरुनाई॥"३६३॥

अधर के रक्त होने का कारण पान का खाना और शरीर के भूषित होने आदि के कारण भूषण धारण करना आदि होते हैं। यहाँ इन कारणों के बिना ही रक्त होना आदि कार्य कहे गये हैं।

काव्यप्रकाश आदि में यही एक भेद विभावना का है। अप्पय्य दीक्षित ने विभावना के और भी पाँच भेद कुवलयानन्द में लिखे हैं। वास्तव में ये पाँचों भेद भी प्रथम विभावना के अन्तर्गत ही है[1]। वे पाँचों भेद इस प्रकार हैं—

द्वितीय विभावना

कारण के असमग्र (अपूर्ण) होने पर भी कार्य की उत्पत्ति के वर्णन को द्वितीय विभावना कहते हैं।

"तिय ! कत कमनैती[2] सिखी बिन जिह[3] भौंह कमान,
चल-चित बेधत चुकत नहिं बंक-बिलोकन बान ॥"२९४॥ [४३]

धनुष को रस्सी से खैंच कर सीधे बाणों से निशाना मारा जाता है, अतः धनुष में रस्सी का न होना और बाणों में टेढ़ापन होना अपूर्णता है। यहाँ रस्सी-रहित भृकुटी रूप धनुष और कटाक्ष रूपी टेढ़े बाण इन दोनों अपूर्ण कारणों से ही चंचल-चित्त का बेधन करने रूप कार्य का होना कहा गया है।

आचार्य दण्डी ने काव्यादर्श में असमग्र कारण द्वारा कार्य होने के वर्णन में 'विशेषोक्ति' अलंकार लिखा है। किन्तु असमग्र कारण का होना भी कारण के अभाव में कार्य का होना समझ कर इसे कुवलयानन्द में विभावना का ही भेद माना है।

---

१ देखिये काव्यादर्श कुसुमप्रतिमा टीका विशेषोक्ति-प्रकरण। और रसगंगाधर विभावना-प्रकरण।

२ धनुष-विद्या। ३ धनुष की प्रत्यंचा-रस्सी।

तीसरी विभावना

प्रतिबन्धक होने पर भी कार्य की उत्पत्ति कथन करने को तीसरी विभावना कहते हैं।

अर्थात् कार्य का बाधक[1] होने पर भी कार्य का उत्पन्न होना।

तेरे प्रताप-रवि का नृप ! तेज जो कि—
लोकातिरिक्त सुविचित्र चरित्र, क्योंकि—
जो है अछत्र उनका यह ताप-हारी,
हैं छत्र-धारित उन्हें अति ताप-कारी ॥३९५॥

छाते से सूर्य का ताप रुक जाता है। यहाँ राजा के प्रताप रूपी सूर्य द्वारा छत्र को धारण करने वालों को (छत्रधारी शत्रु राजाओं को) छाते रूप बाधक-कारण होने पर भी सन्तापित होना कहा गया है।

"तुव बेनी-व्याली रहे बांधी गुनन्ह बनाइ,
तऊ वाम व्रज-चंद कों बदाबदी डसिजाइ ॥"३९६॥ [४६]

वेणी रूप सर्पिणी का गुणों (श्लेषार्थ—डोरों) से बँधी हुई होना डंक मारने का प्रतिबन्धक है। फिर भी उसके द्वारा डसने रूप कार्य का किया जाना कहा गया है।

चौथी विभावना

अकारण से कार्य उत्पन्न होने के वर्णन को चौथी विभावना कहते हैं।

अर्थात् जिस कारण से कार्य उत्पन्न होना चाहिये उस कारण के बिना दूसरे कारण द्वारा कार्य होना।

---

१ रोकने वाला।

आवतु है तिल- फूल तें मलय-सुगंध-समीर,
इन्दीवर-दल जुगल तें निकरतु तीच्छन तीर ॥२६७॥

न तो मलय सुगन्धित वायु के आने का कारण तिलका पुष्प हो सकता है और न बाणों के निकलने का (उत्पन्न होने का) कारण कमलदल ही। किन्तु यहाँ इन दोनों अकारणों द्वारा इन दोनों कार्यों का उत्पन्न होना कहा गया है[1]। 'उद्योत' कर नागेश का कहना है कि ऐसे वर्णनों में विरोधाभास अलङ्कार है, न कि विभावना। क्योंकि यहाँ तिल और मलयमारुत तथा इन्दीवर और तीक्ष्ण बाण का परस्पर विरोध है, अतः ऐसे वर्णनों में विरोधाभास होता है। किन्तु यहाँ कार्यकारण-भाव स्पष्ट कहा जाने के कारण पण्डितराज के मत में विभावना ही है[2]।

पंचम विभावना

विरुद्ध कारण द्वारा कार्य की उत्पत्ति होने का वर्णन को पाँचवी विभावना कहते हैं।

"पाहन पाहन तें कढ़ै पावक वेहूँ कहूँ यह बात फबैसी,
काठहु काठ सों झूठो न पाठ प्रतीत परै जग जाहिर जैसी,
मोहन-पानिप केसरसे रस रंग की राधे तरंगिनि ऐसी,
'दास' दुहूँ की लगालगी में उपजी यह दारुन आगि अनैसी॥"२६८॥[४६]

यहाँ पानी से अग्नि लगना विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति है।

करहुँ हतन जग कौं भलौ अविबेकी कुच-द्वंद,
श्रुति-संगी इन दृगन कौं उचित न करन निकंद ॥२६९॥

---

१ यहाँ कवि का तात्पर्य तिलफूल कहने का नायिका की नासिका से और कमल दल कहने का नायिका के नेत्रों से है।

२ कार्यकारणादिबुद्ध्यनालीढो विरोधाभासो विरोधालङ्कारः। तदालीढस्तु विभावनादिः। —रसगंगाधर विरोध-प्रकरण।

श्रुति के समीप रहने वाले (कानों के समीप श्लेषार्थ—वेद की श्रुतियों के साथ रहने वाले) नेत्रों द्वारा दूसरों को पीड़ा देने का कार्य विरुद्ध है, क्योंकि श्रुति का संग करने वाले को दूसरे का हित करना उचित है, न कि पीड़ा। यहाँ श्लेष मिश्रित है।

छठी विभावना

कार्य द्वारा कारण उत्पन्न होने के वर्णन को छठी विभावना कहते हैं।

ललन-चलन की बात सुनि दहक-दहक हिय जात,
दृग-सरोज से निकसि अलि! सलिल-प्रवाह बहात ॥४००॥

जल से उत्पन्न होने से कमल का कारण जल है, किन्तु यहाँ दृग-सरोजों से जल के प्रवाह का उत्पन्न होना अर्थात् कार्य से कारण का उत्पन्न होना कहा गया है। विभावना के इस भेद में भी परस्पर विरोधी वस्तुओं का वर्णन होने से खगेश 'विरोधाभास' अलङ्कार ही बतलाते हैं, किन्तु यहाँ भी कार्य-कारण भाव स्पष्ट होने के कारण पण्डितराज के मत में विभावना ही है।

भारतीभूषण में विभावना का सामान्य लक्षण यह लिखा है कि "जहाँ कारण और कार्य के सम्बन्ध का किसी विचित्रता से वर्णन हो!" (पृ० २२२) किन्तु इस लक्षण में अतिव्याप्ति-दोष है, क्योंकि कारणातिशयोक्ति और असंगति और विशेषोक्ति आदि में भी कारण और कार्य्य का विचित्र सम्बन्ध वर्णन होता है।

(३७) विशेषोक्ति अलङ्कार

अखण्ड-कारण के होते हुए भी कार्य न होने के वर्णन को विशेषोक्ति कहते हैं।

'विशेषोक्ति' पद 'वि' 'शेष' और 'उक्ति' से बना है। 'वि' उपसर्ग का अर्थ 'गत' है और 'शेष' का अर्थ यहाँ 'कार्य' है। न्याय-सूत्र के भाष्यकार श्रीवात्स्यायन ने 'शेषवत्' ऐसा अनुमान का प्रभेद कहकर कार्य से कारण का उदाहरण दिया है। अतः विशेषोक्ति का शब्दार्थ यह है कि गत हो गया है कार्य जिसका ऐसे कारण की उक्ति अर्थात् कारण होते हुए कार्य का न होना कहा जाना। उद्योतकार ने विशेषोक्ति का अर्थ यह लिया है कि कुछ विशेष (खास) बात के प्रतिपादन के लिये उक्ति होना[1]।

'विभावना' में कारण के बिना कार्य उत्पन्न होना कहा जाता है और इसमें कारण के होने पर भी कार्य का न होना कहा जाता है। इन दोनों में यद्यपि यह भेद स्पष्ट है। फिर भी जहाँ कारण का निषेध शब्द द्वारा स्पष्ट किया गया हो, वहाँ विभावना होने का, और जहाँ कारण के होने पर भी कार्य होने का निषेध शब्द द्वारा स्पष्ट कहा गया हो, वहाँ विशेषोक्ति होने का निश्चय हो सकता है। किन्तु जहाँ इनका निषेध शब्द द्वारा स्पष्ट नहीं किया गया हो, वहाँ विभावना और विशेषोक्ति इन दोनों में कौन-सा अलङ्कार है, वह निर्णय नहीं हो सकता। यह तीन प्रकार की होती हैं—

(१) अनुक्त निमित्ता। अर्थात् कार्य के उत्पन्न न होने का निमित्त (कारण) न कहा जाना।

(२) उक्त-निमित्ता। अर्थात् कार्य के उत्पन्न न होने का निमित्त (कारण) कहा जाना।

(३) अचिन्त्य-निमित्ता। अर्थात् कार्य उत्पन्न न होने का निमित्त अचिन्त्य होना।

---

१ द् 'किञ्चिविशेषं प्रतिपादयितुमुक्तिः।'

अनुक्त-निमित्ता—

रसीली मीठी है 'सुमधुर सुधा के रस मिली,
नसीली भी देखो प्रमुदित हमारी मति छली,
रुची से पी भी ली तदपि न पिपासा शमन हो,
तुम्हारी कैसी ये सरस-कविता है नव अहो!' ॥४०१॥

तृषा मिटाने का कारण तृप्ति-पूर्वक पान करना है। यहाँ रुचि-पूर्वक पी लेने पर भी तृषा का शान्त न होना कहा गया है। और उसका कारण कहा नहीं गया है।

"नाभि सरोवर औ त्रिवली की तरंगिन पैरति ही दिन राति है,
बूड़ी रहै तन पानिय ही में नहीं बनमालहु तें बिलगाति है,
'दासजू' प्यासी नई अँखियाँ घनस्याम बिलोकति ही अकुलाति है,
पीबो करै अधरामृतहू कों तऊ इनकी सखि! प्यास न जाति है।" ४०२॥[४६]

यहाँ प्यास मिटने के कारणभूत अधरामृतका पान किये जाने पर भी प्यास न मिटना कहा गया है और उसका निमित्त नहीं किया गया है, अतः अनुक्तनिमित्ता है।

उक्तनिमित्ता—

अगनित जन नित मृत्यु-मुख प्रतिछिन परत हु जोई,
राग-अंध-नरकौं तऊ विषय-विराग न होइ ॥४०३॥

'सर्वदा जगत को मृत्यु-मुख में प्रवेश करते हुए देखना' विषयों से विरक्त होने का कारण होने पर भी विरक्त होने रूप कार्य का न होना कहा गया है। उसका निमित्त चित्त का रागान्ध होना कहा गया है।

"अली! मान-अहि के डसैं हरि-कर झार्यो नेह,
तऊ क्रोध-विष ना छुट्यो अब छूटत है देह॥" ४०४॥

कलहान्तरिता नायिका की सखी के प्रति उक्ति है। श्रीकृष्ण द्वारा प्रेम रूप झाड़े से झाड़ने पर भी मान रूप सर्प का विष न उतरना कहा गया है।

अचिन्त्य-निमित्ता—

कदन कियो हर मदन-तन तऊ, न भयो बल छीन,
इकलो ही वह करत है त्रिभुवन निज आधीन[1] ॥४०५॥

यहाँ कामदेव के शरीर का नाश होने रूप कारण के होने पर भी उसके बल का नाश न होना कहा गया है। और इस बल-नाश के नहीं किये जाने का कारण अज्ञात होने से अचिन्त्य है।

यद्यपि अनुक्त-निमित्ता और अचिन्त्य-निमित्ता 'विशेषोक्ति' में कार्य के अभाव का निमित्त कहा नहीं जाता है—व्यंग्य रहता है। पर इसमें उस व्यंग्यार्थ के ज्ञान से चमत्कार नहीं, किन्तु कारण द्वारा कार्य के उत्पन्न न होने रूप वाच्यार्थ ही में चमत्कार है अर्थात् वाच्यार्थ ही प्रधान है, अतः 'ध्वनि' नहीं।

(३८) असम्भव अलङ्कार

किसी अर्थ की सिद्धि की असम्भवता का वर्णन किये जाने को 'असम्भव' अलङ्कार कहते हैं।

असम्भव का अर्थ स्पष्ट है।

गोपों से अपमान जान अपना क्रोधान्ध होके तभी—
की वर्षा व्रज इन्द्र ने सलिल से चाहा डुबाना सभी।
यों ऐसा गिरिराज आज कर से ऊँचा उठाके अहो!
जाना था किसने कि गोप-शिशु ये रक्षा करेगा कहो ॥४०६॥

गिरिराज के उठाये जाने रूप कार्य की सिद्धि की भगवान् श्रीकृष्ण को 'गोप-शिशु' कहकर 'जाना था किसने' इस कथन से असम्भवता कथन की गई है।

---

१ वियोगिनी की उक्ति है, महादेवजी ने कामदेवको भस्म भी कर दिया, तो भी उसका बल नष्ट न हुआ यह अकेला ही तीनों लोक को अपने वश में करता है।

चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में असम्भव नाम से यह अलंकार स्वतन्त्र लिखा गया है। काव्यप्रकाश और सर्वस्व में ऐसे उदाहरण 'विरोध' के अन्तर्गत दिखाये गये हैं।

"केसरि त्यों नल नील सुकंठ पहारहिं ख्याल में खोदि बहै हैं,
अंगद औ हनुमान सुखेन सही 'लछिराम' धुजा फहरै हैं,
वानर भालु कुलाहल में जल-जीव तरंग सबै दबि जै हैं,
जानै को आज महीपति राम सबै दल वारिधि बांधिके ऐहैं ॥"४०७॥[५५]

समुद्र पर सेतु बाँधने के कार्य की यहाँ 'जाने को आज.......' इस कथन द्वारा असम्भवता कही गई है।

(३९) असंगति अलंकार

असंगति का अर्थ है संगति न होना अर्थात् स्वाभाविक संगति का त्याग। असंगति अलंकार में कारण और कार्य की स्वाभाविक (नियमित) संगति का त्याग वर्णन किया जाता है।

प्रथम असंगति

विरोध के आभास सहित कार्य और कारण के एक ही काल में वैयधिकरण्य[१] वर्णन को प्रथम असंगति अलंकार कहते हैं।

कारण और कार्य एक ही स्थान पर हुआ करते हैं, जैसे—जहाँ धूँआ होता है वहाँ अग्नि होती है। किन्तु प्रथम असंगति में इस नियत संगति को त्यागकर कारण का अन्यत्र और कार्य का अन्यत्र वर्णन

१ अधिकरण का अर्थ है आश्रय अर्थात् आधार और वैयधिकरण्य का अर्थ है पृथक्-पृथक् स्थान पर होना।

किया जाता है। लक्षण में 'विरोध के आभास[1] सहित' इसलिये कहा गया है कि जहाँ विरोध के आभास के बिना कार्य और कारण का वैयधिकरण्य होता है—कारण और कार्य का भिन्न-भिन्न स्थानों में होना कहा जाता है—वहाँ यह अलङ्कार नहीं होता है। जैसे—

जौलौं यह टेढ़ी करत भौंह-चाप कमनीय,
तौलौं बान कटाक्ष सों बिंधि जावत मो हीय ॥४०८॥

यहाँ हृदय-वेधन रूप कार्य और चाप-आकर्षण रूप कारण का वैयधिकरण्य होने पर भी विरोध नहीं, क्योंकि धनुष का आकर्षण अन्यत्र और बाण का लगना अन्यत्र, यह वास्तविक वैयधिकरण्य है। इसमें विरोध का आभास नहीं, अतः ऐसे वर्णनों में यह अलङ्कार नहीं होता है।

उदाहरण—

हरत कुसुम-छबि कामिनी निज अंगन सुकुमार,
पै बेधत यह कुसुमसर युवकन हिय सर मार ॥४०९॥

पुष्प काम के बाण हैं, उनकी शोभा अपने अंग की शोभा द्वारा हरण करने का कामदेव का अपराध नायिका करती है। अतः दण्ड का कारण जो अपराध है वह नायिका में है और इस अपराध का दण्ड—कामदेव द्वारा बाण मारने का कार्य—युवा पुरुषों में कहा गया है।

असंगति के इस भेद में भी विभावना की भाँति कार्यांश में अभेद अध्यवसाय रहता है। जैसे यहाँ काम-जनित पीड़ा में बेधन करने का अभेद से आरोप किया गया है।

रमणी यह धार रही कुच-भार असह्य परंतु सताता हमें,
जघनस्थल पीन तथा इसके, गति मंद तथापि बनाता हमें,

---

१ आभास का अर्थ है—वस्तुतः विरोध न होने पर भी विरोध जैसा प्रतीत होना।

पद-कंज अलक्त[१] लगा इसके, मन रक्त हमारा लखाता हमें,
स्मर-कौतुक मित्र ! विचित्र जहाँ नहीं लौकिक नेम दिखाता हमें ॥४१०॥

यहाँ भार उठाना आदि कारण कामिनी में और असह्य होना आदि कार्य वक्ता (युवा पुरुष) में कहे गये हैं ।

"कत अवनी में जाइ अटत अठान ठानि,
परत न जान कौन कौतुक विचारे हैं ।
कहै 'रतनाकर' कमल-दल हू सौं मंजु,
मृदुल अनूपम चरन रतनारे हैं ।
धारे उर अंतर निरंतर लड़ावैं हम,
गावैं गुन बिबिध बिनोद मोद मारे हैं ।
लागत जो कंटक तिहारे पांय प्यारे ! हाय,
आइ पहिले ही हिय बेधत हमारे हैं ॥"४११॥[१७]

भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति गोपीजनों की इस उक्ति में कांटा लगाने रूप कारण भगवान् के चरण में और बेधन रूप कार्य गोपीजनों के हृदय में होना कहा गया है ।

यहाँ 'आइ पहिले' के प्रयोग द्वारा कारण के प्रथम कार्य होने में पूर्वोक्त 'कारणातिशयोक्ति' में भी है, पर यहाँ कांटा लगने रूप कारण के प्रथम बेधन रूप कार्य का होना प्रधानता से कहना अभीष्ट नहीं, किन्तु कांटा लगने रूप कारण भगवान के चरण में और उसका कार्य जो बेधन करना है, वह गोपीजनों के हृदय में होना कहा गया है । अर्थात् प्रधानता से कारण का अन्य होना और उसके कार्य का अन्यत्र होना कहा गया है । अतः अतिशयोक्ति यहाँ असङ्गति का अंग है, न कि प्रधान ।

---

१ रक्त-रंग जिसको स्त्रियाँ पैरों में लगाया करती हैं ।

विषयी नृपति कुसंग सौं पथ्य-विमुख ह्वै आपु,
करत लोक-अपवाद-जुर[१] चढ़ि सचिवन संतापु ॥४१२॥

यहाँ 'पथ्य के विमुख होना (नीतिमार्ग को छोड़ना)' यह कारण विषयी राजाओं में और 'लोक-निन्दा रूप ज्वर का ताप' यह कार्य मंत्रियों में होना कहा गया है। इसमें 'पथ्य' और 'जुर' शब्द श्लिष्ट हैं। अतः श्लेष-मिश्रित है।

असंगति का विरोधाभास से पृथक्करण—

असंगति में एकाधिकरण्य वालों का (जिनका एक स्थान पर रहना प्रसिद्ध हो उनका) वैयाधिकरण्य होता है अर्थात् भिन्न-भिन्न स्थान पर होना कहा जाता है। और 'विरोध' में वैयधिकरण्य वालों का (जिनका भिन्न-भिन्न स्थान पर रहना प्रसिद्ध हो उनका) एकाधिकरण्य होता है अर्थात् एक स्थान पर होना कहा जाता है।

'असंगति' के लक्षण में जो 'कार्य-कारण' पद है उसे एकाधिकरण्य मात्र का उपलक्षण[२] समझना चाहिये। अतएव—

दृग वाके अंजन रहित लखि सूनो मम हीय

यहाँ अंजन के अभाव में और शून्यता में उत्पाद्य-उत्पादक (कार्य कारण) भाव नहीं है—केवल एकाधिकरण्य वालों के वैयाधिकरण्य में ही असंगति है। यह भी विरोध और 'असंगति' में स्पष्ट भेद है। अन्ततः 'विरोध अलंकार के सिवा शुद्ध-विरोध का अंश तो विरोध-मूलक 'विभावना' आदि सभी अलंकारों में मिला ही रहता है। किन्तु 'असंगति' के विषय को छोड़कर अन्यत्र विरोध के आभास में 'विरोधा-

---

१ अपवाद रूपी ज्वर अर्थात् निन्दा रूप दुःख।

२ एक बात के कहने से उस प्रकार की सारी बातों का बोध कराया जाय उसे उपलक्षण समझना चाहिये।

भास' अलंकार माना जाता है। क्योंकि अपवाद (खास विषय) को छोड़ कर उत्सर्ग की (सामान्य की) अन्यत्र स्थिति हुआ करती है।

कविप्रिया में असंगति को व्यधिकरणोक्ति नाम से लिखा है।

प्राचीन ग्रन्थों में असंगति का यही एक भेद है। कुवलयानन्द में इसके और भी दो भेद लिखे हैं—

द्वितीय असंगति

अन्यन्त्र कर्त्तव्य कार्य को अन्यन्त्र किये जाने को द्वितीय असंगति अलङ्कार कहते हैं।

अर्थात् जो कार्य जिस उचित स्थान पर करने के योग्य हो उसका वहाँ न किया जाकर दूसरे स्थान पर किया जाना।

नृप! तुव अरि-रमनीन के चरित विचित्र लखाँहिं,
नयनन ढिँग कंकन लगे तिलक लगे कर माँहिं[1] ॥४१३॥

तिलक माथे पर लगाया जाता है और कंकण हाथ में धारण किया जाता है, यहाँ कंकण को नेत्रों पर और तिलक को हाथ पर लगाना कहा है।

"सांझ समै आजु नन्दजू के नव मन्दिर में,
सजनी! प्रकास लख्यो कौतुक रसाल मैं।
रंगमगे अंबर संवारि अंग भावती ने,
प्रेम सरसायो मनि भूषन बिसाल मैं।

---

१ अभिप्राय यह है कि शत्रु राजाओं की रमणियों के पति मर जाने पर वे रमणियाँ रुदन करती हुई आँसू पोंछती हैं, तब हाथ के कंकण नेत्र के समीप हो जाते हैं और सौभाग्य चिह्न—तिलक पोंछती हैं जब वह तिलक हाथ पर लग जाता है।

'सोमनाथ' मोहन सुजान दरसाने त्योंही,
रीझि अलवेली उरझानी. और हाल मैं।
मोरवारी वेसरि लै श्रवन सुजान चारु,
साजे पुनि भूलि कै करनफूल भाल मैं॥"४१४॥[६२]

यहाँ नासिका के भूषण वेसर का श्रवण पर और कर्ण फूल का ललाट पर धारण करना कहा है जो उचित स्थान से अन्यत्र है।

इस दूसरी असंगति के विषय में पण्डितराज का कहना है कि असंगति वहीं होती है, जहाँ एक ही स्थान पर होना जिनका प्रसिद्ध हो, उनका पृथक्-पृथक् स्थानों में होना कहा जाता है, यहाँ तो नेत्र और कंकण का पृथक्-पृथक् स्थानों पर होना प्रसिद्ध है, उनका एक ही स्थान पर होना कहा गया है। अतः यहाँ असंगति नहीं, विरोधाभास है। इसी प्रकार 'साँझ समै'... इसमें भी विरोधाभास ही है।

तृतीय असंगति

जिस कार्य को करने को प्रवृत्त हो उसके विरुद्ध कार्य किये जाने को तृतीय असंगति अलङ्कार कहते हैं।

"काज महा रितुराज बली के यहैं बनि आवतु है लखते ही,
जात कह्यो न कहा कहिए 'रघुनाथ' कहैं रसना इक एही,
साल रसाल तमालहि आदि दै जेतिक वृच्छलता बन जे ही,
नौ दल कीबे कोकीन्हों विचार पै कै पतझार दिए पहले ही॥"४१५॥[५१]

नवीन पत्रोत्पन्न करने को प्रवृत्त होने वाले वसन्त द्वारा पतझड़ किया जाना विरुद्ध कार्य है।

इस तीसरी असंगति के विषय में भी पण्डितराज का कहना है कि यह तो कुवलयानन्द में मानी गई पञ्चम विभावना का विषय है, जिसमें विरुद्ध कारण से कार्य उत्पन्न होना कहा जाता है। क्योंकि

वृक्ष और लतादिकों के नवीन पत्र उत्पन्न करने के लिये प्रवृत्त होने वाले बसन्त द्वारा उनका पतझड़ रूप कार्य होना विरुद्ध है। किन्तु नागेश भट्ट का कहना है कि विभावना में विरोध की निवृत्ति होने से चमत्कार होता है, यहाँ वस्तुतः विरोध है, अतः यहाँ विभावना नहीं, तीसरी असंगति ही माना जाना उचित है[1]।

असंगति के इस भेद का भाषाभूषण में—

"और काज आरंभिये औरे करिये दौर।"

यह लक्षण लिखा है। किन्तु असंगति के इस भेद में आरम्भ किये गए कार्य से विरुद्ध कार्य किया जाता है, यह बात इस लक्षण द्वारा स्पष्ट नहीं हो सकती है।

(४०) विषम अलङ्कार

विषम का अर्थ है सम न होना अर्थात् विषम घटना (अननेल सम्बन्ध) का वर्णन। यह चार प्रकार का होता है—

प्रथम विषम

परस्पर में वैधर्म्य[2] वाली वस्तुओं के सम्बन्ध को अयोग्य सूचन किये जाने को प्रथम विषम अलङ्कार कहते हैं।

"कल कंचन सो वह रंग कहाँ औ कहाँ यह मेघन सो तन कारो?
कहँ कौलकली बिकसी वह होय कहाँ तुम सोइ रहो गर डारो?

---

१ देखो रसगंगाधर और उस पर नागेश की टिप्पणी असंगति अलङ्कार-प्रकरण।

२ विरुद्ध धर्मवाली अर्थात् बेमेलवाली।

३ यथायोग्य न होना अर्थात् श्लाघनीय सम्बन्ध न होना।

नित'दासजू' ल्यावहि ल्याव कहो कछु आनो वाको न बीच विचारो?
वह कोमल गोरी किसोरी कहाँ औ कहाँ गिरिधारन पानितिहारो॥"४१६॥[४८]

यहाँ गोपांगना के गौर तथा कोमल अंग और श्रीकृष्ण के श्याम एवं कर्कश अंग परस्पर विरुद्ध-धर्म वाले हैं, उनका सम्बन्ध यहाँ 'कहाँ-कहाँ' शब्दों द्वारा अयोग्य सूचित किया गया है।

"ऊधोजू ! सुधो विचार है धौं जु कछू समुझैं हमहू ब्रजवासी,
मानि हैं जो अनुरूप कहौ 'मतिराम' भली यह बात प्रकासी,
जोग कहाँ मुनि लोगन जोग कहाँ अबला मति है चपला सी,
स्याम कहाँ अभिराम सुरूप कुरूप कहाँ वह कूबरी-दासी? ॥"४१७॥[४८]

यहाँ श्रीकृष्ण और कुब्जा का सम्बन्ध अयोग्य सूचन किया है।

द्वितीय विषम

कर्त्ता को क्रिया के फल की प्राप्ति न होकर जहाँ अनर्थ की प्राप्ति होती है वहाँ द्वितीय विषम अलङ्कार होता है।

अर्थात् कर्त्ता को अपने अभीष्ट की प्राप्ति न होकर प्रत्युत अनिष्ट की प्राप्ति होना।

"प्रिय हठ रोकन कामिनी चितई बंक-दृगंत,
चाबुक सो लगि कंत के प्रेरक भयो अतंत ॥"४१८॥[४३]

यहाँ कटाक्ष-पात द्वारा नायक का हठ (आग्रह) रुक जाने के अपने इष्ट की नायिका को अप्राप्ति ही नहीं किन्तु नायक के हठ की अधिकता हो जाने से अनिष्ट की प्राप्ति होना भी कहा गया है।

"आई भुजमूल दिये सुघर सहेलिनि पै,
बाग में अजानि जानि प्रान कछू वहरै।

कहै 'रतनाकर' पै और हू विषाद बढ्यो,
याद परै सुखद सँजोग की दुपहरैं।
धीरज जरयो औ जिय-ज्वाल अधिकानी लखि,
नीरज-निकेत स्वेत-नीर भरी लहरैं।
दन्द भई दुसह दुचन्द भई हीतल कौं,
सीतल सुगंध मंद मारुत की लहरें।"४१६॥ [१७]

यहाँ बाग में आकर वियोगिनी को चित्त बहलाने रूप इष्ट की प्राप्ति न होकर वहाँ के उद्दीपन विभावों द्वारा प्रत्युत सन्ताप होने का अनिष्ट की प्राप्ति है।

"जेहि मोहिवे काज सिँगार सज्यो तेहि देखत मोह में आइ गई,
न चितौनि चलाइ सकी उनही की चितौनि के भाय अघाय गई,
वृषभानलली की दसा यह 'दासजू' देखु ठगोरी ठगाय गई,
बरसाने गई दधि वेचन कौं तहँ आपुही आपु बिकाइ गई॥४२०॥ [४६]

यहाँ श्रीकृष्ण को मोहने के कार्य का विनाश होकर व्रजांगना को स्वयं मोहित हो जाने के अनिष्ट की प्राप्ति है।

भारतीभूषण में विषम के इस भेद का—

"विथरयो जावक सौंति-पग निरख हँसी गहि गाँस,
सलज-हँसौ ही लखि लियौ आधी हँसी उसास।"४२१॥ [४६]

यह उदाहरण देकर लिखा है "सपत्नी के पैर का फैला हुआ जावक देख कर नायिका को केवल सौत के फूहड़ सिद्ध होने के इष्ट की अप्राप्ति ही नहीं हुई प्रत्युत अपने नायक से सपत्नी का प्रेम ज्ञात होने का अनिष्ट भी प्राप्त हुआ।" किन्तु द्वितीय विषम में कर्त्ता को ही इष्ट की अप्राप्ति पूर्वक अनिष्ट की प्राप्ति होती है पर यहाँ सपत्नी के जावक लगाने की क्रिया की नायिका कर्ता नहीं—दर्शक है, कर्ता तो स्वयं सपत्नी है, जिसे

न इष्ट की अप्राप्ति है और न अनिष्ट की प्राप्ति है। अतः ऐसे उदाहरण 'विषम' के नहीं हो सकते।

केवल इष्ट की अप्राप्ति में भी पण्डितराज ने यह अलङ्कार माना है। जैसे—

लोक-कलंक मिटाने को मृग-अंक यहाँ नभ से आकर,
तेरा विमल वदन हुआ था निष्कलङ्कता दिखला कर,
मृग-मद-तिलक-रेख मिस फिर भी कल्पित होने लगा वही,
निज आश्रित को सदा कलङ्कित करती हैं प्रमदा सचही[1] ॥४२२॥

यहाँ चन्द्रमा को अपने कलंक को दूर करने की अप्राप्ति है। इसमें अर्थान्तरन्यास अलंकार मिश्रित है—पहिले तीन चरणों के वाक्यार्थ का चौथे चरण में समर्थन किया गया है।

इष्ट की प्राप्ति पूर्वक अनिष्ट की प्राप्ति में भी यही अलंकार होता है। जैसे—

मद-मीलित-दृग द्विरिद ने विष-तरु[2] कीन्ह खुजाल,
खुजली-सुख पायो तऊ बढ़ी जलन ततकाल ॥४२३॥

खुजली करना चाहने वाले हाथी को विष-वृक्ष से खुजली के सुख रूप इष्ट की प्राप्ति होने पर भी विष-वृक्ष के स्पर्श से उसके अंग में जलन उत्पन्न हो जाने के कारण अनिष्ट की प्राप्ति भी है।

---

१ चन्द्रमा अपना कलंक मिटाने के लिए पृथ्वी पर आकर कामिनी का मुख हुआ था पर यहाँ भी कस्तूरी के बिन्दु के बहाने से कलंक बना ही रहा।

२ जिसके छू जाने से शरीर में जलन हो जाती है ऐसे कौंच आदि के वृक्ष।

तृतीय और चतुर्थ विषम

कारण के गुण-क्रियाओं से कार्य के गुण-क्रियाएँ क्रमशः विरुद्ध वर्णन करने को विषम का तीसरा और चौथा भेद कहते हैं।

तृतीय भेद गुण-विरोध—

अन्तर्निर्मल मिष्ट शीतल सदा सु-स्वादु गम्भीर भी,
पाती है गुण की कहीं न समता श्री जाह्नवी-नीर की
है वो यद्यपि श्वेत, दूर करता मालिन्य भी सर्वथा,
देता है पर कृष्ण-रूप उसकी है ये अनोखी प्रथा ॥४१४॥

श्री गंगा के निर्मल और श्वेत रंग के गुण वाले जल के स्नान और पान रूप कारण के द्वारा कृष्ण रूप हो जाना। (श्लेषार्थ श्रीकृष्ण-रूप प्राप्त हो जाना) विरुद्ध है।

चौथा भेद क्रिया-विरोध—

प्रान-प्रिये ! तू निकट में आनंद देत अपार,
पर तेरे ही विरह की ताप करत तन छार ॥४१५॥

यहाँ नायिका कारण है, आनन्द देना उसकी क्रिया है, उसके द्वारा तापदान की क्रिया का विरोध है—जो सुख देता है उसके द्वारा दुःख दिया जाना विपरीत है।

पूर्वोक्त असंगति अलङ्कार में कारण और कार्य भिन्न-भिन्न स्थान पर कहे जाते हैं। अर्थात् एक ही आधार में रहने वालों का पृथक्-पृथक् आधार में होना कहा जाता है। और विरोध अलङ्कार में भिन्न-भिन्न आधार में रहने वालों का एक आधार कहने में विरोध का ऐसा आभास होता है—जिसमें कार्य-कारण भाव बुद्धि का विषय न हो पावे

और 'विषम' के इस तीसरे और चौथे भेद में कार्य-कारण के विजातीय गुण और क्रिया का विरोध होना कहा जाता है[1]।

(४१) सम अलङ्कार

'सम' का अर्थ तुल्य है अर्थात् यथायोग्य। यह अलङ्कार 'विषम'के विपरीत है। इसके तीन भेद होते हैं—

प्रथम सम

यथायोग्य सम्बन्ध वर्णन किये जाने को 'सम' अलङ्कार कहते हैं।

यथायोग्य (श्लाघनीय) सम्बन्ध कहीं उत्तम पदार्थों का और कहीं निकृष्ट पदार्थों का होता है, अतः यह दो प्रकार का होता है—

(१) 'सद्योग में' अर्थात् उत्तमों का श्लाघनीय यथायोग्य सम्बन्ध होना।

(२) 'असद्योग में' अर्थात् असद् वस्तुओं का निन्दनीय यथायोग्य सम्बन्ध होना।

सद्योग में—

भागीरथी! बिगरी गति मैं अरु तू बिगरी गति की है सुधारक,
रोगी हौं मैं भव-भोगी डस्यो अरु याकी प्रसिद्ध है तू उपचारक,

---

१ 'तृतीयचतुर्थभेदद्वये च कार्यकारणयोर्विरुद्धगुणक्रियायोग एवं चमत्कारी, विरोधालङ्कारे तु भिन्न देशकयोरेकदेशकत्वम्, असङ्गत्यलङ्कारे एकदेशकयोर्भिन्न देशकत्वमेव चमत्कारीति भेदः।'

—काव्यप्रकाश की वामनाचार्य कृत टीका विषम-प्रकरण।

'तत्रापि कार्यकारणादिबुद्धयनालीढो विरोधाभासो विरोधालङ्कारः तदालीढस्तु विभावनादि।'—रसगङ्गाधर विरोध-प्रकरण।

मैं तृषना अति व्याकुल हौं तू सुधा-रस आकुल ताप-निवारक,
मैं जननी ! सरनागत हौं अरु तू करुनारत है जगतारक ॥४२६॥

'मैं बिगरी गति' और 'तू बिगरी गति की सुधारक' इत्यादि यहाँ श्लाघनीय योग्य सम्बन्ध वर्णन किये गये हैं।

श्री रूपा मिथिलेशनंदिनी श्याम राम नारायण रूप,
योग रमा से रमा-रमण का दर्शनीय है यह अनुरूप,
है सुवर्ण में सौरभ का यह मणि-कांचन का मिला सुयोग,
तृषित सुधा-सर पाके प्रमुदित कहने लगे यही सब लोग ॥ ४२७॥

यहाँ श्रीराम और जानकीजी का श्लाघनीय सम्बन्ध कहा गया है।

असद्योग में—

उचित हि है बानर-सभा आसन मृदु तरु-साख,
नख-रद-छत आतिथ वहाँ करत चिकार सुभाष ॥४२८।

बानरों की सभा में वृक्षों की शाखाओं के आसन और दाँत तथा नखों के क्षतों (घावों) का आतिथ्य आदि उसके योग्य ही कहे गये हैं। यहाँ असत् योग है।

द्वितीय सम

कारण के अनुरूप कार्य वर्णन किये जाने को द्वितीय सम अलङ्कार कहते हैं।

यह तीसरे 'विषम' अलङ्कार के विपरीत है। वहाँ कारण के प्रतिकूल और यहाँ कारण के अनुकूल कार्य वर्णन किया जाता है।

बडवानल, विष व्याल सँग रह्यो जो जलनिधि मांहि,
अबलन कौं दुख देत ससि यामें अचरज काहि ॥४२६॥

यहाँ समुद्र में वाडवाग्नि आदि के संग में रहने वाले चन्द्रमा द्वारा सन्ताप करने रूप कार्य उसके अनुरूप कहा गया है।

तृतीय सम

बिना अनिष्ट के कार्य की सिद्धि होने के वर्णन को तृतीय सम अलङ्कार कहते हैं।

यह द्वितीय विषम अलङ्कार के विपरीत है। इसमें कार्य की सिद्धि मात्र का वर्णन होता है और जहाँ उत्कट इष्ट की प्राप्ति होती है वहाँ प्रहर्षण अलङ्कार होता है; जो आगे कहा जायगा।

जल बसि नलिनी तप कियो ताको फल वह पाय,
तेरे पद ह्वै इहिं जनम सु-गति लही उन आय[1] ॥४३०॥

यहाँ सुगति (उत्तम लोक प्राप्त होने की गति) मिलने के लिये तप करने के उद्यम से कमलिनी को सु-गति रूप कार्य की प्राप्ति होना कहा गया है। यहाँ श्लेष मिश्रित 'सम' है—'सुगति' द्वयर्थक शब्द है।

कहीं अनिष्ट प्राप्ति में भी श्लेष के चमत्कार से 'सम' होता है—

आयो वारन लैन तू भलो सुयोग विचार,
आवत ही वारन मिल्यो कवि ! तोको नृप-द्वार ॥४३१॥

हाथी माँगने की इच्छा से आये हुए किसी कवि के प्रति उक्ति है कि तू वारण (हाथी) माँगने को अच्छे मुहूर्त में आया जो तुझे राजा के द्वार पर ही वारण (निवारण—अन्दर जाने से रोक देना) मिल गया। यद्यपि श्लेष द्वारा निवारण रूप अनिष्ट की प्राप्ति है; पर राज-द्वार पर क्षण भर के लिये निवारण किया जाना विषम की भाँति उत्कट अनिष्ट नहीं; अतः कुवलयानन्द में यहाँ 'सम' माना है।

---

१ हे प्रिये, कमलिनी ने सुगति प्राप्त करने के लिये जल में रह कर सूर्य की सेवा की थी उस तप के फल से उस (कमलिनी) ने इस जन्म में तुम्हारे चरण रूप होकर सुगति (गमन करने की सुन्दरता) प्राप्त की है।

(४२) विचित्र अलङ्कार

इच्छा के विपरीत प्रयत्न किये जाने के वर्णन को विचित्र अलङ्कार कहते हैं।

विचित्र का अर्थ है अद्भुत, विस्मय अर्थात् आश्चर्य। विचित्र अलङ्कार में इच्छा के विपरीत प्रयन्त करने रूप अद्भुतता का वर्णन किया जाता है।

सुख के अभिलाषित होकर किन्तु निरन्तर दुःख बड़े सहते,
अति इच्छुक उन्नति के फिर भी वह नम्र सदैव बने रहते।
तन-त्राण-समुत्सुक वे, न कभी निज-प्राण-विसर्जन में डरते,
जन सेवक ये निज-इप्सित से सब कार्य-विरुद्ध किया करते ॥४३२॥

सुख की प्राप्ति के लिये दुःख सहन करना, उन्नत होने के लिये नम्र होना और जीवन-रक्षा के लिये प्राण त्याग करना ये सब इच्छा के विपरीत प्रयत्न कहे गये हैं।

"नमत ऊँचाई काज लाज ही बढ़ाय जिय,
गुरुता के हेत निज लघुता करत हैं।
सुख ही के काज सब सहैं दुख द्वंदन कों,
सत्रु न के जीतबे कों सांति ही धरतु हैं।
कहै कवि 'निरमल' जो हैं संत बड़ भागी,
बातैं कोऊ आन औ तासों न अरतु हैं।
धन पाइबे के हेत धन ही को त्याग करैं,
मान पाइबे के हेत मान ना भरत हैं ॥"४३३॥[३३]

यहाँ सन्त जनों के लघुता आदि कार्य गुरुता आदि की इच्छाओं के विपरीत है।

"क्यों न सुर-सरितकों सुमिरि दरसि परसि सुख लेतु,
जाके तट में मरत नर अमर[1] होन के हेतु ॥४३४॥

अमर होने रूप इष्ट की इच्छा से 'मरना' विपरीत प्रयत्न है। विषम अलंकार के तीसरे भेद में कारण से कार्य के गुण या क्रिया विरुद्ध होते हैं और यहाँ इष्ट-सिद्धि के लिये इच्छा के विपरीत प्रयत्न किया जाता है। नागेश भट्ट विचित्र को 'विषम' अलंकार के अन्तर्गत ही बतलाते हैं।

(४३) अधिक अलंकार

बड़े आधेय[2] और आधारों[3] की अपेक्षा वस्तुतः छोटे भी आधार और आधेय क्रमशः बड़े वर्णन किये जाने को अधिक अलंकार कहते हैं।

अधिक का अर्थ स्पष्ट है। यह दो प्रकार का होता है।

(१) आधेय की अपेक्षा आधार वस्तुतः छोटा होने पर भी (आधार की उत्कृष्टता दिखाने के लिये) बड़ा वर्णन किया जाय।

(२) आधार की अपेक्षा आधेय वस्तुतः छोटा होने पर भी (आधेय की उत्कृष्टता दिखाने के लिये) बड़ा वर्णन किया जाय।

---

१ देवता।

२ जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु में रक्खी जाती है, उसको आधेय कहते हैं। ३ जिसमें कोई दूसरी वस्तु रक्खी जाती है, उसको आधार कहते हैं।

प्रथम प्रकार—

यह लोक चतुर्दश आदि सभी जिसके प्रतिलोम अवस्थित हैं,
तब क्या गणना भुवि मंडल की यह अल्प विभाग बना मित है,
विधि शेष सुरेश महेश अहो! जिसकी महिमा-वश मोहित हैं,
उसको निज अंक लिये सुखसे जननी निज-मन्दिर शोभित हैं ॥४३५॥

श्रीकृष्ण आधेय और यशोदाजी आधार हैं। जिनके प्रत्येक रोम में अनेक ब्रह्माण्ड स्थित हैं ऐसे श्रीकृष्ण की अपेक्षा यशोदाजी की गोद वस्तुतः छोटी होने पर भी 'सुख से निज अंक लिये' और 'प्रमोदित' पदों द्वारा यहाँ बड़ी वर्णन की गई है।

सिव-प्रचंड कोदंड कौं तानत प्रभु भुजदंड,
भयो खंड तब चंड-रव नहिँ मायो ब्रह्मंड ॥४३६॥

यहाँ बड़े आधार—ब्रह्माण्ड की अपेक्षा आधेय—धनुष-भंग का शब्द वस्तुतः न्यून होने पर भी 'नहिं मायो' पद द्वारा बड़ा कहा गया है।

जहाँ आधार और आधेय की कवि-प्रतिभा कल्पित न्यूनाधिकता का वर्णन होता है वहाँ अलङ्कार होता है, वस्तुतः न्यूनाधिकता के वर्णन में अलंकार नहीं होता है।

काव्यादर्श में दण्डी ने इस अलंकार को अतिशयोक्ति के अन्तर्गत लिखा है।

(४४) अल्प अलङ्कार

छोटे आधेय की अपेक्षा वस्तुतः बड़ा आधार भी छोटा वर्णन किया जाय वहाँ अल्प अलङ्कार होता है।

अल्प का अर्थ स्पष्ट है। अल्प अलंकार में लक्षण के अनुसार आधाराधेय की अल्पता का वर्णन किया जाता है।

"सुनहु स्याम व्रज में जगी दसम दसा को जोतिं,
जहँ मुँदरी अँगुरीन की कर में ढीली होति ॥"४३७॥

यहाँ आधेय मुँदरी (अँगूठी) की अपेक्षा आधार-हाथ वस्ततः बड़ा होने पर भी 'ढीली होत' पद से छोटा कहा गया है।

"ग्वाल हेत सात दिन धारयो एक कर ही पै,
गिरि गिरिराज ताकै कैसें अब श्रम आत।
विश्वभार उदर दिखायो मुख द्वार करि,
निरखे जसोदा कीन्हीं चौंकीसी चकीसी मात।
धारयो ब्रह्म अंडज अनेक रोम-कूप जल,
दीसै जगदीस अब यहै फैल को-सी बात।
उछरि-उछरि आत गैंद जिमि तो मैं लगि,
मेरो मन अणू आपहू तैं सो न धीरयो जात ॥"४३८॥[२०]

यहाँ मन-आधेय की अपेक्षा भगवान् का रूप बड़ा होने पर भी 'आपहू तैं सो न धीरयो जात' इस वाक्य द्वारा छोटा कहा गया है।

कुवलयानन्द में 'अल्प' को स्वतंत्र अलंकार लिखा है, अन्य ग्रन्थों में इसको अधिक अलंकार के अन्तर्गत माना है।

(४५) अन्यान्य अलङ्कार

एक हो क्रिया द्वारा दो वस्तुओं को परस्पर अन्योन्य कारणता वर्णन की जाय वहां 'अन्योन्य' अलंकार होता है।

अन्योन्य का अर्थ है परस्पर। अन्योन्य अलङ्कार में दो वस्तुओं को परस्पर एक जाति की क्रियाओं का उत्पादक कहा जाता है।

राजमरालन सौं कल ताल रु तालसौं राजमराल सुहावै,
चंद की चाँदनी सौं निसिहू निसि सौं छबि चँद की चाँदनी पावै,

राजन सौं कबिराज बढ़ैं, जस राजन को कबिराज बढ़ावैं,
धरनीतल में लखि लेहु प्रतच्छ परस्पर ये सुखमा बिलसावैं ॥४३९॥

यहाँ राजमराल और ताल[1] आदि को परस्पर में शोभा करने आदि एक जाति की क्रियाओं के उत्पादक कहे गये हैं।

छीदी अँगुरिन पथिक ज्यों पीवन लाग्यो वारि,
प्रपापालिका[2] हू करी त्यों-त्यों पतरी धारि ॥४४०॥

कुवलयानन्द में अन्योन्य का यह उदाहरण देकर कहा है कि यहाँ पथिक और प्रपापालिका को परस्पर में साभिलाष निरीक्षण करने रूप उपकारात्मक एक जाति की क्रियाओं के उत्पादक कहे गये हैं। किन्तु यहाँ युवक और युवती द्वारा परस्पर में उपकार नहीं किया गया है, क्योंकि एक दूसरे पर अनुरक्त होकर अपने ही आनन्द के लिये उन्होंने ये चेष्टाएँ की हैं, अतः यहाँ अन्योन्य अलङ्कार नहीं है।

"चंचल चारु सलोनी तिया इक राधिका कै ढिग आइ अजानी,
दै कर कागद एक कह्यो बस रीझिबो मोल है याको सयानी!
चित्त तैं दीठि चितेरिनि ओर चितेरिनि तैं पुनि चित्र में आनी,
चित्र समेत चितेरिन मोल लै आपु चितेरिनि-हाथ बिकानी॥"४४१॥

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण की छद्म-लीला का वर्णन है। चतुर्थ चरण में परस्पर में क्रय-विक्रय रूप एक जाति की क्रियाओं का वर्णन है।

भारतीभूषण में अन्योन्य अलङ्कार के—परस्पर में कारणता, परस्पर उपकार और परस्पर समान व्यवहार में—तीन भेद कहकर पृथक्-पृथक् लक्षण लिखे हैं पर प्राचीनों के कहे हुये—'एक जाति की क्रियाओं का परस्पर में उत्पादक होना' इस लक्षण में सब का समावेश हो जाता है। अतः उपकारात्मक क्रियाओं का होना और समान

१ सरोवर। २ प्याऊ पिलाने वाली।

व्यवहारात्मक क्रियाओं का होना उदाहरणान्तर मात्र है, न कि पृथक्-पृथक् भेद ।

(४६) विशेष अलङ्कार

विशेष का अर्थ है अ-सामान्य—असाधारण अर्थात् विलक्षण । विशेष अलङ्कार में आधार के बिना आधेय की स्थिति होना इत्यादि विलक्षण वर्णन किया जाता है । इसके तीन भेद हैं—

प्रथम विशेष

प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति का वर्णन किये जाने को प्रथम विशेष अलङ्कार कहते हैं ।

वंदनीय किहिके नहीं वे कविंद मतिमान,
सुरग गये हू स्थित यहाँ जिनको गिरा महान ॥४४२॥

यहाँ कवि रूप आधार के बिना ही उनकी वाणी (काव्यात्मक-सूक्ति) रूप आधेय की स्थिति कही गई है ।

"सूरवीर दाता सुकबि सेतु करावन हार,
बिना देह हू 'दास' ये जीवतु इहिँ संसार ॥"४४३॥[४६]

यहाँ शूरवीर आदिकों की देह के बिना संसार में स्थिति कही गई है ।

"जब क्षितिज के गर्भ में छिप भास्कर-प्रतिभा गई,
तब प्रतीचीव्योम में, आकर अरुणिमा छा गई ।
देखकर उसकी प्रभा को यों उठी जी में तरंग,
छोड़ जाते हैं बड़े जन अंत यश अपना अभंग ॥"४४४॥[२६]

द्वितीय विशेष

किसी वस्तु को एक ही स्वभाव से एक ही काल में

अनेक स्थानों पर स्थिति के वर्णन को द्वितीय विशेष अलंकार कहते हैं

कवि-वचनों में और रमणियों के नयनों में,
जनक-नंदिनी हृदय प्रेम-पूरित लहरों में,
रघुनन्दन स्थित हुए साथ ही एक समय में
शिव-धनु का कर भंग उसी क्षण रंगालय में ॥४४३॥

धनुष-भंग के समय श्रीरघुनाथजी की एक ही रूप से और एक ही काल में कवि-वचन आदि अनेक स्थानों पर स्थिति का वर्णन किया गया है।

विशेषालङ्कार के इस भेद का 'भाषाभूषण' में लिखा हुआ—

"वस्तु एक को कीजिए बरणन ठौर अनेक।"

यह लक्षण और 'ललितललाम' में मतिरामजीका लिखा हुआ—

"जहाँ अनेक थल में कछू बात बखानत एक।"

यह लक्षण, दोनों ही पर्याय अलंकार में मिल जाते हैं, क्योंकि पर्याय में भी एक वस्तु की अनेक स्थलों में स्थिति कही जाती है। किन्तु 'पर्याय' और 'विशेष' में यह भेद है कि पर्याय में एक वस्तु की अनेक स्थलों में स्थिति क्रमशः—एक के बाद दूसरे में कही जाती है और विशेष में एक ही काल में। अतः विशेष के लक्षण में—एक वस्तु की अनेक स्थलों में स्थिति एक ही काल में होने का उल्लेख करना आवश्यक है।

'रसिक मोहन' में दिये गये द्वितीय "विशेष' के—

"जातिहौं जो जमुना में अन्हान तो हैं जमुना ही में मो सँग लागी,
आवति हौं घर कों 'रघुनाथ' तो आवतु हैं घर में बने वागी,
जो मुख मूँदि कै सोइ रहौं तो वे सोवतु हैं मन में सुखपागी,
खोलिकै आँखिजो देखौं सखी! तो वे ठाढ़ेहैं आइके आँखिन आगी॥"४४६॥

इस उदाहरण में विशेष अलंकार नहीं है, क्योंकि इसमें यमुना-स्नान और घर आदि में पृथक्-पृथक् काल में नायक की स्थिति का वर्णन किया गया है न कि एक काल में।

और देखिये—

"कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में,
क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।
कहै 'पद्माकर' परागहू में पौनहू में,
पातन में पिकन पलासन पगंत है।
द्वार में दिसान में दुनी में देस देसन में,
देखौ दीप दीपन में दीपत दिगंत है।
वीथिन में व्रज में नवेलिन में वेलिन में,
बनन में बागन में बगर्‌यो बसंत है॥" ४४७॥ [३६]

यहाँ एक काल में वसन्त की अनेक आधारों में स्थिति का वर्णन मानकर कुछ विद्वान् इस पद्य में द्वितीय 'विशेष' अलंकार बतलाते हैं। किन्तु विशेष अलंकार वहीं होता है जहाँ एक काल में एक ही स्वभाव से किसी आधेय की अनेक आधारों में स्थिति का वर्णन किया जाता है।[१] किन्तु इस वर्णन में एक ही स्वभाव से वसन्त की अनेक आधारों में स्थिति नहीं—'बागन में' 'परागहू में' और 'पौनहू में' इत्यादि में सौरभ की विलक्षणता के कारण, एवं 'पातन में' आदि में नवीन अंकुरोत्पादन के कारण, तथा 'नवेलिन में' कामोद्दीपकता के कारण

---

१ "एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा।"

—काव्यप्रकाश

"एकस्य वस्तुनः युगपद् एककाले या एकात्मा एक आत्मा स्वभावो यस्यां सा अनेकगोचरा अनेकविषया वृत्तिर्वर्तनं स्थितिःसा द्वितीयोविशेषः।"

—वामनाचार्य-व्याख्या

भिन्न-भिन्न स्वभाव द्वारा वसन्त की स्थिति का वर्णन है। अतः यहाँ शुद्ध विशेष अलंकार भी नहीं कहा जा सकता।

यहाँ 'किलकंत' 'पगंत' 'दीपत' और 'जगरयो' इन क्रियायों का एक वसन्त ही कारक कहा गया है, जैसा कि कारकदीपक में कहा जाता है, किन्तु यहाँ अनेक क्रिया नहीं, अनेक का आभासमात्र है, क्योंकि 'किलकंत' 'पगंत' आदि एकार्थक क्रियाओं का प्रयोग है। फिर यदि रसगंगाधर के अनुसार कारकदीपक में कुछ प्रस्तुत और कुछ अप्रस्तुत क्रियाओं का एक कारक माना जाय तो यहाँ वसन्त के वर्णन में उपर्युक्त सभी क्रियाएँ प्रस्तुत ही हैं। अतः यहाँ 'कारकदीपक' भी नहीं माना जा सकता।

तृतीय विशेष

किसी कार्य को करते हुए दूसरा अशक्य कार्य भी किये जाने के वर्णन को तृतीय विशेष अलङ्कार कहते हैं।

सुकृत कर्म श्रुति विहित सभी शुभ, रहे न उसको करने शेष,
त्रिभुवन-श्रिय-वैभव भी उसने अपने वश कर लिये अशेष,
भोग-विलास देव-दुर्लभ भी भोग लिये आनंद समेत,
किया तुम्हारा अर्चन कुछ भी जिसने, शंकर ! कृपानिकेत!॥४४८॥

यहाँ आशुतोष भगवान् शंकर के किञ्चित् अर्चन रूप एक ही कार्य करने वाले कर्ता द्वारा त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम—की प्राप्ति रूप अशक्य कार्य किया जाना कहा गया है।

"उर प्रेम की जोति जगाय रही गति कों बिनु यास[1] घुमाय रही,
रस की बरषा बरसाय रही हिय-पाहन को पिघलाय रही,

---

१ परिश्रम।

हरियाले बनाय के सूखे हिये उतसाह की पैंग झुलाय रही,
इकराग अलाप के भाव भरी खट-राग-प्रभाव दिखाय रही॥"४४६॥[२६]

किसी कामिनी द्वारा एक रागिनी का गान करते हुए, 'दीपक'राग से दीपक जलाना, 'भैरव' से कोल्हू घुमाना, 'मेघ' से वर्षा को बरसाना, 'मालकोश' से पाषाण को पिघलाना, 'श्री' से सूखे वृक्षों को हरा करना और हिंडोल से झूले की पैंग बढ़ाना, इन छहों रागनियों के प्रभाव का दिखलाना—अशक्य कार्य किया जाना—कहा गया है।

गृहिनी सचिव रु प्रिय सखी मो-जीवन हू हाय,
तुहि छीनत मेरो सबै विधिने लियो छिनाय ॥४५०॥

इन्दुमती का संहार करने रूप एक ही यत्न से विधाता द्वारा राजा अज के सभी सुखों का नाश करने रूप अशक्य कार्यों का किया जाना कहा गया है। यह संहार का उदाहरण है।

कुवलयानन्द में तृतीय विशेष का—

"कल्पवृक्ष देख्यो सही तोकों देखत नैन।"

यह (जिसका अनुवाद है, वह संस्कृत पद्य) उदाहरण दिया है, किन्तु पण्डितराज के मतानुसार इसमें वाक्यार्थ-निदर्शना है—न कि विशेष। क्योंकि इसमें 'तुमको दृष्टिपथ करना' इस वाक्य द्वारा 'कल्प-वृक्ष के दर्शन के समान है' इस उपमा की कल्पना की जाती है, जिस प्रकार 'निदर्शना' में की जाती है।

'कविप्रिया' में विशेष अलंकार का—

"साधक कारन विकल जँह होय साध्य की सिद्धि।"

यह लक्षण लिखा है। अर्थात् विकल (अपूर्ण) कारण द्वारा कार्य की सिद्धि होना बतलाया है। पर यह तो कुवलयानन्द में मानी गई द्वितीय विभावना का लक्षण है, न कि 'विशेष' का।

(४७) व्याघात अलङ्कार

जिस उपाय से किसी व्यक्ति द्वारा कुछ कार्य सिद्ध किया जाय, उसी उपाय से दूसरे किसी व्यक्ति द्वारा वह कार्य अन्यथा (विपरीत) किये जाने को 'व्याघात' अलङ्कार कहते हैं।

'व्याघात' में 'वि' और 'आघात' दो अंश हैं। 'वि' का अर्थ है विशेष और आघात का अर्थ है प्रहार या धक्का, अतः व्याघात का अर्थ है—विशेष प्रकार का प्रहार। व्याघात अलंकार में अन्य व्यक्ति द्वारा सिद्ध किया गया कार्य अन्य द्वारा प्रहार करके अन्यथा किया जाता है।[1]

दीन जनन को कहि वचन दुरजन जग दुख देत,
तिनही सौं हरषित करहिं सज्जन कृपानिकेत ॥४५१॥

दुष्टों द्वारा जिस वचन कहने रूप उपाय से दीन जनों को दुःख देने का कार्य किया जाता है, उसी वचन रूप उपाय से सज्जनों द्वारा वह दुःखरूप कार्य अन्यथा किया जाना अर्थात् सुख दिया जाना कहा गया है।

"जो पिय जानतु हौ हमको अबला तो हमें कबहू मति छोड़ो॥"४५२॥

बन को जाते हुये श्री रघुनाथ जी ने बन को न चलने के लिये जानकीजी की, स्वाभाविक सुकुमारता और भीरुता आदि सूचक 'अबला' होने रूप जो कारण कहा था उसी 'अबला' होने रूप कारण को प्रत्युत जानकीजी ने साथ ले चलने का कारण सिद्ध किया है।

"नाम धरो सिगरो ब्रज, को अब कौनसी बात कौ सोच रहा है,
त्यों 'हरिचंदजू' और हू लोगन मान्यो बुरो अरी ! सोऊ सहा है,

---

१ 'साधितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः'—काव्यप्रकाश-वृत्ति

होनी हुती सोतो होय चुकी इन बातन में अब लाभ कहा है,
लागे कलंकहु अंक लगें नहिं तो सखि ! भूल हमारी महा है॥"४५३॥

सखी ने नायिका को जिस कलंक लगने के कारण प्रेमपात्र के अंक न लगने के लिए कहा है, नायिका उसी कलंक लगने के कारण द्वारा प्रेमी के अंक लगने की पुष्टि की है।

इस प्रकार के उदाहरणों को अलंकारसर्वस्व आदि में व्याघात का सरा दूभेद माना है, पर इन दोनों उदाहरणों में साधित वस्तु का व्याहनन (नाश) है, इसीलिये काव्यप्रकाश में दो भेद न मानकर एक ही भेद माना है।

काव्यप्रकाश में 'व्याघात' का—

काम को दृग-भंगि से था दग्ध शंकर ने किया,
कर रहीं दृग-भंगि से ही जो कि जीवित हैं उसे,
रमणियों को लोग कहते हैं अतः हर-विजयिनी,
किन्तु हम तो मानते हैं कल्पना कवि की इसे ॥४५४॥

इस आशय का उदाहरण दिया गया है इसमें श्रीशंकर द्वारा जिस दृष्टि-पात से कामदेव को दग्ध करने का कार्य किया गया, उसी दृष्टि-पात से कामिनियों द्वारा कामदेव को जीवित (उत्तेजित) किया जाना कहा गया है।

इस उदाहरण में अलंकारसर्वस्वकार व्यतिरेक मूलक व्याघात बतलाता है। क्योंकि जिस प्रकार व्यतिरेक में उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्ष कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ श्रीशंकर की अपेक्षा कामिनियों का उत्कर्ष कहा गया है जो कि 'हर-विजयिनी' के प्रयोग द्वारा भी स्पष्ट है।

———

(४८) कारणमाला अलङ्कार

पूर्व पूर्व कहे हुये पदार्थ, जहां उत्तरोत्तर कहे हुए पदर्थों के कारण कह जाते हैं, वहाँ कारणमाला अलंकार होता है।

कारणमाला का अर्थ है कारणों की माला। यहाँ उत्तरोत्तर कथित अनेक कार्यरूप पदार्थों के—माला की भाँति—शृंखलाबद्ध पूर्व पूर्व कथित अनेक पदार्थ कारण कहे जाते हैं।

पूर्वोक्त मालादीपक में भी उत्तरोत्तर कथित पदार्थों के पूर्व पूर्व कथित पदार्थ कारण भाव से कहे जाते हैं, पर वहाँ उन सब का एक क्रिया में अन्वय होता है, यहाँ एक क्रिया में अन्वय नहीं होता है।

विषयान के ध्यावन सौं तिनमें रति ह्वै अभिलाष बढ़ावतु है,
अभिलाष न पूरन होय तबै चित क्रोध घनो भरि आवतु है,
नर क्रोधित ह्वै पुनि मोहित ह्वै स्मृति कौं भ्रम हू उपजावतु है,
स्मृति भ्रष्ट भये मति नष्ट बनै मति-नष्ट भये बिनसावतु है ॥४५५॥

यहाँ पहिले कहा हुआ विषयों का ध्यान उसके पश्चात् कहे हुए विषयों के अभिलाष का कारण कहा गया है। फिर 'अभिलाष का पूर्ण न होना' क्रोध का कारण कहा गया है, इसी प्रकार उत्तरोत्तर कहे गये पदार्थों के यहाँ पूर्व पूर्व कहे गये पदार्थ कारण कहे गये हैं, अतः कारणों की माला है।

जहाँ पूर्व पूर्व कथित पदार्थों के उत्तरोत्तर कथित पदार्थ कारण कहे जाते हैं वहां भी कारणमाला अलङ्कार होता है। जैसे—

"मूल करनी को धरनी पै नर-देह लैबो,
देहन को मूल एक पालन सु नीको है।

देह पालिबे को मूल भोजन सु पूरन है,
भोजन को मूल होनो बरषा घनी को है।
'ग्वाल' कवि मूल बरषा को है जजन जप,
जजन जु मूल वेद-भेद बहु नीको है।
वेदन को मूल ज्ञान, ज्ञान मूल तरबो त्यों,
तरबे को मूल नाम भानु-नंदनी को है॥'' ४५६॥[६]

यहाँ 'नर-देह लैबो' आदि जो उत्तरोत्तर पदार्थ कहे गये हैं वे पूर्व पूर्व कहे गये 'करनी' आदि के कारण कहे गये हैं।

(४९) एकावली अलंकार

पूर्व पूर्व में कही हुई वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर कथित वस्तु के विशेषण भाव से बहुत बार स्थापन अथवा निषेध किये जाने को 'एकावली' अलंकार कहते हैं।

एकावली का अर्थ है, एक लड़ी का कण्ठ में धारण किया जाने वाला हार—मोती की माला। हार में पहिले वाले मोती के साथ उसके बाद का मोती पिरोया जाता है—गूँथा जाता है। उसी प्रकार इस अलङ्कार में पहिले कहे गये पदार्थ के साथ उसके बाद में कहे हुए पदार्थ का कई बार स्थापन अथवा निषेध किया जाता है।

विशेषण-भाव से स्थापन—

चतुर वही निज-हित लखै हित वह जित उपकार,
उपकारहु वह जहँ न ह्वै स्वारथ को व्योपार॥४५७॥

यहाँ पूर्व कथित 'चतुर' का इसके उत्तर-कथित 'निज हित लखै' विशेषण है। फिर 'हित' का उपकार' विशेषण है, इस प्रकार उत्तरोत्तर कही गई वस्तु का विशेषण भाव से स्थापन किया गया है।

विशेषण-भाव से निषेध—

"सोहत सो न सभा जहँ बृद्ध न, वृद्ध न ते जु पढ़े कछु नांहीं,
ते न पढ़े जिन साधु न साधित दीह दया न दिखे जिन मांहीं',
सो न दया जु न धर्म धरै धर धर्म न सो जहँ दान वृथा ही,
दान न सो जहँ साँच न 'केसव' साँच न सो जु बसै छल छाँही ॥"४५८॥ [७]

यहाँ सभा आदि के उत्तरोत्तर कथित वृद्धादिक विशेषण हैं, उनका 'सो न' आदि द्वारा विशेषण भाव से निषेध किया गया है।

भारती-भूषण में एकावली का—

"सोहत सर्वसहा सिव सैल तें सैलहु कामलतान उमंग तें,
कामलता बिलसै जगदंब तें अंबहु संकर के अरधंग तें,
संकर अंगहु अंग उत्तंग तें उत्तम अंगहु चंद प्रसंग तें,
चंद जटान के जूटन राजत जूट-जटान के गंग-तरंग तें ॥"४५९॥ [२]

यह उदाहरण दिया है। इसमें एकावली नहीं किन्तु कारणमाला अलंकार है। क्योंकि शिव-शैल आदि उत्तरोत्तर कथित पदार्थ सर्वसहा (पृथ्वी) आदि पूर्व-कथित पदार्थों की 'सोहत' आदि क्रियाओं के कारण कहे गये हैं, न कि विशेषण। कारणमाला और एकावली में यही तो अन्तर है। स्वयं ग्रन्थकार ने ही सार अलंकार के प्रकरण में अपने भारतीभूषण में लिखा है—"पूर्वोक्त 'कारणमाला', 'एकावली' और 'सार' में शृङ्खला-विधान तो समान होता है, किन्तु 'कारणमाला' में कार्य कारण का, 'एकावली' में विशेष्य विशेषण का और यहाँ (सार में) उत्कर्ष का संबंध होता है।"

(५०) सार अथवा उदार अलंकार

पूर्व पूर्व कथित वस्तु की अपेक्षा उत्तरोत्तर कथित वस्तु का धाराप्रवाह रूप से अन्त तक अधिकाधिक उत्कर्ष वर्णन करने को सार अलंकार कहते हैं।

'सार' का अर्थ है उत्कर्ष। सार अलंकार में स्वरूप, धर्म इत्यादि अनेक प्रकार का उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णन किया जाता है।

सारोत्कर्ष—

जग में जीवन सार है तासों सम्पति सार,
संपति सौं गुन सार है गुन सौं पर उपकार ॥४६०॥

यहाँ जीवन आदि पूर्व पूर्व कथित वस्तु से संपति आदि उत्तरोत्तर कथित वस्तु का 'सार' पद द्वारा उत्कर्ष कहा गया है।

धर्मोत्कर्ष—

"सिला कठोरी काठ ते ताते लोह कठोर,
ताहू ते कीन्हों कठिन मन तुम नंदकिसोर! ॥"४६१॥

यहाँ 'कठोर' धर्म द्वारा उत्तरोत्तर कथित वस्तु का उत्कर्ष कहा गया है।

स्वरूपोत्कर्ष—

उन्नत अति गिरि गिरिन सौ हरि-पद है विख्यातु,
ताहू सौं ऊँचो घनो संत-हृदय दरसातु ॥४६२॥

यहाँ गिरि आदि के उत्तरोत्तर कही हुई वस्तु के स्वरूप का उत्कर्ष है।

पदार्थों के केवल उत्कर्ष में नहीं किन्तु उत्तरोत्तर अपकर्ष में भी 'सार' अलङ्कार माना गया है जैसे—

"तृन ते तूल रु तूल ते हरवो जाचक जान,
मांगन सकुच जु पौन हू जिहिं न लियो सँग ठान[1]॥"४६३॥[४२]

---

१ तृण से रुई हलकी है—तुच्छ है—और रुई से भी याचक हलका है—तुच्छ है। क्योंकि तृण और रुई को तो पवन उड़ा कर अपने साथ ले जाता है पर याचक को पवन भी अपने साथ नहीं लेता, इसलिए कि कहीं यह मुझ से कुछ याचना न कर बैठे।

५१) यथासंख्य अलङ्कार

क्रमशः कहे हुए अर्थों का जहाँ क्रमशः अन्वय (सम्बन्ध) होता है वहाँ 'यथासंख्य' अलङ्कार होता है।

यथासंख्य का अर्थ लक्षण के अनुसार स्पष्ट है। इसको 'क्रम' अलङ्कार भी कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—

(१) शाब्द। अर्थात् समास न होकर क्रमशः सम्बन्ध होना।

(२) आर्थ। अर्थात् समास में क्रमशः सम्बन्ध होना।

शाब्द यथासंख्य—

यौवन-वय सौं सकित ह्वै सरमाय,
सील सौर्य-बल-दुति सौं अति ललचाय,
रामहिँ लखि सिय-लोचन-नलिन सुहाहिँ,
सकुचत बिकसत छिन छिन धनु-मख माहिं[1]॥४६४॥

यहाँ प्रथम पाद का चौथे पाद के 'सकुचत' के साथ और दूसरे पाद का चौथे पाद के 'विकसत' के साथ क्रमशः अन्वय है अर्थात् यथाक्रम सम्बन्ध है।

आर्थ यथासंख्य—

वृन्दा पितृ वन विचरैं,
कुसुमायुध-जनन हनन शक्ति-धरैं,
अरि शूल धारण करैं,
हरि हर मेरे सब दुख हरैं॥४६५॥

१ स्वयम्वर के समय जानकीजी के नेत्र श्रीरघुनाथजी की यौवन अवस्था को देखकर संकुचित और उनके शौर्यादि गुणों को देखकर विकसित हुए।

यहाँ वृन्दावन, कुसुमायुध-जनन[१] और अरि[२] इन तीनों का 'श्रीहरि' के साथ और पितृ-वन[३] कुसुमायुध-हनन[४] और शूल इन तीनों का श्रीहर के साथ क्रमशः समास में अन्वय है।

"चख-सर-छत अद्भुत जतन बधिक-वैद निज-हथ्य,
उर, उरोज, भुज, अधर-रस, सेक पिंड पट पथ्य[५] ॥"४६६॥[८]

यहाँ 'उर' आदिक चारों का सम्बन्ध क्रमशः 'सेक' आदिक चारों के साथ है।

(५२) पर्याय अलङ्कार

एक वस्तु की क्रमशः अनेकों में स्वतः स्थिति हो अथवा दूसरे द्वारा की जाय उसे पर्याय अलंकार कहते हैं।

पर्याय का अर्थ है अनुक्रम[६]—पर्याय अलङ्कार में एक वस्तु की अर्थात् एक ही आधेय की क्रमशः अर्थात् काल-भेद से, एक के पीछे दूसरे में (न कि एक ही साथ)—अनेक आधारों में स्वतः स्थिति होती है अथवा किसी दूसरे द्वारा की जाती है। विशेष अलङ्कार से पृथक्ता करने के लिये यहाँ 'क्रमशः' कहा गया है, क्योंकि 'विशेष' में एक ही काल में अनेक स्थानों पर स्थिति होती है।

---

१ प्रद्युम्न को उत्पन्न करने वाले श्रीकृष्ण। २ सुदर्शनचक्र। ३ श्मशान। ४ कामदेव को मारने वाले श्रीमहादेव। ५ कटाक्ष रूपी बाण के घाव का उपचार बधिक (मारने वाली—नायिका) के ही आधीन है। उस घाव के लिये उसी के उर, उरोज, भुजा और अधर-रस क्रमशः सेक, पुलटिस, पट्टी और पथ्य है।

६ 'पर्यायोऽवसरे क्रमे'—अमरकोष।

'ललितललाम' में मतिरामजी का कहा हुआ पर्याय का—

"कै अनेक हूँ एक में कै अनेक में एक,
रहत जहाँ पर्याय सो है पर्याय विवेक ॥"४६७॥ [४०]

यह लक्षण द्वितीय विशेष अलङ्कार के लक्षण में मिल जाता है। क्योंकि इस लक्षण में—एक में अनेक की स्थिति का क्रमशः होना नहीं कहा गया है, यही तो पर्याय से विशेष में भेद है।

स्वतः सिद्ध अनेक आधार—

हालाहल ! तुहि नित नये किन सिखये ये ऐन,
हिय-अंबुधि हर-गर लग्यो बसत अबै खल-बैन ॥४६८॥

यहाँ एक ही हालाहल (विष) के समुद्र का हृदय, श्रीशिवजी का कण्ठ और दुर्जनों के वचन रूप अनेक आधार क्रमशः—एक के बाद दूसरे—कहे गये हैं और ये आधार स्वतः सिद्ध हैं।

अन्य द्वारा अनेक आधार—

सब भुवि रह्यो हिमंत अरु तरुअन छांह बसंत,
अब ग्रीषम या सीत कौ कीन्हों चाहतु अंत ॥४६९॥

यहाँ एक ही शीत के हेमन्त में सारी भूमि और वसन्त में वृक्षों की छाया रूप दो स्थान कहे गये हैं और वे ऋतुओं द्वारा किये गए है अतः अन्य द्वारा है। यहाँ शीत का संकोच वर्णन है अतः संकोच पर्याय है।

द्वितीय पर्याय

अनेक वस्तुओं की एक आधार में क्रमशः स्वतः स्थिति हो अथवा दूसरे किसी द्वारा की जाय, उसे द्वितीय पर्याय अलंकार कहते हैं।

यहाँ 'क्रमशः' पद से आगे लिखे जानेवाले द्वितीय समुच्चय अलंकार

से पृथक्ता बताई गई है क्योंकि द्वितीय समुच्चय में अनेक वस्तुओं की एक आधार में स्थिति एक ही काल में कही जाती है न कि क्रमशः।

अमृत भरे दरसैं प्रथम मधुर खलन के बैन,
दुख-दायक पाछै बनै अंतर विष दुख-ऐन ॥४७०॥

यहाँ अमृत और विष दोनों वस्तुएँ खल के वचन रूप एक ही आधार में कही गई हैं, यह स्वतः सिद्ध आधार है।

अन्य द्वारा—

वो नैसर्ग-मयी सु-दृश्य तटका जो पूर्व-कालीन था,
आता सम्प्रति है न दृष्टि-पथ सो, है शेष उसकी कथा,
घाटों की अवली बनी अब घनी शोभा-मयी है वहाँ,
भक्तों को करतीं तथापि वह हैं प्राकट्य भक्ती महा ॥४७१॥

यहाँ हरिद्वार के गङ्गा-तट रूपी एक ही आधार में पूर्व-कालीन और साम्प्रतिक दृश्य ये दो आधेय कहे गये हैं। और यह साम्प्रतिक दृश्य भक्तजनों द्वारा किया गया है, अतः अन्य द्वारा है।

'परिवृत्ति' अलंकार में एक वस्तु दूसरे को देकर बदले में उससे दूसरी वस्तु ली जाती है, यहाँ यह बात नहीं है।

(५३) परिवृत्ति अलङ्कार

पदार्थों का सम और असम के साथ विनिमय होने के वर्णन को 'परिवृत्ति' अलंकार कहते हैं।

परिवृत्ति का अर्थ है परिवर्तन अर्थात् विनिमय करना। एक वस्तु दूसरे को देकर बदले में उसके पास से दूसरी वस्तु ली जाती है उसे विनिमय कहते हैं। परिवृत्ति दो प्रकार की होती है। सम और विषम—

१—'सम' परिवृत्ति—

(क) उत्तम वस्तु देकर उत्तम वस्तु का लिया जाना।

(ख) न्यून गुणवाली वस्तु देकर न्यून गुणवाली वस्तु का लिया जाना।

२—'विषम' परिवृत्ति—

(क) उत्तम गुणवाली वस्तु देकर न्यून गुणवाली वस्तु का लिया जाना।

(ख) न्यून गुणवाली वस्तु देकर उत्तम गुणवाली वस्तु का लिया जाना।

सम परिवृत्ति उत्तम विनिमय—

दर्शनीय अति रम्य मनोहर है कलिंदतनया का तीर,
कल्लोलित है विमल तरंगित मंदमंद श्यामल शुचि नीर,
लतिकाओं को नृत्य-कला की शिक्षा देकर धीर-समीर,
मधुर मधुर लेता है उनका सुमन गंध मनहर गंभीर ॥४७२॥

यहाँ जमुना-तट के वायु द्वारा लताओं को नृत्य-कला की शिक्षा देना और बदले में उनसे पुष्पों की मधुर-गन्ध लेना कहा गया है। यहाँ दोनों उत्तम वस्तु का विनिमय है।

सम परिवृत्ति न्यून-विनिमय—

श्री शंकर की सेवा रत भक्त अनेक दिखाते हैं,
किन्तु वस्तुतः उनसे क्या वे कुछ भी लाभ उठाते हैं।
अस्थि-माल-मय अपने तन को अर्पण वे कर देते हैं,
मुंड-माल-मय-तन उनसे बस परिवर्तन में लेते हैं ॥४७३॥

यहाँ अस्थि-माला वाला शरीर (मनुष्य देह) शिवजी को देकर उनसे मुण्ड-माला वाला शरीर (शिवरूप) लेना कहा गया है। हाड़ों की माला और नर-मुण्डों की माला दोनों न्यून गुण वाली वस्तुओं का विनिमय है। यह व्याजस्तुति मिश्रित परिवृत्ति है।

विषम परिवृत्ति उत्तम से न्यून का विनिमय—

"कासों कहिये आपनो यह अयान जदुराय !
मन-मानिक दीन्हों तुमहिं लीन्हीं विरह-बलाय ॥"४७५॥

यहाँ मन-माणिक्य रूप उत्तम वस्तु देकर विरह रूप न्यून गुणवाली वस्तु ली गई है, अतः विषम परिवृत्ति है।

विषम परिवृत्ति न्यून से उत्तम का विनिमय—

यद्यपि तिर्यक् जाति हीन भी था जटायु वह गीध, तथापि—
हुआ स्वर्ग गत प्रभु के सन्मुख शोचनीय है नहीं कदापि।
जिसने जीर्ण-शीर्ण अपना वह रामकार्य में देकर देह,
लिया चंद्रसम उज्वल यश है धन्य धन्य वह निस्संदेह ॥४७६॥

जटायु द्वारा न्यून गुण वाला अपना जीर्ण शरीर श्रीरघुनाथजी के कार्य में अर्पण करके उत्तम गुण वाला निर्मल यश लिया जाना विषम परिवृत्ति है।

"चामीकर-कोष[1] सस्त्र-वस्त्रन के कोष और—
रत्ननन् के कोष एक एकते नवीने हैं।
देस देस संभव तुरंग रंग रंग के जे,
पती है विहंग संग प्रेरक अधीने हैं।
और हू अनेक राज-वैभव स-राष्ट्र जेते,
काज-धृतराष्ट्र कर्न सत्रुन ते छीने हैं।
महाबली अर्जुन को अग्रज[2] विपनार[3],
गदा के प्रहार एक देस-भार लीने हैं ॥"४७७॥ [६३]

---

१ सुवर्ण के खजाने। २ अर्जुन का बड़ा भाई भीमसेन। ३ व्यापारी।

यहाँ भीमसेन द्वारा दुर्योधन को एक गदा के प्रहार रूप न्यून गुण वाली वस्तु देकर उसका सारा राज्य-वैभव रूप उत्तम वस्तु का लिया जाना कहा गया है।

प्रतिवृत्ति अलंकार में कवि-कल्पित विनिमय होता है। जहाँ वास्तविक विनिमय होता है, वहाँ अलंकार नहीं होता। जैसे—

लेवतु हैं जहँ बालिका मुक्ताफल, दै बेर।

यहाँ अलंकार नहीं। जहाँ दूसरे के साथ विनिमय होता है वहीं परिवृत्ति अलंकार होता है जहाँ अपनी ही वस्तु का त्याग और ग्रहण (देना लेना) होता है, वहाँ परिवृत्ति अलंकार नहीं होता। जैसे—

मोतिन के बर भूषन तू नव जोवन में तजि कै किहिं कारन,
कोमल गातन माँहि किये यह वृद्धन जोग जु बल्कल धारन।
सोभित ह्वै जु प्रदोष समै छवि-चंद्रकला अति ही मिलि तारन,
क्यों रमनीय लगै रजनी, रमनी! अरुनोदय ह्वै जु अकारन ॥४७८॥

तप करती हुई पार्वतीजी के प्रति ब्रह्मचारी के वेष में गये हुए श्री शंकर की उक्ति है। यहाँ पार्वती द्वारा अपने ही आभूषणों का त्याग और बल्कल वस्त्रों का ग्रहण है। इसमें दूसरे के साथ विनिमय न होने के कारण परिवृत्ति अलंकार नहीं, किन्तु पर्याय अलंकार है। क्योंकि पार्वती रूप एक आधार में भूषण और वल्कल दोनों की स्थिति कही गई है।[1]

देवजी ने अपने भावविलास में परिवृत्ति अलंकार का नीचे लिखा उदाहरण दिया है—

"केवली समूढ़ लाज ढूढ़त ढिठाई पैये,
चातुरी अगूढ़ गूढ़ मूढ़ता के खोज हैं।
सोभा सील भरति अरति निकरत सब,
मुहिचले खेल पुरि चले चित्त चोज हैं।

---

१ देखिये रसगङ्गाधर परिवृत्ति-प्रकरण और काव्यप्रकाश उद्योत व्याख्या पृ० ५२५।

हीन होति कटि तट पीन होति जघन,
सघन सोच लोचन ज्यों नाचत सरोज हैं।
जाति लरिकाई तरुनाई तन आवतु है,
बढ़त मनोज 'देव' उठत उरोज हैं॥"४७६॥ [२७]

यहाँ भी दूसरे के साथ विनिमय नहीं अतः परिवृत्ति नहीं[1], किन्तु पर्याय ही है, क्योंकि नायिका का शरीररूप एक आधार में अनेक आधेय कहे गये हैं।

और देखिये—

"अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नैंक सयान को बाँक नहीं,
तहां साँच चलै तजि आपुनपौ झझकै कपटी जो निसाक नहीं;
'घन आनद' प्यारे सुजान सुनौ इत एक ही दूसर आँक नहीं,
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला! मन लेत हो देत छटाँक नहीं॥"४०८॥[१४]

यहाँ मन (चित्त अथवा श्लेषार्थ—तोल में एक मन—मणभर) लेकर बदले में छटांक भी न देना कहा है। परिवृत्ति में कुछ लेकर बदले में कुछ दिया जाता है। यहाँ उसके विपरीत है अतः ऐसे वर्णनों में 'अपरिवृत्त' अलङ्कार माना जा सकता है। यद्यपि 'अपरिवृत्ति' का पूर्वाचार्यों ने निरूपण नहीं किया है। परन्तु इस अपिरिवृत्ति में चमत्कार होने के कारण अलङ्कार मानना उचित अवश्य है।

(५४) परिसंख्या अलङ्कार

जहाँ प्रश्न पूर्वक अथवा बिना ही प्रश्न के कुछ कहा जाय वह उसी के समान किसी वस्तु के निषेध करने के लिये हो वहाँ परिसंख्या अलङ्कार होता है।

---

१ रसगङ्गाधर में कहा है—'पूर्वावस्थात्यागपूर्वकोत्तरावस्थाग्रहणस्य वास्तविकत्वेनानलङ्कारत्वात्'।

'परि' का अर्थ वर्जन (निषेध) है[1]। और 'संख्या' का अर्थ है-बुद्धि अतः परिसंख्या का अर्थ वर्जनबुद्धि अर्थात् अन्यत्र वर्जन (निषेध) है। परिसंख्या अलंकार में अन्य प्रमाणों से भली प्रकार सिद्ध जो बात प्रश्न के पश्चात् या बिना ही प्रश्न के कही जाती है, वह—दूसरा कुछ प्रयोजन न होने के कारण उसी के समान किसी दूसरी बात के निषेध के लिए कही जाती है। निषेध कहीं तो प्रतीयमान (व्यंग्य) होता है और कहीं शब्द द्वारा स्पष्ट किया जाता है। अतः यह चार प्रकार का होता है—

१—प्रश्नपूर्वक प्रतीयमान (व्यंग्य) निषेध।

२—प्रश्नपूर्वक वाच्य (शब्द द्वारा स्पष्ट किया गया) निषेध।

३—प्रश्न-रहित प्रतीयमान (व्यंग्य) निषेध।

४—प्रश्न-रहित वाच्य निषेध।

प्रश्न-पूर्वक प्रतीयमान निषेध—

क्या सेव्य सदा ? पद युगल नंदनंदन के।
क्या ध्येय ? चरित्र पवित्र कंसकंदन के,
कर्तव्य ? सविधि उपचार जगत-वंदन के,
श्रोतव्य ? चरित श्री सूत-पार्थ-स्यंदन के[2] ॥४८१॥

'सेव्य क्या है' आदि प्रश्नों के श्री 'नन्दनन्दन' आदि उत्तर दिये गये हैं। ये सब उत्तर अन्य प्रमाणों से सिद्ध है अतः ये उत्तर यहाँ 'विषय-भोग सेवन करने के योग्य नहीं हैं' आदि निषेध करने के लिए हैं। यहाँ विषय-भोग आदि का निषेध शब्द द्वारा नहीं किया गया है, अतः निषेध व्यंग्य (प्रतीयमान) है।

---

१ 'परि वर्जने' ८-१-५ पाणिनि।

२ पार्थ अर्थात् अर्जुन के स्यन्दन (रथ) के सूत (सारथी) भगवान् श्रीकृष्ण के।

प्रश्न-पूर्वक वाच्य-निषेध—

है भूषण क्या ? यश, नहीं रत्न आभूषण,
क्या कार्य ? आर्य-शुभ चरित, नहीं है दूषण।
क्या नेत्र ? विमल मति, नहीं चक्षु-गोलक यह,
है मित्र कौन ? सद्धर्म, न नर लौकिक यह ॥४८२॥

'भूषण क्या है ?' आदि प्रश्न हैं। 'यश' आदि उत्तर हैं। ये उत्तर रत्न आदि के बने हुए भूषणों के निषेध के लिये कहे गये हैं। शब्दों द्वारा स्पष्ट निषेध किया गया है अतः निषेध वाच्य है।

प्रश्न-रहित प्रतीयमान (व्यंग्य) निषेध —

इतनो ही स्वारथ बड़ो लहि नर तन जग मांहि।
भक्ति अनन्य गुविंद-पद लखहिं चराचर ताहि ॥४८३॥

श्रीगोविन्द के चरणों में एकान्त-भक्ति होना मनुष्य-जन्म का जो परम स्वार्थ कहा गया है, वह 'विषय-भोगादि को मनुष्य-जन्म का स्वार्थ न समझो' इस बात के निषेध करने के लिये कहा है। यहाँ शब्द द्वारा 'निषेध' नहीं, अतः व्यंजना से प्रतीत होता है।

कर्तव्य, दीन-जन दुःख-हरण करना ही,
चातुर्य, सदा हरि नाम-स्मरण करना ही।
है द्वैत, सेव्य का सेवक हो रहना ही,
अद्वैत, एक हरि-चरण-शरण गहना ही ॥४८४॥

यहाँ प्रश्न किये बिना दीन जनों का दुःख हरण करना मनुष्य के कर्तव्य आदि जो कहे गये हैं, वे अन्य कर्तव्य आदि के निषेध के लिये कहे गये हैं। निषेध व्यंग्य (प्रतीयमान) है।

सेवा में यदि साभिलाष, करता गोविंद-सेवा न क्यों,
चिंता में यदि है स्पृहा, कर सदा श्रीकृष्ण के ध्यान का।

जो तेरी रुचि गान में हरि कथा गाता न क्यों स्वस्थ हो,
सोना तू यदि चाहता, तब न क्यों प्यारे ! समाधिस्थ हो ॥४८५॥

यहाँ विषयभोगादि का निषेध व्यंजना से प्रतीत होता है।
परिसंख्या के श्लेष मिश्रित उदाहरण बड़े मनोरञ्जक होते हैं—

"दंड यतिन कर, भेद जहँ नर्तक-नृत्य-समाज,
सबके मन बस सुनिय अस रामचन्द्र के राज ॥" ४८६॥

'दन्ड' और 'भेद' पद श्लिष्ट हैं[1]। यहाँ राम राज्य में दण्ड केवल यति-दण्डी स्वामियों के हाथ में और 'भेद केवल नृत्यसमाज में राग-रागनियों के गाने में ही था' इतना ही कहा गया है। राज-दण्ड और भेद-नीति का निषेध शब्द द्वारा नहीं किया गया है,—व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होता है।

प्रश्न-रहित वाच्य निषेध—

आनंदाश्रू बिन घन ! जहाँ अन्य अश्रू कहीं न,
संयोगांती-स्मर-रुज बिना ताप है दूसरी न,
क्रीड़ा ही की कलह तज वे दूर होते कभी न,
हैं यक्षों के वयस न कभी अन्य तारुण्य-हीन[2] ॥४८७॥

---

१ 'दण्ड' का एक अर्थ तो है—दण्डी स्वामी संन्यासियों के हाथ में रखने का बाँस का दण्ड, और दूसरा अर्थ है—राजा द्वारा अपराधियों को दिया जाने वाला दण्ड-कारागार आदि। भेद का भी यहाँ एक अर्थ तो है गाने की राग रागनियों का भेद और दूसरा अर्थ है भेद नीति, जिसके द्वारा विद्वेषियों में परस्पर फूट डाली जाती है।

२ अलका में यक्षों के केवल आनन्द-जनित अश्रुपात ही छुटते हैं-किसी दुःख के कारण नहीं, ताप भी उनको केवल कामजनित होता है जो अपने प्रेमपात्र का संयोग होने पर दूर हो जाता है—अन्य ताप नहीं। कलह भी वहाँ काम-क्रीड़ा में दम्पतियों के ही होता है—अन्य कारण से नहीं, और उनकी अवस्था भी सर्वथा तरुण ही रहती है—वे वृद्ध कभी नहीं होते हैं।

अलका के वर्णन में आनन्द के अश्रुपात आदि कहे गये हैं और शोक आदि अन्य अश्रुओं का निषेध शब्द द्वारा किया गया है, अतः निषेध वाच्य है।

भारतीभूषण में परिसंख्या का लक्षण यह लिखा है कि—

'जहाँ किसी वस्तु को उसके योग्य स्थान से हटाकर किसी अन्य स्थान पर स्थापित की जाय वहाँ परिसंख्या अलङ्कार होता है।' किन्तु यह तो किसी अंश में 'अपह्नुति' का लक्षण हो सकता है। परिसंख्या का यह लक्षण नहीं हो सकता। क्योंकि परिसंख्या में कोई वस्तु योग्य स्थान से हटाकर अन्यत्र स्थापित नहीं की जाती है, किन्तु प्रमाणान्तर से सिद्ध वस्तु का अन्यत्र निषेध किया जाता है।

कुछ आचार्यों का मत है कि जहाँ अन्य का निषेध प्रतीयमान होता है, वहीं 'परिसंख्या' अलंकार होता है। जहाँ शब्द द्वारा स्पष्ट निषेध किया गया हो, वहाँ केवल परिसंख्या है, परिसंख्या अलंकार नहीं होता, अतः उनके मतानुसार—'है भूषण क्या यश, नहीं रत्न आभूषण' (संख्या ४८२) ऐसे उदाहरणों में, जहाँ शब्द द्वारा स्पष्ट निषेध किया गया है, परिसंख्या अलंकार नहीं होता—केवल परिसंख्या है। कुछ आचार्यों का तो यह भी मत है कि प्रतीयमान निषेध भी जहाँ कवि-प्रतिभा-जन्य चमत्कारक हो वहीं 'परिसंख्या' अलंकार माना जा सकता है, क्योंकि यदि ऐसा न माना जायगा तो—'है न सुधा यह किन्तु है सुधा रूपसत्संग'[१] (संख्या १९७) इत्यादि पर्यस्तापह्नुति अथवा दृढ़ारूपक के उदाहरण भी परिसंख्या अलंकार के ही हो जायेंगे—कुछ भी भेद नहीं रहेगा। अतः 'दंड यतिन कर भेद जँह नर्तकनृत्यसमाज' (संख्या ४८६)

१कुवलयानन्द में इस दोहा के आशय का श्लोक पर्यस्तापह्नुति के उदाहरण में दिया गया है और रसगंगाधरकार पण्डितराज इसमें दृढ़ारोप रूपक मानते हैं।

ऐसे उदाहरणों में ही परिसंख्या अलंकार माना जा सकता है, जहाँ प्रतीयमान निषेध चमत्कारक होता है।[1]

(५५) विकल्प अलङ्कार

तुल्य बल वाली परस्पर विरोधी वस्तुओं को जहाँ एक ही काल में एकत्र स्थिति में विरोध होता है वहां विकल्प अलङ्कार होता है।

विकल्प का अर्थ है 'यह या वह'[2]। विकल्प अलंकार में तुल्य बल वालों की एकत्र—एक स्थल पर स्थिति में विरोध होने के कारण सादृश्य-गर्भित विकल्प कहा जाता है अर्थात् 'यह या वह' इस प्रकार का वर्णन होता है।

पांडु-व्यूह-बीरन प्रसिद्ध रनधीरन कौं,
तीरन विद्धीरन कै धीरज छुटैहौं मैं।
पारथ के सस्त्र औ अस्त्रन अकारथ करि,
सारथि हू तथा रथ हांकन भुलैहौं मैं।
कीन्हीं हौं भीषम महाभीषम प्रतिज्ञा ताहि,
गाजि कहौं आजि करि पूरन दिखैहौं मैं।
कै तो हरि-हाथन मैं सस्त्र पकरैहों आज,
कै लै कवौं पान धनु-बान न उठैहौं मैं ॥४८८॥

यहाँ भीष्मजी की प्रतिज्ञा में श्रीकृष्ण को शस्त्र ग्रहण कराना और धनुष-बाण को फिर कभी न उठाना ये दोनों तुल्य बल हैं। ये दोनों बातें एक काल में नहीं हो सकतीं अतः विरोध है। क्योंकि श्रीकृष्ण के

---

१ देखो रसगंगाधर में परिसंख्या अलंकार का प्रकरण ॥

२ 'अनेन वान्येनेति विकल्पः' ।—कौटिल्य अर्थशास्त्र ॥

शस्त्र धारण कर लेने पर भीष्मजी द्वारा धनुष-बाण का त्याग सम्भव नहीं और भीष्मजी द्वारा धनुष-बाण का त्याग भी तभी सम्भव है जब श्रीकृष्ण द्वारा शस्त्रों का ग्रहण न किया जाय। इसीलिये यहाँ चतुर्थ चरण में 'कै' के प्रयोग द्वारा विकल्प कहा गया है। भीष्मजी की प्रतिज्ञा के पूर्ण करने में श्रीकृष्ण का शस्त्र-धारण करना और भीष्मजी का धनुष-बाण न उठाना यह दोनों समान होने के कारण इन दोनों में सादृश्य गर्भित है

"वीर अभिमन्यु ! मन्यु मन में न हूज्यौ मानि;
जानि अब रन कौ बिधान किमि पैहौं मैं।
पायौ पैठि संग हूँ न रंग-भूमि हूँ मैं अब;
जैहै तहाँ को तब जहाँ अब सिधैहौं मैं।
कालिह चंन्द्र-व्यूह पैठिबे के पहिलें ही तुम्हें,
हाल रन-भूमि को उताल पहुँचैहौं मैं।
कै तो तब विजय जयद्रथ सुनैहै जाय,
कै तो लै पराजय-प्रलाप आप ऐहौं मैं ॥"४८९॥ [१७]

मृत अभिमन्यु के प्रति अर्जुन की इस उक्ति में चतुर्थ पाद में विकल्प अलंकार है। जहाँ सादृश्य के चमत्कार के बिना केवल विकल्प होता है वहाँ अलंकार नहीं होता है। जैसे—

"कर्तव्य अपना इस समय होता न मुझको ज्ञात है,
भय और चिंता युक्त मेरा जल रहा सब गात है;
अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिये,
या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिये ॥"४९०॥ [५०]

अपने वध की अर्जुन द्वारा की गई प्रतिज्ञा को सुनकर जयद्रथ ने दुर्योधन के प्रति कहे हुए—'या तो मेरी रक्षा कीजिये या अन्यत्र जाने दीजिये' इस वाक्य में केवल विकल्प है—अलंकार नहीं।

अलंकारआशय और भारतीभूषण में विकल्प अलंकार का—

"एती सुबास कहां अनतें वहकी इन भांतिन को बरछै है,
आबत है वह रोज समीर लिये री सुगंधन को जु दलै है,
देखि अली ! इन भांतिन कीअलि-भीरन और सुकौन न ह्वै है,
कै उत फूलन को बन होइगो, कै उन कुंजन राधिका ह्वै है॥" ४९१॥[३]

यह उदाहरण दिया है। इसमें भी केवल विकल्प है—अलंकार नहीं। विकल्प अलंकार वही होता है जहाँ परस्पर विरोधी दो वस्तुओं की एकत्र स्थिति असम्भव होने पर विरोध होता है। इस पद्य में वायु के सुगन्धित करने और भृंगावली के होने में राधिकाजी का वहाँ होना या फूलों के बाग का वहाँ होना समान बल मात्र है—इनकी एकत्र स्थिति असम्भव न होने के कारण विरोध नहीं—दोनों के एकत्र होने पर भी वायु का सुगन्धित होना और भृँगावली का वहाँ होना सम्भव है।

(५६) समुच्चय अलङ्कार

किसी कार्य के करने के लिए एक साधक होते हुए दूसरे साधक का भी कथन किया जाय वहाँ 'समुच्चय अलङ्कार' होता है।

समुच्चय का अर्थ है एक साथ इकट्ठा होना। समुच्चय अलंकार में किसी कार्य को सिद्ध करने के लिए एक कर्त्ता के होते हुए दूसरे कर्त्ता या कर्ताओं का अहमहमिकया अर्थात् परस्पर स्पर्द्धा युक्त होकर उस कार्य को सिद्ध करने के लिए इकट्ठा हो जाना कहा जाता है।

यह पूर्वोक्त विकल्प अलंकार के विपरीत है—विकल्प में समान बल वालों की एक ही काल में एकत्र स्थिति होने में विरोध होता है और समुच्चय में समान बल वालों की एक काल में एकत्र स्थिति होती है।

यह तीन प्रकार का होता है—

(१) सद्योग, अर्थात् उत्तम-साधकों का योग होना।

(२) असद्योग, अर्थात् असत्-साधकों का योग होना।

(३) सद् असद् योग, अर्थात् सत् और असत् दोनों का योग होना।

सद्योग—

रमारमण के चरण-कमल से जन्म तुम्हारा है रमणीय,
उमारमण के जटा-जूट में है निवास भी आदरणीय;
पतितों को पावन करने का व्यसन एक ही है अ-समान;
भागीरथी! क्यों न तेरा फिर हो त्रिभुवन उत्कर्ष महान ॥४६२॥

श्री भगवत्चरण से उत्पत्ति, श्री शिव के मस्तक का निवास और पतित-जनों को उद्धार करने का व्यसन, इनमें एक साधक से भी श्री गङ्गा का उत्कर्ष सिद्ध है, पर यहाँ ये सारे साधक उसी उत्कर्ष के लिए स्पर्धा से इकट्ठे आ पड़े हैं, अतः इनका समुच्चय है। यहाँ सब उत्तम साधक हैं।

"तात-वचन पुनि मातु-हित भाइ भरत अस राउ,
मोकहँ दरस तुम्हार प्रभु! सब मम पुन्य प्रभाउ॥"४६३॥[२२]

पिता—दशरथ की आज्ञा, माता कैकई की इच्छा, भरत जैसे भाई को राज्य की प्राप्ति और मुनिजनों के दर्शन इन चारों में श्रीरामचन्द्रजी के बन जाने के लिए एक ही साधक पर्याप्त था पर यहाँ तो इन चारों का समुच्चय हो गया है।

असद्योग—

कुसुमायुध-बान-कृसानु[१] बढ़ी मलयानिल[२] हू धधकाय रह्यो,
ढिग कंत न हंत! बसंत समौ पिक कूक दिगंत सुनाय रह्यो,

---

१ कामदेव के बाणों की ज्वाला। २ मलय-मारुत।

फिर हौं सु-कुला नव हौं नवला अबलापन धीर छुटाय रह्यो,
सखि हू न प्रवीन समीप अहो! बिरहानल क्यों अब जाय सह्यो ॥४६४॥

विरहिणी को तापकारक होने के कारण यहाँ वसन्त-काल और नव-यौवन इन सारे असतों का समुच्चय है।

"धन, जोबन, बल, अज्ञता मोह-मूल इक एक,
'दास', मिलैं चारयों जहाँ पैये कहां विवेक ॥"४६५॥ [४६]

धन और यौवन आदि चारों में एक का होना ही उचित अनुचित का विचार न रहने के लिए पर्याप्त है पर यहाँ इन चारों असतों का समुच्चय होना कहा गया है।

सद्असद्योग—

दिन को दुति-मंद सु चंद, सरोवर जो अरविंद बिहीन लखावै,
गत जोबन की रमनी अरु जो रमनीय हु ह्वै न प्रबीनता पावै,
धनबान परायन ह्वै धन में जन-सज्जन जाहि दरिद्र दबावै,
खल राज-सभा-गत सातहु ये लखि कंटक लौं हिय में चुभि जावै॥४६६॥

यहाँ द्युति-मंद चन्द्र आदि सात कण्टकों का समुच्चय है। एक मत है कि इन सातों में चन्द्र आदि शोभन और मूर्ख आदि अशोभनों का सत्-असत् योग है। किन्तु इस मत के अनुसार चन्द्र आदि शोभन का और मूर्ख आदि अशोभन का योग माना जाय तो सातों कण्टक नहीं कहे जा सकते। अतएव दूसरा मत है कि चन्द्र आदि स्वयं शोभन हैं और उनमें द्युतिमन्द आदि धर्म अशोभन होने के कारण सातों में प्रत्येक में शोभन और अशोभन का योग है। यही मत उचित है।

समुच्चय के इस भेद में और पूर्वोक्त 'सम' अलंकार में यह भिन्नता है कि 'सम' अलंकार में अनेक पदार्थों का यथायोग्य सम्बन्ध मात्र कहा जाता है। समुच्चय में किसी कार्य के करने के लिये समान-बल वाले अनेक पदार्थों का समुच्चय (इकट्ठा हो जाना) होता है। जैसे 'रमारमण

के चरण कमल........(सं० ४६२) में लक्ष्मीनाथ के चरण से उत्पत्ति, श्री शिव के जटा-कलाप में निवास और पतितोद्धार व्यसन इनका श्लाघनीय सम्बन्ध वर्णन अभीष्ट नहीं है, किन्तु श्री गङ्गाजी का उत्कर्ष करने में तीनों का समुच्चय कथन करना अभीष्ट है।

द्वितीय समुच्चय

गुण या क्रिया अथवा गुण-क्रिया दोनों का एक ही काल में वर्णन किये जाने को द्वितीय समुच्चय कहते हैं।

अर्थात् एक से अधिक गुण (निर्मलता आदि) या एक से अधिक क्रियाओं का अथवा गुण और क्रिया दोनों का एक ही काल में एक साथ वर्णन होना।

गुण समुच्चय—

पावस के आवत भये स्याम-मलिन नभ-थान।
रक्त भये पथिकन हृदय पीत कपोल तियान ॥४६७॥

यहाँ पावस के आगमन समय में—एक ही काल में—श्याम, रक्त आदि गुणों का समुच्चय है।

क्रिया-समुच्चय—

"जब ते कुँवर कान्ह! रावरी कलानिधान,
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी।
तब ही ते 'देव' देखो देवता सी हँसति सी
खीझति सी रीझति सी रूसति रिसानी सी।
छौही सी छली सी छीनिलीनी सी छकी सी छीन,
जकी सी टकी सी लगी थकी थहरानी सी।
विंधी सी वधी सी बिष-बूड़ी सी बिमोहित सी,
बैठी वह बकति बिलोकति बिकानी सी॥"४६८॥[२७]

यहाँ रीझति, खीझति आदि अनेक क्रियाओं का समुच्चय है।

यद्यपि कारकदीपक में भी बहुत सी क्रियाओं का कथन होता है, किंतु कारकदीपक में एक के बाद दूसरी क्रिया क्रमशः होती है और समुच्चय में सब क्रियाएँ एक ही साथ होती हैं।

गुण और क्रिया का समुच्चय —

सित पंकज-दल छवि भयो कोप भरे तुव नैन,
सत्रु-दलन पर परतु हैं और कलुष दुख दैन ॥४९९॥

यहाँ 'कलुष' गुण और 'परतु' क्रिया का एक साथ कथन होने से गुण और क्रिया का समुच्चय है।

(५७) समाधि अलंकार

आकस्मिक कारणान्तर के योग से कर्त्ता को कार्य की अनायास सिद्धि होने को समाधि अलंकार कहते हैं।

समाधि का अर्थ है सुख पूर्वक किया जाना[1]। समाधि अलंकार में काकतालीय न्याय[2] के अनुसार अकस्मात् दूसरे कारण या अन्य कर्ता की सहायता से प्रधान कर्त्ता द्वारा आरम्भ किये गये कार्य का अनायास सुखपूर्वक सिद्ध हो जाना कहा जाता है।

पूर्वोक्त समुच्चय अलंकार में एक कर्ता के होते हुए समान बलवाले अन्य कर्ता परस्पर स्पर्धा से इकट्ठे हो जाते हैं और समाधि अलंकार में किसी कार्य का आरम्भ करने वाले एक ही प्रधान कर्ता का अन्य साधक अचानक सहायक हो जाता है।

---

१ 'सम्यक् आधिः आधानं (उत्पादनं) समाधिः।'—काव्यप्रकाश बालबोधिनी पृ० ८७२। २ कौए के ताल के वृक्ष पर बैठने से ताल के फलके अचानक पृथ्वी पर गिर जाने जैसी अचानक घटना को काकतालीय न्याय कहते हैं।

आचार्य दण्डी और महाराजा भोज ने इसका समाहित नाम लिखा है।

उदाहरण—

मान मिटावन हित लगे विनय करन घनश्याम,
तौलौं चहुँ दिसि उमड़ि के नभ छाये घन श्याम ॥५००॥

राधिकाजी का मान दूर करने की चेष्टा घनश्याम—श्रीकृष्ण कर ही रहे थे उसी समय आकाश में अकस्मात् कामोद्दीपक मेघ-घटा के हो आने पर मान का सुखपूर्वक छूट जाना कहा गया है।

यह उदाहरण दैवकृत आकस्मिक कारण का है। इसके सिवा दैवकृत आकस्मिक कारण के बिना भी समाधि अलङ्कार होता है। जैसे—

जुग पानिप पूरन पीन पयोधर कंचन कुंभ विभूषित हैं,
दृग चंचल कंज विलोकन मंजुल वंदनवार तनी जित है,
स्मित-फूलन की वरषा बरसै पिय आगम हेत प्रमोदित है,
रमनी-तन की छवि सौं सहजैं भये मंगल साज सुसोभित है ॥५०१॥

विदेश से आते हुए अपने पति का स्वागत करने का आरम्भ करने वाली नायिका द्वारा पति के सम्मुख दो घट, वंदनवार और पुष्पों की वर्षा आदि मङ्गल कार्यों का नायिका के अङ्गों द्वारा अनायास स्वयं सिद्ध हो जाना कहा गया है। यहाँ दैवकृत कारणान्तर द्वारा नहीं, किन्तु नायिका की अङ्ग-शोभा द्वारा कार्य सिद्ध हुआ है।

(५८) प्रत्यनीक अलङ्कार

साक्षात् शत्रु के जीतने में असमर्थ होने के कारण शत्रु के सम्बन्धी का तिरस्कार किये जाने को प्रत्यनीक अलङ्कार कहते हैं।

'प्रत्यनीक' शब्द 'प्रति' और 'अनीक' से बना है। 'प्रति' का अर्थ यहाँ प्रतिनिधि है[१]। और 'अनीक' का अर्थ है सैन्य[२]। अतः प्रत्यनीक का अर्थ है सैन्य का प्रतिनिधि। यहाँ सैन्य का अर्थ लक्षणा द्वारा 'शत्रु' ग्रहण किया गया है अर्थात् शत्रु का प्रतिनिधि। प्रत्यनीक अलङ्कार के लक्षण के अनुसार शत्रु के प्रतिनिधि अर्थात् सम्बन्धी का तिरस्कार किया जाता है। प्रत्यनीक में शत्रु के सम्बन्धी दो प्रकार के होते हैं—

साक्षात् सम्बन्धी। अर्थात् शत्रु के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले का तिरस्कार किया जाना।

परम्परागत सम्बन्धी। अर्थात् शत्रु के सम्बन्धी के साथ सम्बन्ध रखने वाले का तिरस्कार किया जाना।

साक्षात् सम्बन्धी का तिरस्कार—

अपने रम्य रूप से तुमने विगलितदर्प किया कंदर्प,
रहती है अनुरक्त तुम्हीं में वह रमणी रमणीय सदर्प,
कुसुमायुध निज सुमन-शरों से सज्जित कर पुष्पों का चाप,
चलता है बश नहीं आप पर अतः दे रहा उसको ताप ॥५०२॥

नायक के प्रति दूती के वाक्य हैं। अपने से अधिक सौन्दर्यशाली नायक को जीतने में असमर्थ होकर कामदेव द्वारा उस (नायक) में अनुरक्त रहने वाली नायिका को संतप्त किया जाना कहा गया है। यहाँ नायक के साथ नायिका का साक्षात् सम्बन्ध है।

"जहर-सलाह अरु लाखा-गृह-दाह अरु,
द्रोपदी की आह सौं कराह जिय जारयो तैं[३]।
छहौं फिर फेर सुत जेर कर मारयो हेर[४]
बीन[५] सब बैर दाब विहद विचारयो तैं।

---

१ 'प्रति प्रतिनिधौ वीप्सालक्षणादौ प्रयोगतः।'—अमरकोश।
२ 'अनीकोऽस्त्री रणे सैन्ये।'—मेदिनीकोश।
३ तूने अपना हृदय जलाया। ४ देखकर। ५ चुनचुन कर।

मूल-ग्रंथ धारयो कै स-टीक ग्रंथ धारयो धीर !
प्रत्यनीकालंकृति कौं प्रकट पसारयो तें।
भीम-पन रुमारयो कुरु-भूप कौंन मारयो वाकौ—
प्रान-प्रिय मारयो रन करन पछारयो तें॥"५०३॥[८]

यह अर्जुन के प्रति श्रीकृष्ण के वाक्य हैं। दुर्योधन की जंघा विदीर्ण करने की भीमसेन की प्रतिज्ञा के कारण दुर्योधन को मारने में असमर्थ अर्जुन द्वारा दुर्योधन के परम-प्रिय कर्ण का बध किया जाना कहा गया है। दुर्योधन के साथ कर्ण का साक्षात् सम्बन्ध है।

परंपरागत सम्बन्धी का तिरस्कार—

"तो मुख-छवि सौं हारि जग भयो कलंक समेत,
सरद-इन्दु अरविंदमुखि! अरविंदनि दुख देत॥"५०४॥[४८]

कंजमुखी नायका की मुखि-कान्ति द्वारा पराजित चन्द्रमा द्वारा मुख के साथ परम्परागत सादृश्य सम्बन्ध रखने वाले कमलों को दुःख दिया जाना कहा गया है।

यद्यपि 'प्रत्यनीक' सभी ग्रन्थों में स्वतन्त्र अलंकार माना गया है। पर इसके साथ हेतूत्प्रेक्षा अवश्य लगी रहती है। प्रत्यनीक में और हेतूत्प्रेक्षा में यही भेद माना गया है कि प्रत्यनीक में शत्रु के सम्बन्धी का तिरस्कार किये जाने का विशेष (खास) चमत्कार है, किन्तु पण्डितराज इसे हेतूत्प्रेक्षा के अन्तर्गत ही मानते हैं।

भारतीभूषण में प्रत्यनीक का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—
"बरन स्याम, तम नाम तम उभय राहु सम जान,
तिमिरहि ससि सूरज ग्रसत निसिदिन निश्चय मान॥"५०५॥[२]

इसमें प्रत्यनीक नहीं, क्योंकि चन्द्रमा और सूर्य द्वारा तम को शत्रु (राहु) का सम्बन्धी समझ कर उसका (तम का) ग्रसन करना नहीं कहा है, किन्तु तम को 'निसिदिन निश्चय मान' के प्रयोग द्वारा

निश्चय रूप से राहु समझ कर ग्रसन कहा गया है। अतः यहाँ प्रत्यनीक नहीं है यदि यह दोहा—

राहू तें न बसात कछु प्रबल सत्रु निज जानि,
तिमिरहि ससि-सूरज ग्रसत तुल्य-नाम 'तम' मानि ॥५०६॥

इस प्रकार कर दिया जाय तो इसमें 'प्रत्यनीक' अलंकार हो जाता है—इसमें तम को (अन्धकार को) निश्चत रूप से राहु न जान कर राहु के साथ 'तम' नाम की समानता का सम्बन्ध अन्धकार में मान कर राहु के सम्बन्धी तम का तिरस्कार कहा गया है।

(५६) काव्यार्थापत्ति अलंकार

दण्डापूपिका न्याय के अनुसार किसी कार्य की सिद्धि के वर्णन को काव्यार्थपत्ति अलंकार कहते हैं।

'आपत्ति' का अर्थ है आ पड़ना। अर्थापत्ति का अर्थ है अर्थ का आ पड़ना। इस अलंकार में किसी एक अर्थ की सिद्धि के सामर्थ्य से दूसरे अर्थ की सिद्धि स्वयं आ पड़ती है—हो जाती है। जैसे 'मूसा दण्ड को खा गया' ऐसा कहने पर दण्ड से चिपके हुए मालपूओं का मूसे द्वारा खाया जाना स्वतः सिद्ध हो जाता है। दण्डापूपिका न्याय इसीको कहते हैं। उसी प्रकार यहाँ 'जिसके द्वारा कोई कठिन कार्य सिद्ध हो सकता है उसके द्वारा सुगम कार्य सिद्ध होना क्या कठिन है' ऐसा वर्णन किया जाता है।

उदाहरण—

सुत मिस हू हरि नाम लै कटी अजामिल पास,
सुमिरत श्रद्धा सौं उन्हैं कहाँ जु जम की त्रास ॥५०७॥

पुत्र का नाम कहने मात्र से यम के पाश का कटना कठिन कार्य है, किन्तु जब अपने पुत्र 'नारायण' का नाम कहने मात्र से ही

अजामिल का यम-पाश कट गया तब जो श्रद्धायुक्त हो श्री हरिनाम-कीर्तन करते हैं उनके यमराज की त्रास का नष्ट होना स्वतः सिद्ध हो जाता है।

कामिनि जुगुल-उरोज ये निकसे निज-हिय-भेद,
औरन हिय भेदन करत इनहिं कहा चित खेद ॥५०८॥

'जिन उरोजों ने अपना हृदय-भेदन किया है, हृदय चीरकर निकले हैं', इस कथन के द्वारा दूसरे के हृदय का भेदन करने में उनको दुःख का होना स्वतः सिद्ध कहा गया है।

"लाज को लेप चढ़ाई के अंग पची सब सीख को मंत्र सुनाइकै,
गारुड़ ह्वै ब्रज-लोग थक्यो करि औषध बेसक सौंह दिवाइकै,
ऊधौ सों को 'रसखान' कहै जिन चित्त धरौ तुम ऐसे उपायकै,
कारे विसारे को चाहै उतार्यो अरे! विष बावरे राख लगायकै॥"५०९॥[५२]

यह गोपीजनों की उक्ति है कि 'श्रीकृष्ण रूप काले विषधर—सर्प के विष से व्याकुल हम लोगों पर जब शिक्षा रूपी गारुडीय मन्त्रों आदि के उपचार का भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ा' इस कथन द्वारा 'तब हम लोगों पर उद्धवजी के द्वारा ज्ञान के उपदेश का क्या प्रभाव हो सकता है' इस बात का स्वयं सिद्ध होना कहा गया है।

काव्यार्थापत्ति अलंकार श्लेष-मूलक होता है तो अधिक चमत्कारक हो जाता है। जैसे—

तरुनी-स्तन मंडल लग्यो लोटत हार लखात
है मुक्तन की यह दसा का रसिकन की बात ॥५१०॥

इस पद्य में 'मुक्तन' पद श्लिष्ट है—इसके 'मोती' और 'मुक्त जन' दो अर्थ हैं।

(६०) काव्यलिङ्ग अलंकार

जहाँ कारण की वाक्यार्थता और पदार्थता होती है वहां 'काव्यलिङ्ग' अलङ्कार होता है।

'काव्यलिंग' में 'काव्य' और लिंग' दो शब्द हैं। लिंग' शब्द का अर्थ है हेतु अर्थात् कारण। 'काव्य' शब्द का प्रयोग यहाँ तर्कशास्त्र में माने हुए 'लिंग' से पृथकता करने के लिए किया गया है। क्योंकि तर्कशास्त्रवाले 'लिंग' में कुछ चमत्कारक वर्णन नहीं होता, और काव्यलिंग अलङ्कार में जिस बात को सिद्ध करना सापेक्ष होता है उसको सिद्ध करने के लिये चमत्कार पूर्वक उसका कारण वाक्य के अर्थ में अथवा पद के अर्थ में कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है—

(१) वाक्यार्थता अर्थात् सारे वाक्य के अर्थ में कारण कहा जाना।

(२) पदार्थता अर्थात् एक पद के अर्थ में कारण कहा जाना।

वाक्यार्थता का उदाहरण—

सब तीरथ चित्त ! लजावतु हैं रु सँकावतु जाहि उधारन कौं,
कर कानन लावतु हैं सब देव विनावतु नैंक निहारन कौं,
करुना करि गंग ! उमंग भरी हो अहो ! अस मोहि उधारन कौं,
तुम गर्व बिदारन हो करती सबक, अघ-औघ निवारन कौं. ॥५११॥

यहाँ चौथे पाद में श्रीगंगाजी को सारे तीर्थ और देवताओं का गर्व विदीर्ण करनेवाली कहा गया है, इस बात को सिद्ध करने के लिये इसका कारण पहिले के तीनों पादों के सारे वाक्यार्थ में कहा गया है। अर्थात् इस कथन से गर्व-हरण करने के कथन की सिद्धि की गई है।

"कनक[1] कनक[2] तें सौगुनी मादकता अधिकाय,
वह खाये बौरात है यह पाये बौराय ॥"५१३॥[४३]

धतूरे से सोने को सौगुना अधिक मादक कहने का कारण उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ में कहकर इस कथन को सिद्ध किया है।

"अब रहीम मुसकिल पड़ी गाढ़े दोऊ काम;
साँचे सों तो जग नहीं झूठे मिलें न राम [५४]

यहाँ पूर्वार्द्ध के वर्णन का कारण उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ में कहा गया है।

पदार्थता का उदाहरण—

"जिन उपाय औरें करें यहै राख निरधार,
हिय वियोग-तम टारि विधु-बदनी वह नार ॥"५१४॥[४२]

यहाँ वियोग रूप तम को दूर करने का कारण विधु-वदनी (चन्द्र-मुखी) इस एक पद के अर्थ में कहा गया है।

काव्यलिंग में जो 'कारण' कहा जाता है उस कारण का 'कारण' सूचक शब्द द्वारा प्रयोग नहीं किया जाता है—उसका अर्थ द्वारा बोध हुआ करता है[3]। अतः—

रक्षक और सुशिक्षक—
पालक भी प्रजा के असाधारण थे,
अतः दिलीप पिता थे
निज-पिता केवल जन्म के कारण थे ॥५१५

यहाँ 'अतः' शब्द के प्रयोग द्वारा कारणता स्पष्ट कह दी गई है। यहाँ यह अलङ्कार नहीं है।

---

१ सुवर्ण। २ धतूरा।

३ 'गम्यमानहेतुत्वकस्यैव हेतोः सुन्दरत्वेन प्राचीनैः काव्यलिङ्गताऽभ्युपगमात्।' उद्योत टीका काव्यलिङ्ग-प्रकरण।

'परिकर' और काव्यलिंग का पृथक्करण—

पूर्वोक्त परिकर अलङ्कार में पदार्थ या वाक्यार्थ के बल जो अर्थ व्यंजना से प्रतीत होता है वही वाच्यार्थ को पोषित करता है, जैसे 'परिकर' के—

> कलाधार द्विजराज तुम ताप-हरन विख्यात,
> क्रूर-करन सों दहत क्यों मो अबला के गात ॥५१६॥

इस पूर्वोक्त उदाहरण में चन्द्रमा के 'कलाधर' आदि विशेषण हैं, इसके व्यंग्यार्थ में जो 'चन्द्रमा का' महत्व प्रतीत होता है वही विरहिणी के उपालम्भ रूप वाच्यार्थ को पुष्ट करता है, केवल कलाधार आदि शब्द नहीं। पर काव्यलिंग में साक्षात् पदार्थ या वाक्यार्थ ही कारण भाव को प्राप्त होते हैं। जैसे काव्यलिंग के पूर्वोक्त संख्या ५११ के उदाहरण में वक्ता का उद्धार करने को उद्यत श्री गंगाजी द्वारा सब तीर्थों का गर्व निवारण करने को 'सब तीरथ चित्त लजावतु हैं—' इत्यादि वाक्यों का वाच्यार्थ है, वही पर्याप्त कारण है, इन वाक्यों के वाच्यार्थ के सिवा इसमें किसी व्यंग्यार्थ की प्रतीति की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य मम्मट ने काव्यलिंग के अन्तर्गत ही हेतु या काव्यहेतु भी माना है[1]। और आचार्य दण्डी तथा महाराजा भोज ने काव्यलिंग को 'हेतु' अलङ्कार के अन्तर्गत कारकहेतु नाम से लिखा है। और 'हेतु' के भाव-साधन और अभाव-साधन आदि उपभेद लिखे हैं। 'कविप्रिया' में भी हेतु अलंकार दण्डी के काव्यादर्श के मतानुसार लिखा है। किन्तु सम्भवतः महाकवि केशव ने दण्डी के हेतु का स्वरूप नहीं समझा अतः वे उदाहरण देने में सफल नहीं हो सके हैं। दण्डी ने अभाव हेतु का—

> करि कंपित चंदन बनहिं परसि मलय गिरि स्रोत,
> पथिकन के जिय लैन यह मारुत भयो उदोत ॥५१७॥

१ देखिये काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका काव्यलिङ्ग की व्याख्या।

इस आशय का उदाहरण देकर कहा है कि मलय-पवन को पथिकों के प्राण-हरण (अभाव) का साधन कहा जाने के कारण यहाँ अभाव-साधन हेतु अलंकार है। कविप्रिया में अभाव-हेतु का—

"जान्यो न मैं मद जोबन को उतर्यो कब काम को काम गयोई,
छाँड़न चाहत जीव कलेवर जोर कलेवर छाँड़ि दयोई;
आवत जात जरा दिन लीलत रूप जरा सब लीलि लयोई;
'केसव' राम ररौं न ररौं अनसाधे ही साधन सिद्ध भयोई॥"५.१८॥ [७]

यह उदाहरण दिया है। इसमें राम नाम के स्मरण करने रूप कारण के बिना ही काम का नष्ट होना आदि कार्य कहे गये हैं, जैसा कि 'अनसाधे ही साधन सिद्ध भयोई' के प्रयोग द्वारा स्पष्ट है कारण के अभाव में कार्य का होना तो विभावना अलङ्कार का विषय है। अतः यहाँ अभाव हेतु नहीं। इसी प्रकार भाव-अभाव हेतु का कवि प्रिया में—

"जा दिन ते वृषभानुलली हि अली! मिलिये मुरलीधर तें ही
साधन साधि अगाध सबै बुधि सोधि औ दूत अभूतन में ही,
ता दिन तें दिनमान दुहुँन के 'केसव' आवत बात कहे ही;
पीछै अकास प्रकासै ससी, बढ़ि प्रेम समुद्र रहै पहिले ही॥"५.१९॥ [७]

यह उदाहरण दिया है। इस पद्य में काव्यादर्श के—

"पश्चात्पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमण्डलम्,
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागरः ॥"

—काव्यादर्श २।२५७

इस पद्य से भाव लिया गया है। किन्तु दण्डी ने इसे चित्र-हेतु के उदाहरण में दिया है न कि भाव-हेतु के उदाहरण में। यद्यपि इसमें कार्य-कारण पौर्वापर्य-विपर्यय रूप अतिशयोक्ति (अत्यन्तातिशयोक्ति) है। पर दण्डी ने इसको अतिशयोक्ति के भेदों में न लिखकर चित्र हेतु के अन्तर्गत लिखा है।

भारतीभूषण में काव्यलिंग का यह लक्षण लिखा है 'समर्थनयोग्य कथितार्थ का ज्ञापक कारण द्वारा समर्थन किया जाना।' किन्तु 'ज्ञापक' कारण अनुमान अलंकार में होता है, न कि काव्यलिंग में[१]।

(६१) अर्थान्तरन्यास अलंकार

सामान्य[२] का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से साधर्म्य अथवा वैधर्म्य से समर्थन किये जाने को 'अर्थान्तरन्यास' कहते हैं

अर्थान्तरन्यास का अर्थ है अर्थान्तर (अन्य अर्थ) का न्यास अर्थात् रखना। अर्थान्तरन्यास अलङ्कार में एक अर्थ (सामान्य या विशेष) का समर्थन करने के लिये अन्य अर्थ (विशेष या सामान्य) रक्खा जाता है। अर्थात् सामान्य वृत्तान्त को विशेष वृत्तान्त द्वारा और विशेष का सामान्य वृत्तान्त द्वारा समर्थन किया जाता है। यह चार प्रकार का होता है—

(१) सामान्य का विशेष से साधर्म्य से समर्थन।
(२) विशेष का सामान्य से साधर्म्य से समर्थन।
(३) सामान्य का विशेष से वैधर्म्य से समर्थन।
(४) विशेष का सामान्य से वैधर्म्य से समर्थन।

सामान्य का विशेष से साधर्म्य से समर्थन—

लागत निज-मन दोष तें सुंदर हू विपरीत,
पित्त-रोग-बस लखत नर स्वेत संखहू पीत ॥५२०॥

---

१ "हेतुस्त्रिधा भवति ज्ञापको निष्पादको समर्थकश्चेति। तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः।"—साहित्यदर्पण काव्यलिंग-प्रकरण।

२ सब लोगों से साधारणः सम्बन्ध रखने वाली बात को सामान्य और किसी विशेष (खास) एक व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाली बात को विशेष कहते हैं।

'अपने चित्त के दोष से सुंदर वस्तु भी बुरी लगती है' इस सामान्य बात का यहाँ पित्त-रोग (पाण्डुरोग) वाले को सफेद शंख भी पीला दिखाई देता है' इस विशेष (खास) अर्थ के कथन द्वारा समर्थन किया गया है। यहाँ पूर्वार्द्ध में 'लागत' और उत्तरार्द्ध में 'लखत' यह दोनों क्रियाएँ साधर्म्य से कही गई हैं।

"रहिमन नीच कुसंग सों लगत कलंक न काहि,
दूध कलारी-कर लखै को मद जानै नाहि ॥"५२१॥ [५४]

यहाँ पर्वार्द्ध के सामान्य वृत्तान्त का उत्तरार्द्ध में दूध और कलारी के विशेष वृत्तान्त द्वारा समर्थन किया गया है।

विशेष का सामान्य से साधर्म्य से समर्थन—

पा के वायू यदि घन ! वहाँ देवदारू घिसावें,—
हो दावाग्नि-ज्वलित चमरी-चामरों को जलावें—
तो उसका तू बरस, करना ताप-निःशेष क्योंकि—
दीनों ही के दुख-दमन को सम्पदा सज्जनों की ॥५२२॥

मेघदूत में मेघ को यक्ष ने यह कहकर कि "हिमालय में वायु-वेग से परस्पर रिगड़ते हुए देवदारु के वृक्षों से उत्पन्न होने वाली दावाग्नि—जो चमरी गऊओं की पूँछ को जलाती है, उसे तू शमन करना" फिर इस विशेष बात का चौथे चरण की सामान्य बात द्वारा समर्थन किया है।

अधम पतित अति नीच जनों का अहो आप करना उद्धार—
छोड़ नहीं सकती हो गंगे ! जिस प्रकार करुणा चित धार,
उसी प्रकार मुझे भी रहता अघ ओघों से प्रेम अपार,
हो सकता क्या जननि ! किसी से निज स्वभाव का है परिहार ॥५२३॥

यहाँ प्रथम के तीन पादों में श्रीगंगाजी के स्वाभाविक कार्यों की ओर

वक्ता ने अपने स्वाभाविक कार्य की जो विशेष बात कही है, उसका चौथे पादों में सामान्य बात द्वारा समर्थन किया है।

"भ्रमरी ! इस मोहन मानस के बस मादक हैं रस भाव सभी
मधु पीकर और मदांध न हों, उडजा बस है अब क्षेम तभी,
पड़ जाय न पंकज-बंधन में निशि यद्यपि है कुछ दूर अभी,
दिन देख नहीं सकते स-विशेष किसी जन का सुखभोग कभी।।"५२४।।[५०]

यहाँ भ्रमरी के विशेष वृत्तान्त का चतुर्थ पाद के सामान्य वृत्तान्त द्वारा समर्थन किया गया है। इस उदाहरण में अर्थान्तरन्यास के साथ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार मिश्रित है।

सामान्य का विशेष से वैधर्म्य से समर्थन—

भगवान यदि रक्षक रहें रक्षा बनी रहती तभी,
अन्य कोई भी किसे क्या है बचा सकता कभी ?
मृत्यु-मुख जाता पहुँच घर में सुरक्षित भी न क्या,
किंतु रहता है बचा रण में अरक्षित भी न क्या ।।५२५।।

यहाँ पूर्वार्द्ध के सामान्य कथन का उत्तरार्द्ध के विशेष कथन द्वारा वैधर्म्य से समर्थन किया गया है। 'सुरक्षित' के साथ 'अरक्षित' का वैधर्म्य है।

विशेष का सामान्य द्वारा वैधर्म्य से समर्थन—

"वारिधि तात हुतो बिधि सो सुत आदित-सोम सहोदर दोऊ,
रंभ रमा भगिनी जिनके मघवा मधुसूदन से बहनोऊ,
तुच्छ तुषार परै नहिं होय इतो परिवार सहाय न सोऊ,
टूटि सरोज गिरै जल में सुख संपति में सबकै सब कोऊ ।।"५२६।।

यहाँ कमल के विशेष वृत्तान्त का चौथे पाद के 'सुख सम्पति में सबकै सब कोऊ' इस सामान्य के कथन द्वारा वैधर्म्य से समर्थन किया गया है।

श्लेष मिश्रित अर्थान्तरन्यास बहुत मनोरंजक होता है—

मलयानिल यह मधुर सुगंधित आ रहा,
सभी जनों के हृदय प्रीति उपजा रहा,
दाक्षिण्य से सम्पन्न जाते हैं वहीं,
होते हैं वे प्रेम पात्र सर्वत्र ही ॥५२७॥

यहाँ 'दाक्षिण्य शब्द श्लिष्ट है—इसके गुणवान (चतुर व्यक्ति) और दक्षिण दिशा से सम्बन्ध रखने वाला पवन—ये दो अर्थ है।

शरद में अनुरक्त विकसित चन्द्रमा को देखकर,
प्रभा-हत प्रावृट विचारी गई होकर विकलतर,
क्योंकि हो जाते पयोधर रमणियों के भ्रष्ट जब,
है कहाँ प्रिय-प्रेम का सौभाग्य उनको सुलभ तब[1]॥५२८॥

यहाँ 'पयोधर' और 'भ्रष्ट' शब्द श्लिष्ट है—वर्षा ऋतु के पक्ष में 'मेघ रहित' और कामिनी पक्ष में 'गलित-उरोज' अर्थ है।

अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग का पृथक्करण—

विश्वनाथ का मत है[2] कि हेतु (कारण) तीन प्रकार का होता है[3]। ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक। जहाँ ज्ञापक-हेतु होता है वहाँ

---

१ यहाँ शरद और वर्षा ऋतु को परस्पर में दो सपत्नी नायिका और चन्द्रमा को नायक सूचित किया गया है।

२ देखिए साहित्यदर्पण काव्यलिङ्ग-प्रकरण।

३ वास्तव में हेतु दो प्रकार का होता है ज्ञापक और कारक। ज्ञापक हेतु किसी वस्तु का ज्ञान कराता है जैसे धुआँ अग्नि का ज्ञान कराता है—धुआँ ज्ञापक-हेतु है। और कार्य को उत्पन्न करने वाला कारक-हेतु होता है जैसे 'अग्नि' धुआँ का उत्पादक है, अतः अग्नि कारक-हेतु है। विश्वनाथ ने कारक-हेतु को ही दो भेदों में विभक्त करके उसके निष्पादक

अनुमान अलंकार होता है। जहाँ समर्थक हेतु होता है वहाँ अर्थान्तर-न्यास और जहाँ निष्पादक हेतु होता है वहाँ काव्यलिंग होता है। जैसे काव्यलिंग से पूर्वोक्त—'कनक कनक तें सौ गुनो'……(सं० ५१२) इस उदाहरण में धतूरे को सुवर्ण से अधिक मादक कहने की बात सिद्ध नहीं हो सकती है जब तक कि इसका कारण नहीं कहा जाता, अतः इस वाक्यार्थ को सिद्ध करने की अपेक्षा रहत है, इसीलिये यह कह कर कि 'धतूरे के तो खाने से विक्षिप्त होता है पर सुवर्ण के प्राप्त होने मात्र से प्रमत्त हो जाता है, सिद्ध की गई है, अतः यहाँ पूर्वार्द्ध के वाक्यार्थ का उत्तरार्द्ध का वाक्यार्थ निष्पादक-हेतु होने के कारण काव्य-लिंग है। और अर्थान्तरन्यास में वाक्यार्थ निराकांक्ष रहता है—वाक्यार्थ को सिद्ध करने की अपेक्षा नहीं रहती। जैसे 'पा के वायू'……; (सं० ५२२) में दावाग्नि को शमन करने का जो उपदेश है वह स्वयं सिद्ध है—उसको सिद्ध करने के लिए कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। वहाँ जो—'दीनों ही के दुख दमन को संपदा सज्जनों की' कहा गया है। वह उस उपदेश वाक्य को युक्त-युक्ति बनाने के किए केवल उसका समर्थन करता है। इसी आधार पर आचार्य रुय्यक[1] और विश्वनाथ ने कार्य-कारण भाव द्वारा समर्थन में भी अर्थान्तरन्यास का··

सहसा करिय न काज कछु विपद-मूल अविवेक,
बिना बुलाए आत है संपति जहाँ विवेक ॥५२६॥

इस आशय का उदाहरण दिया है रुय्यक और विश्वनाथ का कहना है—इसमें सम्पत्ति के आने रूप कार्य द्वारा 'सहसा न करना' इस कारण का समर्थन किया गया है। पूर्वार्द्ध में जो उपदेशा-

---

(कही हुई बात को सिद्ध करने वाला) और समर्थक (कही हुई बात का समर्थन करने वाला) दो भेद बतलाये हैं।

१ देखिये अलङ्कारसर्वस्व काव्यलिङ्ग-प्रकरण।

त्मक वाक्य है वह निराकांक्ष है—इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं, अतः यहाँ काव्यलिंग नहीं है।

किन्तु पण्डितराज[1] और काव्यप्रकाश के उद्योत-व्याख्याकार[2] एवं अप्पय्य दीक्षित[3] आदि कार्य-कारण सम्बन्ध द्वारा समर्थन में काव्यलिंग ही मानते हैं, न कि अर्थान्तरन्यास। क्योंकि वाच्यार्थ चाहे साकांक्ष हो अथवा निराकांक्ष यदि कार्य-कारण सम्बंध में भी अर्थान्तरन्यास माना जायगा तो काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास के उदाहरण परस्पर में मिल जायँगे, अतः सामान्य-विशेष सम्बंध में अर्थान्तरन्यास और कार्य-कारण सम्बंध में काव्यलिंग माना जाना ही युक्तियुक्त है।

दृष्टान्त और उदाहरण अलङ्कार से अर्थान्तरन्यास का पृथक्करण

'दृष्टान्त' में समर्थ्य और समर्थक दोनो सामान्य या दोनों विशेष होते हैं। और वहाँ सामान्य का सामान्य से एवं विशेष का विशेष से समर्थन होने में समर्थ्य-समर्थक भाव प्रधान न रहकर बिम्ब-प्रतिबिंब भाव प्रधान रहता है। किन्तु अर्थान्तरन्यास में समर्थ्य और समर्थक दोनों में एक सामान्य और दूसरा विशेष होता है। अर्थात् सामान्य का विशेष से या विशेष का सामान्य से समर्थन होता है और समर्थ्य-समर्थक भाव प्रधान रहता है[4]।

उदाहरण अलङ्कार में 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग होता है और अर्थान्तरन्यास में 'इव' आदि का प्रयोग नहीं होता[5]।

---

१ देखिये रसगंगाधर अर्थान्तरन्यास-प्रकरण।

२ देखिये काव्यप्रकाश की वामनाचार्य-व्याख्या अर्थान्तरन्यास-प्रकरण

३ देखिये कुवलयानन्द अर्थान्तरन्यास-प्रकरण।

४ देखिये उद्भटाचार्य का काव्यालंकारसारसंग्रह बोम्बे सीरीज अंग्रेजी नोट पृ० ६७।

५ देखिये रसगंगाधर अर्थान्तरन्यास-प्रकरण।

(६२) विकस्वर अलङ्कार

विशेष का सामान्य से समर्थन करके फिर उस (सामान्य) का विशेष द्वारा समर्थन किये जाने को विकस्वर अलंकार कहते हैं।

'विकस्वर' का अर्थ है विकाश वाला[1]। विकाश का अर्थ है स्फुट[2]। विकस्वर अलङ्कार में किसी विशेष अर्थ का सामान्य अर्थ से किया गया समर्थन सन्तोषप्रद न मानकर फिर उसको स्फुट करने के लिये (भली प्रकार स्पष्ट करने के लिये) दूसरे विशेष द्वारा— उपमा द्वारा अर्थान्तरन्यास की रीति से—समर्थन किया जाता है।

उपमा द्वारा—

रत्न-जनक हिमवान के कहियत हिम न कलंक,
छिपत गुणन में दोष इक ज्यों ससि-करन ससंक ॥५३०॥

'बहुत से रत्नों को उत्पन्न करने वाले हिमाचल में हिम (बर्फ) का होना कलङ्क नहीं कहा जा सकता' इस विशेष अर्थ का यहाँ 'बहुत से गुणों में एक दोष छिप जाता है' इस सामान्य से समर्थन किया गया है फिर इस सामान्य का 'जैसे चन्द्रमा की किरणों के प्रकाश में शश का चिह्न' इस विशेष वृत्तान्त की उपमा द्वारा समर्थन किया गया है।

"कौरव-दल पांडव सगर-सुत जादौं जेते
जात हू न जाने ज्यों तरैया परभात की।
बली, बेन, अंबरीष, मानधाता, प्रहलाद
कहिये कहाँ लौं कथा राबन जजाति की।

---

१ देखिये अमरकोष की भरत-टीका।
२ 'विकाशो विजने स्फुटे'—अजय कोष और शब्दकल्पद्रुम।

बेहू न बचन पाये काल-कौतुकी के हाथ
भाँति भाँति सेना रची घने दुख घात की।
च्यार च्यार दिनको बचाव सब कोऊ करौ,
अंत लूटि जैहैं जैसे पूतरी[1] बरात की॥"५३१॥

यहाँ 'कौरव आदि भी काल के हाथ से नहीं बच सके' इस विशेष वृत्तान्त का 'चार चार दिन को बचाव सब कोऊ करौ' इस सामान्य वृत्तान्त से समर्थन करके फिर इस सामान्य वृत्तान्त का 'लुटि जैहैं जैसे पूतरी बरात की' इस विशेष वृत्तान्त की उपमा द्वारा समर्थन किया गया है।

अर्थान्तरन्यास रीति से—

काक! कर्ण-कटु-शब्द-किये बिन बैठा रह स्वच्छंद अभी—
आम्रलता-मकरंद पान कर, पिक समझेंगे तुझे सभी,
स्थल-प्रभाव से सभी वस्तु क्या धन्य नहीं हो जाती हैं,
नृप-ललाट पर पंकबिंदु मृगमद ही जानी जाती हैं॥५३२॥

यहाँ काक के विशेष वृत्तान्त का 'स्थान की महिमा से सभी वस्तु धन्य हो जाती है' इस सामान्य वृत्तान्त द्वारा समर्थन करके फिर इसका 'राजा के मस्तक पर कीचड़ का बिन्दु भी कस्तूरी ही समझी जाती है' इस विशेष वृत्तान्त द्वारा अर्थान्तरन्यास की रीति से समर्थन किया गया है।

'विकस्वर' को कुवलयानन्द में स्वतन्त्र अलङ्कार लिखा है। अलङ्कार सर्वस्व आदि में ऐसे उदाहरण अर्थान्तरन्यास के अन्तर्गत दिखलाये हैं। पण्डितराज ने विकस्वर के प्रथम प्रकार को उदाहरण अलङ्कार के और दूसरे प्रकार को अर्थान्तरन्यास के अन्तर्गत माना है। हमारे विचार में भी वस्तुतः विकस्वर अलङ्कार अर्थान्तरन्यास और उदाहरण अलङ्कार के अन्तर्गत ही है।

---

१ बरात की फुलवाड़ी में कागज की बनी हुई पुतली।

(६३) प्रौढोक्ति अलंकार

उत्कर्ष का जो कारण न हो उसे कारण कहा जाने को प्रौढ़ोक्ति अलंकार कहते हैं।

'प्रौढोक्ति' में प्रौढ उक्ति होती है। प्रौढ का अर्थ है प्रवृद्ध[1] अर्थात् बढा हुआ। प्रौढोक्ति अलंकार में बढ़ाकर कहने के लिये उत्कर्ष का जो कारण न हो, उसको उत्कर्ष का कारण कहा जाता है।

विमल-नीर-जलजात[2] जमुना-तीर-तमाल[3] सम,
द्युति राधा-हरि-गात सुमरित-भव-बाधा मिटहि ॥५३३॥

जल का निर्मल होना कमल की मनोहरता के उत्कर्ष का कारण नहीं है—जहाँ निर्मल जल नहीं होता है वहाँ भी वैसे ही सुन्दर कमल उत्पन्न होते हैं जैसे कि निर्मल जल में होते हैं। और न तमाल वृक्ष की श्यामलता के उत्कर्ष का कारण यमुना का तट ही है किन्तु यहाँ इनमें उत्कर्ष के कारणत्व की कल्पना की गई है। रसगंगाधर और कुवलयानन्द में 'प्रौढोक्ति' को स्वतंत्र अलंकार माना है, किन्तु उद्योतकार का कहना है कि यह सम्बन्धातिशयोक्ति के अन्तर्गत है।

(६४) मिथ्याध्यवसिति अलङ्कार

किसी बात का मिथ्यात्व (झूठापन) सिद्ध करने के लिये किसी दूसरे मिथ्या अर्थ की कल्पना किये जाने को 'मिथ्याध्यवसिति' अलंकार कहते हैं।

मिथ्याध्यवसिति में मिथ्या और अध्यवसिति दो शब्द हैं।

---

१ देखिये अमरकोश। २ निर्मल जल में होने वाले कमल। ३ श्याम रंग का एक जाति का नीले पत्रों वाला वृक्ष।

मिथ्या का अर्थ है झूठ और अध्यवसिति का अर्थ है निश्चय अर्थात् मिथ्यात्व का निश्चय। इस अलंकार में लक्षणानुसार मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है।

सस सींगन के धनु लिये गगन-कुसुम[1] लै हाथ,
खेलत बंध्या-सुतन सँग तेरे अरि भुविनाथ ॥५३४॥

राजा के शत्रु होने को झूठा सिद्ध करने के लिए यहाँ 'खरगोश के सींग होना' आदि असत्य कल्पनाएँ की गई हैं।

'उद्योत' कार का कहना है कि यह अलंकार असम्बन्ध में सम्बन्ध वाली अतिशयोक्ति के अन्तर्गत है न कि भिन्न। दूसरा मत यह है कि इसमें मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए दूसरे मिथ्यार्थ की कल्पना किया जाना नवीन चमत्कार है। पण्डितराज ने इसे 'प्रौढोक्ति' के ही अन्तर्गत माना है।

(६५) ललित अलङ्कार

प्रस्तुत धर्मी को[2] वर्णनीय वृत्तान्त के प्रतिबिम्ब का वर्णन किये जाने को ललित अलंकार कहते हैं।

'ललित' का अर्थ इच्छित[3] (ईप्सित) भी है। ललित अलंकार में इच्छित अर्थात् वर्णनीय वृत्तान्त का प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

सेतु बांधिवो चहतु है तू अब उतरै वारि ॥५३५॥

प्रमाद में धन खोकर निर्धन हो जाने पर धन की रक्षा का उपाय पूछने वाले व्यक्ति के प्रति किसी सज्जन का यह कथन है। धन न रहने पर धन की रक्षा के प्रश्न का उत्तर, प्रस्तुत–वर्णनीय तो यह है कि 'अब

---

१ आकाश-पुष्प। २ जिसके समक्ष में कहा जाय उस व्यक्ति को।
३ 'ललितः ईप्सितः'—मेदिनीकोश।

उपाय पूछना व्यर्थ है' किन्तु इस प्रकार न कहकर उसका प्रतिबिम्ब 'तू जल नहीं रहने पर अब पुल बाँधना चाहता है' यह कहा है।

> और कहा नहिं सुन्दरी भुवि सीता हि अनूप,
> ऐंचत चंदन-साख कौं तुम छेड़्यो फनि-भूप ॥५३६॥

रावण के प्रति मन्दोदरी को कहना तो यह था कि 'श्रीजानकीजी के हरण से तुमने श्रीरामचन्द्रजी को कुपित करके बड़ा अनिष्ट किया है' यह न कह कर उसका यह प्रतिबिम्ब कहा है कि 'चन्दन की शाखा को खेंचते हुये तुम सर्पराज को छेड़ बैठे'।

ललित अलंकार को स्वतन्त्र अलंकार स्वीकार करने में आचार्यों का मतभेद है। ललित को स्वतन्त्र अलंकार मानने वाले आचार्यों का कहना है कि—

(१) 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में वाच्यार्थ अप्रस्तुत होता है और ललित में वाच्यार्थ प्रस्तुत होता है—अर्थात् प्रकरणगत श्रोता के सम्मुख कहा जाता है।

(२) 'समासोक्ति' में प्रस्तुत वृत्तान्त में अप्रस्तुत वृत्तान्त की प्रतीति कराई जाती है। 'ललित' में प्रस्तुत का (वर्णनीय वृत्तान्त का) प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

(३) 'निदर्शना' में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का कथन किया जाकर उन (दोनों) में एकता का आरोप किया जाता है। ललित में केवल प्रस्तुत का प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

(४) 'रूपकातिशयोक्ति' में पदार्थ का अध्यवसान होता है अर्थात् अभेद ज्ञान का निश्चय होता है—उपमान द्वारा उपमेय का निगरण होता है। ललित में प्रस्तुत वाक्य का अप्रस्तुत रूप में प्रतिबिम्ब कहा जाता है।

किन्तु ललित अलंकार का 'पर्यायोक्ति' और 'निदर्शना' से पृथक्करण

बड़ा कठिन है। कुवलयानन्द में नैषधीयचरित के निम्नाशय वाले पद्य का—

अति गौरव का यह कारण आज, हुआ भवदीय समागम है,
कहिये वह कौनसा देश किया, मधु-मुक्त-दशा-वन के सम है,
शुभ नाम तथा कहिये यह भी किस हेतु किया इतना श्रम है,
जन जो कि उदार सदाशय वे करते न महाशय संभ्रम है ॥५३७॥

यह उदाहरण देकर कहा है कि दमयन्ती ने नल को 'आप कहाँ से आये हैं' इस वाक्य के प्रतिबिम्ब रूप—'आपने किस देश को वसन्त की शोभा से विमुक्त कर दिया है' यह कहा है। पण्डितराज इस पद्य में पर्यायोक्ति अलङ्कार मानते हैं, न कि ललित। उनका कहना है कि यहाँ उस देश का (जहाँ से नल आया है) शोभा रहित होना कार्य है और नल द्वारा उस देश का छोड़ा जाना कारण है यहाँ कार्य के द्वारा कारण का कथन प्रकारान्तर से (भंग्यन्तर) किया गया है अतः पर्यायोक्ति है।

और काव्यप्रकाश में रघुवंश के निम्नाशयवाले पद्य को—

कहाँ अल्प मेरी मती कहाँ दिव्य रघुवंस,
सागर-तरिबो उडुप सों चाहतु हौं मति-भ्रंस ॥५३८॥

निदर्शना के उदाहरण में दिया है। अप्पय्य दीक्षित कुवलयानन्द में इस पद्य में ललित अलङ्कार मानते हैं। किन्तु नागेश उद्योत टीका में इसमें निदर्शना ही मानते हैं और कुवलयानन्द में उपर्युक्त 'सेतु बांधिबो चहतु है अब तू उतरे वारि' यह उदाहरण जो ललित अलङ्कार का दिया है उसमें भी उद्योतकार निदर्शना मानकर ललित को निदर्शना के अन्तर्गत बताते है।

(६६) प्रहर्षण अलंकार

प्रहर्षण का अर्थ है प्रकृष्ट हर्षण अर्थात् अत्यन्त हर्ष। प्रहर्षण अलंकार में अत्यन्त हर्षकारक पदार्थ की प्राप्ति का वर्णन होता है। इसके तीन भेद हैं—

प्रथम प्रहर्षण

उत्कण्ठित[1] पदार्थ की बिना यत्न के सिद्धि होने के वर्णन को प्रथम प्रहर्षण अलंकार कहते हैं।

"मेघन सों नभ छाइ रह्यो बन-भूमि तमालन सों भई कारी,
सांझ भई डरि है घर याहि दया करिकै पहुँचावहु प्यारी!
यों सुनि नंद-निदेस चले दुहुँ कुंजन में हरि-भानुदुलारी,
सोइ कलिंदी के कूल इकंत की केलि हरै भव-भीति हमारी॥"५३६॥[६४]

नन्दजी द्वारा साथ जाने की आज्ञा मिल जाने पर यहाँ श्रीराधा-माधव को उनके उत्कण्ठितार्थ की—यमुना-तट पर जाने की—बिना ही यत्न सिद्धि होना वर्णित है।

"हेरिबे हेत बिहंग के मानस ब्रह्म सरूपहि में अनुरागे,
भाइ भरथ्थ सो भेट्यो नहीं पुलके तन यों 'लछिराम' सुभागे,
मंजु मनोरथ फेलि फल्यो पर आने सबै तप पूरन पागे,
मोज बढ़े उमड़े करुना खड़े श्रीरघुनाथ जटायु के आगे॥"५४०॥[६५]

श्रीरघुनाथजी के सम्मुख आ जाने पर जटायु को बिना यत्न उत्कण्ठित अर्थ— ब्रह्म-दर्शन की सिद्धि प्राप्त होना कहा गया है।

---

१ जिस पदार्थ में सब इन्द्रियों का सुख माना जाता है, उसकी प्राप्ति के लिये उत्कट इच्छा की जाती है उसको उत्कण्ठा कहते हैं।

" भादौं की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावैं,
स्यामाजू आपनी ऊँची अटा पै छकी रसरीति मलार हिं गावैं,
ता समैं मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावैं,
पौन मया करि घूँघट टारै दया करि दामिनि दीप दिखावैं ॥"५४१॥

यहाँ श्रीवृषभानुनन्दिनी के दर्शन का उत्कण्ठित लाभ बिना ही यत्न के श्रीकृष्ण को होना वर्णित है।

द्वितीय प्रहर्षण

वाञ्छित अर्थ की अपेक्षा अधिकतर लाभ होने के वर्णन को द्वितीय प्रहर्षण अलंकार कहते हैं।

अर्थात् अपनी इच्छा की हुई वस्तु की प्राप्ति के लिये यत्न करते हुए उस इच्छा से भी अधिक लाभ होना।

फिरत लोभ कोडीन के छाछ वेचिवे काम।
गोप-ललिन पायो गलिन महा इंद्रमनि स्याम ॥५४२॥

यहाँ कोड़ियों के लाभ की इच्छा से छाछ बेचने वाली व्रजाङ्गनाओं को महेन्द्र नीलमणि (अर्थात् श्रीकृष्ण) का मिलने रूप अधिक लाभ होना वर्णित है। कुवलयानन्द में द्वितीय प्रहर्षण का—

माँगता दो चार जल की बूँद है,
विकल चातक ग्रीष्म से पाकर व्यथा,
जलद सब जल-पूर्ण कर देता धरा,
महत् पुरुषों की कहें हम क्या कथा ॥५४३॥

इस आशय का उदाहरण दिया है। किन्तु द्वितीय प्रहर्षण वहीं होता है, जहाँ वाञ्छित से अधिक लाभ होना कहा जाता है। मेघ द्वारा सारी पृथ्वी को जल पूर्ण कर देने से चातक को तो वाञ्छित अर्थ मात्र का लाभ हो सकता है—वाञ्छित से अधिक नहीं, अतः यहाँ प्रहर्षण अलंकार नहीं।

तृतीय प्रहर्षण

उपाय की खोज द्वारा साक्षात् फल का लाभ होने के वर्णन को तृतीय प्रहर्षण अलंकार कहते हैं।

सर भीतर ही पकड़ा गज का पग आकर ग्राह भयंकर ने,
लड़ते-लड़ते बल क्षीण गयंद हुआ निरुपाय लगा मरने,
जब लौं हरि-भेट के हेतु सरोज की खोज गजेंद्र लगा करने,
करुनानिधि आ पहुँचे तबलौं अविलंब वहाँ दुख को हरने ॥५४४॥

यहाँ अपनी रक्षा के लिये भगवान् को अर्पण करने को कमल रूप उपाय की खोज करने के द्वारा गजराज को साक्षात् दीनबन्धु भगवान् का आगमन होने का लाभ होना वर्णित है।

"पाती लिखी अपने कर सों दई है 'रघुनाथ' बुलाइकै धावन,
और कह्यो मुख-पाठ यों वेगि कृपा करि आइये आवत सावन,
भाँति अनेकन के सनमान कै दै बकसीस पठायो बुलावन,
पायो न पौरिलौं जान कहा कहौं बीचहि आय गयो मनभावन ॥"५४५॥[५१]

विदेश से नायक को बुलाने के लिये भेजे हुए दूत के पहुँचने रूप उपाय के मध्य में ही यहाँ नायक का आगमन रूप साक्षात् फल का लाभ होना कहा गया है।

उद्योतकारने[१] प्रथम प्रहर्षण अलंकार में कारणान्तर के सुयोग द्वारा कार्य की सिद्धि होने के कारण प्रहर्षण को 'समाधि' अलंकार के अन्तर्गत माना है। पण्डितराज ने और अप्पय्य दीक्षित ने प्रहर्षण को स्वतन्त्र अलंकार लिखा है।

---

१ देखिये काव्यप्रकाश की उद्योतव्याख्या समाधि अलंकार

(६७) विषादन अलङ्कार

वाञ्छित अर्थ के विरुद्ध फल प्राप्त होने के वर्णन को विषादन अलङ्कार कहते हैं।

विषादन शब्द विषाद से बना है। विषाद का अर्थ है विशेष दुःख। यह अलङ्कार पूर्वोक्त 'प्रहर्षण' का प्रतिद्वन्द्वी है। प्रहर्षण में वाञ्छित अर्थ की सिद्धि द्वारा प्रहर्षण होना और विषादन में वाञ्छित अर्थ के विरुद्ध फल की प्राप्ति द्वारा दुःख होना कहा जाता है।

जायगी बीत ये रात सुहायगी वो अरुनोदय की अरुनाई,
भानु-विभा विकसायगी औ खुलिजायँगी कंज-कली हू सुचाई,
यों जिय सोचति ही अलिनी नलिनी-गत-कोष प्रदोष-रुकाई,
हाय ! इतेक में आ गजती रजनी ही में पंकजनी धरि खाई॥ ५४६ ॥

सूर्य के अस्त होने पर कमल में रुकी हुए भौंरी सोच तो यह रही थी कि 'सूर्योदय के समय कमल खिलने पर मैं इस बन्धन से छूट जाऊँगी' किन्तु यह न होकर उस कमल को हथिनी ने रात्रि में ही उठा कर खा लिया, अतः वाञ्छित से विरुद्ध फल प्राप्त होना कहा गया है।

सुन श्री रघुनन्दन का अभिषेक सहर्ष प्रफुल्लित गात हुआ,
अति उत्सुक चाह रहे सब थे सुख-कारक जोकि प्रभात हुआ,
वर-कैकइ के मिस से सहसा वह दारुण बज्र निपात हुआ,
बनवास के दृश्य दुख-प्रद में परिवर्तित हा ! वह प्रात हुआ ॥५४७॥

राज्याभिषेक सुनकर अयोध्या की प्रजा उस आनन्द को प्रातः काल देखने की अभिलाषा कर रही थी किन्तु वह न होकर उसके विरुद्ध श्री-रघुनाथजी के बनवास का दुःखप्रद दृश्य उपस्थित होना यहाँ वर्णित है।

"बहु द्योस बिदेस बिताय पिया घर आवन की घरी आली ! भई,
बहु देस कलेस बियोग बिथा सब भाखी यथा बनमाली भई,

हँसि के निसि 'बेनी प्रबीन' कहै जब केलि-कला की उताली भई,
तब या दिसि पूरब पूरब की लखि बैरनि सौंति सी लाली भई॥"५४८॥

सखी के प्रति नायिका की इस उक्ति में क्रीड़ा की अभिलाषा रखने वाली नायिका को अरुणोदय हो जाने के कारण निराश होने का वर्णन है।

उद्योतकार विषादन अलङ्कार को विषम अलंकार के अन्तर्गत बताते हैं। पण्डितराज का कहना है कि विषम अलंकार में और विषादन में यह भिन्नता है कि विषादन अलङ्कार में अभीष्ट अर्थ की इच्छा मात्र करने पर इच्छा के विरुद्ध फल प्राप्त होता है और विषम अलङ्कार में अभीष्ट अर्थ के लिये उद्योग करते हुए विरुद्ध फल प्राप्त होता है।

(६८) उल्लास अलङ्कार

एक के गुण और दोष से दूसरे को गुण और दोष प्राप्त होने के वर्णन को उल्लास अलङ्कार कहते हैं।

उल्लास शब्द उत् और लस् से बना है। यहाँ उत् उपसर्ग का अर्थ प्रबल और लस् धातु का अर्थ सम्बन्ध है। अतः उल्लास का अर्थ है प्रबल सम्बन्ध। उल्लास अलंकार में एक पदार्थ के प्रबल गुण के सम्बन्ध से दूसरे को गुण या दोष से दोष एवं गुण से दोष या दोष से गुण प्राप्त होना कथन किया जाता है।

गुण से गुण—

सुमनन की सौरभ हरत बिरहिन हू के प्रान,
गंग-तरंगन सो बहू पावन ह्वै पवमान[1] ॥५४६॥

---

१ पवन।

गंगाजी के पावन गुणों द्वारा यहाँ फूलों की सुगन्धि और वियोगी जनों के प्राण हरण करने वाले पवन को पवित्र हो जाने रूप गुण की प्राप्ति है।

"गेह में लगे हैं तिय-नेह में पगे हैं पूर—
लोभ में जगे हैं औ अदेह तेह समुना।
कुटिल कुढ़ंगन में कूरन के संगन में,
छके रतिरंगन में नंगन तें कमु ना।
'ग्वाल' कवि भनत गरूर भरे अतिपूर,
जानिये जरूर जिन्हें काहू की जु गमु ना।
लहर करैं ते हरि-लोक में लहरि करैं,
लहर तिहारी के लखैया मात जमुना ॥"५५०॥

यहाँ यमुना जी की तरंगों के दर्शन रूप गुण द्वारा तिकों तपो विष्णुलोक की प्राप्ति रूप गुण होना वर्णित है।

दोष से दोष—

रहिबो उचित न मलय तरु! या कुबंस बनमांहि,
घिसत परस्पर ह्वै अनल सिगरौ बन पजराहि ॥५५१॥

यहाँ बाँसों के परस्पर घिसने से अग्नि-प्रकट होने रूप दोष से सारे बन के दग्ध हो जाने रूप दोष का होना कहा गया है।

गुण से दोष—

फल क्या नर के दृग का जननी! यदि दीरघ वे मनहारी भी हों,
जिनसे अति रम्य उतंग तरंग तुम्हारी जो गंग! निहारी न हों,
धिक हैं धिक कर्ण तथा वह भी यदि शोभित कुंडल धारी भी हों,
जिनसे ध्वनि कर्ण-रसायन से सुनपाई जो मातु! तुम्हारी न हो ॥५५२॥

यहाँ श्री गंगाजी के तरंगों की ध्वनि के गुण से उनके न सुनने-वालों के कानों को धिक्कार रूप दोष कहा गया है।

इस छन्द के वाच्यार्थ में तो 'उल्लास' अलङ्कार है, जैसा कि यहाँ स्पष्ट किया गया है और व्यंग्यार्थ में 'विनोक्ति' की ध्वनि है, अतः गंगा लहरी के जिस संस्कृत पद्य का यह अनुवाद है उसे रसगंगाधर में 'विनोक्ति' की ध्वनि और 'उल्लास' दोनों के उदाहरण में दिखाया है।

छोटे और बड़े जहाज जल में जो दीखते खड़े,
है वो दृश्य विचित्र किन्तु हमको हैं हानिकारी बड़े,
ले जाते सब भारतीय-धन वे हा ! अन्न को भी वहाँ,
लाते हैं सब ऊपरी चटक की चीजें विदेशी यहाँ ॥५५३॥

यह बम्बई के समुद्र-तट के दृश्य का वर्णन है। जहाजों के दृश्य की शोभा के गुण से जहाजों द्वारा भारतवर्ष का धन—कच्चा माल रुई, सन आदि विदेश ले जाने और ऊपरी चमक की विदेशी वस्तुओं के यहाँ आने से, इस देश की हानि होना रूप दोष कहा गया है।

दोष से गुण—

"सूँघि स्वाद लै बाँदरनि तज्यो मान मति माख,
कियो न चूरन जतन करि रतन ! लाभ गनि लाख ॥"५५४॥

यहाँ बन्दरों की मूर्खता के दोष से रत्न का चूर्ण न होना, यह गुण कहा गया है।

उल्लास को कुवलयानन्द में स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। किन्तु 'उद्योतकार' उल्लास के पिछले दोनों भेदों को 'विषम' अलङ्कार के अन्तर्गत बतलाते हैं और रसगंगाधर में लिखा है कि कुछ आचार्य उल्लास को 'काव्यलिंग' के अन्तर्गत म

———

(६९) अवज्ञा अलङ्कार

एक के गुण-दोष से दूसरे को गुण-दोष प्राप्त न होने के वर्णन को 'अवज्ञा' अलङ्कार कहते हैं।

अवज्ञा का अर्थ है अनादर। किसी पदार्थ का अंनगीकार करना भी अनादर है। अवज्ञा अलङ्कार पूर्वोक्त 'उल्लास' के विपरीत है। उल्लास में अन्य के गुण-दोषों का अंगीकार है और अवज्ञा में अन्य के गुण-दोषों का अंनगीकार अर्थात् एक के गुण या दोष का दूसरे द्वारा ग्रहण न किया जाना।

गुण से गुण के न होने में—

करि वेदांत विचार हू सठहि विराग न होय,
रंच न मृदु मैनाक भो निसिदिन जलनिधि-सोय ॥५५५॥

यहाँ वेदान्त शास्त्र के विचार रूप गुण से खल को वैराग्य-प्राप्ति रूप गुण का न होना कहा गया है। यहाँ दृष्टान्त अलंकार मिला हुआ है।

"डरपोक पने की तजो नहिं बान मँजे खल ! छिद्र विधानन में,
बद्‌ली नहिं बानी सुहानी कछू रहे पूरे भयानक तानन में।
सुचि भोजन में रुचि कीन्ही नहीं सब खाइबो सीखो मसानन में,
करतूत कहौ भला कौन करी जो बसे तुम स्यारजू कानन में ॥"५५६॥[२६

यहाँ कानन (वन) में बस कर स्यार द्वारा बनवासी—विरक्तजनों के उत्तम गुणों का ग्रहण न किया जाना कहा गया है। यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा मिश्रित है।

दोष से दोष के न होने में—

अनल-भाल-तल-गल-गरल लसत सीस-कटि व्याल,
हरत न हर-तन-दुति तदपि नहि भव-दारुन-ज्वाल ॥५५७॥

यहाँ ताप करने वाले अग्नि, विष और सर्पों के संग के दोष से श्रीमहादेवजी में क्रूरता आदि दोषों का अभाव कहा गया है।

'अवज्ञा' अलंकार कुवलयानन्द में ही है। कुछ आचार्य इसको पूर्वोक्त विशेषोक्ति के अन्तर्गत मानते हैं क्योंकि विशेषोक्ति की भाँति अवज्ञा में भी कारण के होते हुए कार्य के अभाव का वर्णन किया जाता है।

(७०) अनुज्ञा अलंकार

किसी उत्कट गुण की लालसा (इच्छा) से दोष वाली वस्तु की भी इच्छा की जाने के वर्णन को 'अनुज्ञा' अलङ्कार कहते हैं।

'अनुज्ञा' में 'अनु' उपसर्ग का अर्थ है अनुकूल और 'ज्ञा' धातु का अर्थ है ज्ञान। अनुज्ञा का अर्थ है अनुकूल ज्ञान। अनुज्ञा अलंकार में दोष वाली वस्तु को अपने अनुकूल जानकर उसकी इच्छा की जाती है।]

''काहू सों माई ! कहा कहिये सहिये जु सोई 'रसखान' सहावैं,
नेम कहा जब प्रेम कियो तब नाचिये सोई जो नाच नचावैं,
चाहतु हैं हम और कहा सखि ! क्यों हूँ कहूँ पिय देखन पावैं,
चेरिय सौं जु गुपाल रुचे तौ चलौरी सबै मिलि चेरी कहावैं ॥''५५८॥[५२

भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन प्राप्त होने की लालसा से दासी होने रूप दोष की इच्छा का यहाँ वर्णन है।

ह्वै तेरो उपकार कपि, जीरन मो तन माँहि,
इच्छुक प्रत्युपकार के चाहत बिपदा ताहि ॥५५९॥

हनुमानजी के प्रति यह श्रीरघुनाथजी की उक्ति है कि श्रीजनक-नन्दिनी का सन्देश लाने का हम पर जो तुमने उपकार किया है, वह हमारे तन में ही जीर्ण हो जाय—हमारे द्वारा तुम्हारे ऊपर प्रत्युपकार

करने का अवसर ही न आवे क्योंकि जो प्रत्युपकार करना चाहता है वह अपने ऊपर उपकार करने वाले उपकारी के विषय में यह प्रतीक्षा करता है कि 'उसके ऊपर (उपकार करने वाले पर) कब विपत्ति आवे और कब मैं इस पर प्रत्युपकार करूँ।' यहाँ 'हनुमानजी पर कभी विपद न आय' इस गुण की लालसा से प्रत्युपकार न करने रूप दोष की इच्छा का वर्णन किया गया है।

भारती भूषण में अनुज्ञा अलंकार का—

"गुरु समाज भाइन्ह सहित रामराज पुर होउ,
अछत राम राजा अवध मरिय मांगि सब कोउ ॥"५६०॥[२२]

यह उदाहरण दिया है। पर इस दोहे में अयोध्या की प्रजा द्वारा मरणरूप दोष की इच्छा नहीं की गई है किन्तु प्रजा द्वारा यह इच्छा की गई है कि 'हम लोगों के मरण समय तक राम-राज्य ही रहे अर्थात् हमारे जीतेजी अन्य राजा न होकर राम-राज्य चिरकाल तक स्थिर रहे' अतः यहाँ अनुज्ञा नहीं है।

(७१) तिरस्कार अलङ्कार

किसी दोष से युक्त होने के कारण गुण वाली वस्तु का भी तिरस्कार किये जाने के वर्णन को 'तिरस्कार' अलङ्कार कहते हैं।

तिरस्कार का अर्थ है निरादर। यह अलङ्कार पूर्वोक्त 'अनुज्ञा' के विपरीत है। अनुज्ञा में दोष वाली वस्तु की इच्छा की जाती है और तिरस्कार में गुण वाली वस्तु का अनादर किया जाता है।

पण्डितराज ने तिरस्कार अलङ्कार का नवीन निरूपण किया है।

जिन होवहु प्रिय विभव औ गज तुरंग बर बाग,
जिनमें रत नर करत नहिं हरि-चरनन अनुराग ॥५६१॥

भगवद्भक्ति के बाधक रूप दोष युक्त होने के कारण यहाँ वैभव आदि गुणों के तिरस्कार का वर्णन है।

विष भी युत-मान दिया यदि हो, कर पान उसे मर जाना भला,
सह के अपमान सुधारस ले निज जीवन को न गिराना भला,
यह गौरव-पूर्ण उदार चरित्र पवित्र सदा अपनाना भला,
वह कुत्सित वृत्ति कदापि कहीं अति निंद्य नहीं दिखलाना भला॥५६२॥

इस पद्य में 'अनुज्ञा' और 'तिरस्कार' दोनों मिश्रित हैं। प्रथम पाद में सम्मान रूप गुण युक्त होने के कारण विष द्वारा मर जाने रूप दोष की इच्छा की जाने में अनुज्ञा है और दूसरे पाद में अपमान रूप दोष-युक्त होने के कारण अमृत के अनादर किये जाने में तिरस्कार है।

---

(७२) लेश अलङ्कार

दोष में गुण अथवा गुण में दोष की कल्पना किये जाने को 'लेश' अलङ्कार कते

'लेश' का अर्थ है एक अंश या भाग। इसमें गुण वाली वस्तु के एक अंश में दोष या दोष वाली वस्तु के एक अंश में गुण की कल्पना की जाती है।

दोष में गुण-कल्पना—

"रूँख रूँख के फलन को लेत स्वाद मधु-छाक,
बिन इक मधुरी बानि के निधरक डोलत काक॥"५६३॥

काक में मीठी वाणी न होने रूप दोष में यहाँ बहुत से वृक्षों के फलों का रसास्वादन और स्वतन्त्र फिरना, इस गुण की कल्पना की गई है। इसमें 'अप्रस्तुतप्रशंसा' मिश्रित है।

अन्ध हैं धन्य अनन्य अहो ! धन अंधन के मुख कौं न लखावैं ,
पांगुरे हू जग बंद्य सदा, नहिं जाचक ह्वै किहिं के घर जावैं ,
मूकहु हैं बड़भागी तथा करि चाटुता जो किहिं कौं न रिझावैं ,
हैं बहिरे स्तुति जोग न क्यों खल के कटु बैन न जो सुनि पावैं ॥५६४॥

यहाँ अन्धता, पंगुता, मूकता और बधिरता रूप दोषों में एक एक गुण की कल्पना की गई है।

"रहिमन बिपदा हू भली जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में जानि परत सब कोय॥"५६५॥[५४]

यहाँ विपदा रूप दोष में हितैषी और अहितैषी जनों की परीक्षा हो जाने रूप गुण की कल्पना की गई है।

वर कुपुत्र जग मांहि नेह-फाँस सतपुत्र सौं,
जग सब दुखद लखाहिं ह्वै बिराग को हेतु वह ॥५६६॥

यहाँ कुपुत्र रूप दोष में वैराग्य प्राप्त होने रूप गुण की कल्पना की गई है।

गुण में दोष—

मृगमद ! जिन यह गरब कर मो सुगंध विख्यातु,
दीन लीन-बन निज-जनक प्रान-हीन करवातु ॥५६७

यहाँ कस्तूरी के सुगन्ध रूप गुण में अपने उत्पादक मृगों के मरने का कारण होने रूप दोष की कल्पना की गई है !

'व्याजस्तुति' अलङ्कार में प्रथम प्रतीत होने वाले अर्थ के विपरीत तात्पर्य होता है। 'लेश' में यह बात नहीं। जैसे 'मृगमद जिन......' में कस्तूरी की स्तुति अभीष्ट नहीं किन्तु वह उत्पादक की प्राण-नाशक होने के कारण उसकी निन्दा ही कही गई है। और 'अवज्ञा' अलङ्कार में उत्कट गुण की लालसा से दोष वाली वस्तु की इच्छा की जाती है और 'लेश' में दोष वाली वस्तु में गुण या गुणवाली वस्तु में दोष की कल्पना की जाती है।

(७३) मुद्रा अलंकार

प्रस्तुत अर्थ के पदों द्वारा सूचनीय अर्थ के सूचन किए जाने को 'मुद्रा' अलङ्कार कहते हैं।

'मुद्रा' नामांकित मुहर या चपरास को कहते है। इसी लोकप्रसिद्ध मुद्रा न्याय के अनुसार इस अलंकार का नाम मुद्रा है। जैसे नामांकित मुहर या चपरास द्वारा किसी व्यक्ति का सम्बन्ध सूचित किया जाता है, उसी प्रकार मुद्रा अलंकार में प्रासंगिक वर्णन में सूचनीय अर्थ का सूचन किया जाता है। यह अलंकार सम्भवतः कुवलयानन्द में नवीन लिखा गया है।

न मुदितबदना ही पुष्पिताग्रा लखाती,
न सु-कुसुमविचित्रा स्रग्धरा भी दिखाती,
न ललित इससे वो हारिणी शालिनी है,
यह मृदु पद वाली सुन्दरी मालिनी है ॥५६८॥

यह किसी मालिनी[1] (मालिन) का वर्णन है। मालिनी (मालिन) के प्राकरणिक-वर्णन के पदों द्वारा यहाँ 'पुष्पिताग्रा' आदि छन्दों के नाम सूचित करके फिर इस छन्द का 'मालिनी' नाम सूचित किया गया है।

---

१ मालिन के पक्ष में यह अर्थ है कि यह कोमल चरणों वाली बड़ी सुन्दर है, यद्यपि यह मुदितवदना, पुष्पिताग्रा नहीं है अर्थात् इसके आगे फूलों की डलिया नहीं हैं न विचित्र पुष्पों की माला ही लिये हुये है फिर भी इसकी अपेक्षा फूलों के हारवाली लज्जाशील (दूसरी मालिन) सुन्दर नहीं है। मालिनी छन्द के पक्ष में यह अर्थ है कि 'यह प्रमुदित-वदना' पुष्पिताग्रा' 'स्रग्धरा' 'कुसुमविचित्रा' 'हारिणी, और 'शालिनी' छन्द नहीं है यह कोमल पदावली वाली मालिनी (छन्द) है।

"करुणे क्यों रोती है ?
'उत्तर' में और अधिक तू रोई,
मेरी विभूति है जो,
उसको भवभूति क्यों कहे कोई ॥"५६६॥[५०]

'साकेत' के इस पद्य में 'करुणा' के प्राकरणिक वर्णन के प्रसंग में 'उत्तर' और 'भवभूति' पदों द्वारा महाकवि भवभूति के करुण रस पूरित 'उत्तररामचरित' नाटक का सूचन किया गया है।

(७४) रत्नावली अलङ्कार

जिनका साथ कहा जाना प्रसिद्ध हो ऐसे प्राकरणिक अर्थों के क्रमानुसार वर्णन को 'रत्नावली' अलङ्कार कहते हैं।

रत्नावली का अर्थ है रत्नों की पंक्ति। इस अलङ्कार में रत्नों की पंक्ति की भाँति क्रमानुसार प्राकरणिक अर्थों का क्रमशः वर्णन होता है।

नव-नील सरोजन कौं इहिं के जुग-दीरघ नैनन पत्र दियो,
गज-कुंभन सौं इहिंके कुच-कुंभन पूरब-पक्ष स-दक्ष ठयो,
अति बंक भई भृकुटीन तथा स्मर के धनु को अनुवाद छयो,
पुनि हास-विलास भरे मुख सौं इन खंडन चंद्र प्रकाश कियो ॥५७१॥

नायिका की अंग-शोभा के इस वर्णनमें विद्वानों के शास्त्रार्थके क्रम[1] का वर्णन किया है। यह अलङ्कार कुवलयानन्द में ही दृष्टिगत होता है।

---

१ विद्वज्जनों के शास्त्रार्थ में यह क्रम प्रसिद्ध है कि प्रथम शास्त्रार्थ के लिये पत्र दिया जाता है, फिर पूर्व पक्ष किया जाता है फिर प्रतिपक्षी के लेख का अनुवाद और उसके पीछे खण्डन किया जाता है। यहाँ यही क्रम दिखाया गया है कि इस नायिका के दीर्घ कमल रूप नेत्रों ने नवीन

(७५–७६) तद्गुण और पूर्वरूप अलङ्कार

अपना गुण त्याग कर उत्कट गुण वाली निकटवर्ती दूसरी वस्तु के गुण ग्रहण करने के वर्णन को 'तद्गुण' अलङ्कार कहते हैं।

तद्गुण का अर्थ है—किसी वस्तु में दूसरी वस्तु (अप्रस्तुत अर्थात् उपमान) का गुण होना[1]। इस अलङ्कार में अपना गुण छोड़ कर अपने निकट वाली दूसरी वस्तु का गुण ग्रहण किया जाना कहा जाता है। यहाँ 'गुण' शब्द का अर्थ रंग और रूप लिया गया है[2]।

"अति सुन्दर दोनों कानो में जो कहलाते शोभागार,
एक एक था भूषण जिसमें जड़े हुए थे रत्न अपार।
कर्णपूर-प्रतिबिम्ब-युक्त था कांत कपोल युग्म उस काल,
कभी श्वेत था कभी हरा था कभी-कभी होता था लाल॥"५६२॥[३८]

यहाँ दमयन्ती के कपोलों द्वारा अपना गुण त्याग कर समीपवर्ती अनेक रत्न-जटित कर्ण-भूषण का श्वेत, हरा और रक्त गुण ग्रहण किया जाना कहा गया है।

दूसरे का गुण ग्रहण करने के बाद जहाँ फिर अपना गुण ग्रहण किया जाता है, वहाँ भी 'तद्गुण' होता है।

नीले कमलों को शास्त्रार्थ के लिये पत्र दिया है, कुच रूप कुम्भों ने हाथी के कुम्भों से पूर्व-पक्ष किया है, बांकी भृकुटियों ने कामदेव के धनुष का अनुवाद किया है और हास्ययुक्त मुख ने चन्द्रमा के प्रकाश का खण्डन कर दिया है।

१ 'तस्य अप्रकृतस्य गुणोऽत्रास्तीति तद्गुणः'—काव्यप्रकाश।

२ 'गुणोऽप्रधाने रूपादौ मौर्व्यां सूत्रे वृकोदरे।'—केशवकोश।

अरुण कांति से अश्व-सूर्य के भिन्न वर्ण हो जाते हैं,
रैवत-गिरि के निकट पहुँच जब प्रतिभा उसकी पाते हैं।
तब अपना ही नील-वर्ण फिर पाकर वे दिखलाते हैं,
अरुणोदय का एक दृश्य कवि माघ हमें बतलाते हैं ॥५७३॥

इस आशय का माघ कवि कृति शिशुपाल-वध में रैवतक पर्वत का वर्णन है। सूर्य के सारथी अरुण की प्रभा से सूर्य के रथ के नीले रंग के अश्वों का भिन्न वर्ण हो जाने के पश्चात् रैवतक गिरि के समीप आने पर उसके नीले प्रतिबिम्ब द्वारा फिर उनका वही अपना नीला वर्ण हो जाना वर्णित है।

"लखत नीलमनि होत अलि! कर बिद्रुम दिखरात,
मुकता कों मुकता बहुरि लख्यो तोहि मुसक्यात ॥"५७४॥

यहाँ मोतियों द्वारा नायिका के नेत्रों का नील गुण ग्रहण फिर हाथ में रक्खे जाने पर हाथ का रक्तगुण ग्रहण करके पुनः अपने गुण के समान नायिका के हास्य का श्वेत गुण ग्रहण किया जाना कहा गया है।

कुवलयानन्द में पिछले दोनों (संख्या ५७३–५७४) उदाहरणों में पूर्वरूप अलंकार माना है। काव्यप्रकाश में इसप्रकार के उदाहरण तद्गुण के अन्तर्गत ही दिखाये गये हैं। वस्तुतः कुछ विशेषता भी नहीं है, अतः तद्गुण ही माना जाना युक्तियुक्त है।

और देखिये—

"कालिह ही गूंथि बबाकी सौं मैं गजमोतिन की पहिरी वह आला;
आय कहाँ ते गई पुखराज की, संग गई जमुना तट बाला,
न्हात उतारी मैं 'बेनीप्रवीन' हँसे सुनि बैनन नैन बिसाला,
जानति ना अँग की बदली, सबसों बदली बदली कहै माला ॥"५७५॥[४४]

यहाँ यद्यपि कञ्चन-वर्णा नायिका की अंग-प्रभा का मोतियों की माला द्वारा पीत गुण ग्रहण किया जाना कहा गया है; किन्तु इस वर्णन में तद्गुण गौण और भ्रान्ति प्रधान है अतएव तद्गुण यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार का अंग मात्र है।

(७७) अतद्‌गुण अलंकार

समीपवर्ती वस्तु के गुण का ग्रहण किया जाना सम्भव होने पर भी ग्रहण नहीं किये जाने को अतद्गुण अलंकार कहते हैं।

अतद्गुण अलंकार पूर्वोक्त तद्गुण के विपरीत है। अतः इस अलंकार में लक्षण के अनुसार अपने समीपवर्ती वस्तु का गुण ग्रहण नहीं किया जाता है।

उदाहरण—

आप अपना हृदय उज्वल कह रहे,
रंग उस पर प्रिय! नहीं चढ़ता कहीं,
राग-पूरित हृदय में रखती उसे,
रक्त फिर भी वह कभी होता नहीं।।५७६।।

यहाँ नायिका के राग भरे हुए (अनुराग युक्त अथवा श्लेषार्थ रंग भरे हुए) हृदयके रक्त गुण द्वारा नायक के उज्ज्वल हृदय का रक्त होना (उज्ज्वल वस्तु का रक्त वस्तु में रह कर रक्त होना) सम्भव होने पर भी रक्त न होना कहा गया है।

प्रकृत द्वारा किसी कारण वश अप्रकृत का रूप नहीं ग्रहण किये जाने में भी अतद्गुण होता है। जैसे—

कालिंदी के असित और सित गंगा के जल में स्थित तू—
स्नान नित्य करता रहता है तरण-केलि में हो रत तू,

किन्तु नहीं घटती बढ़ती वह तेरी विमल शुभ्रता है,
राजहंस ! तेरे में क्या ही अकथनीय अनुपमता है ॥५७७॥

गंगाजल के श्वेत गुण का और यमुनाजल के नील गुण का हंस द्वारा ग्रहण न किये जाने का कारण यहाँ राजहंस होना कहा गया है।

तद्गुण और अतद्गुण का उल्लास और अवज्ञा आदि से पृथक्करण—

एक के गुण से दूसरे को गुण होने में 'उल्लास' और एक के गुण से दूसरे को गुण न होने में अवज्ञा अलङ्कार कहा गया है। यही बात तद्गुण और अतद्गुण के लक्षणों में कही गई है। पर उल्लास और अवज्ञा से तद्गुण और अतद्गुण में यह भेद है कि उल्लास और अवज्ञा के लक्षणों में 'गुण' शब्द है उसका 'दोष' शब्द के विपरीत अर्थ है—वहाँ एक के गुण से दूसरे द्वारा गुण के ग्रहण और ग्रहण न करने में उसी के गुण का मिलना और न मिलना नहीं है। किन्तु सद्गुरु के उपदेश से अच्छे और बुरे शिष्यों के जैसे ज्ञान की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति होती है उसी प्रकार उसके गुण से उत्पन्न होने वाले दूसरे प्रसिद्ध गुण का होना और न होना है। किन्तु तद्गुण और अतद्गुण के लक्षणों में 'गुण' शब्द है वह दूसरे के गुण से ही रंगना और न रंगना है, जैसे रक्त-रंग से सफेद वस्तु का रक्त होना और मलिन वस्तु का न होना। यद्यपि 'अवज्ञा' और अतद्गुण दोनों अलङ्कार, कारण के होते हुए कार्य न होने रूप 'विशेषोक्ति' अलङ्कार' के अन्तर्गत आ जाते हैं। पर इनमें दूसरे के गुण का ग्रहण न करने रूप विशेष चमत्कार होने के कारण उल्लास और तद्गुण के विरोधी रूप से ये भिन्न अलङ्कार माने गये हैं।

(७८) अनुगुण अलङ्कार

दूसरे की समीपता से अपने स्वाभाविक गुण का उत्कर्ष होने को 'अनुगुण' अलङ्कार कहते हैं।

'अनु' और 'गुण' मिलकर अनुगुण शब्द बना है। यहाँ 'अनु' उपसर्ग का अर्थ आयाम[1] (दीर्घता या बढ़ना) है। अर्थात् गुण का बढ़ना। अनुगुण अलङ्कार में किसी वस्तु के स्वाभाविक गुण का अन्य-दीय गुण के सम्बन्ध से उत्कर्ष होना कहा जाता है।

कपि पुनि मदिरा-मत्त ह्वै बिच्छु डसै पुनि ताहि,
तापर लागै भूत तब बिकृति कहा कहि जाहि ॥५७८॥

यहाँ बन्दरों के स्वतः सिद्ध वैकृत का मद्यादि से और भी अधिक विकृत होना कहा गया है।

"काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि,
तिय बिसेष पुनि चेरि कह भरत-मातु मुसकानि॥"५७६॥[२२]

यहाँ मन्थरा की स्वतःसिद्ध कुटिलता का स्त्री और दासी होने से आधिक्य वर्णन है।

चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में 'अनुगुण' को स्वतन्त्र अलङ्कार लिखा है। उद्योतकार ने इसको तद्गुण के अन्तर्गत बताया है। किन्तु तद्गुण में गुण शब्द का प्रयोग वर्ण (रंग) के अर्थ में है और अनुगुण में 'गुण' का प्रयोग इस अर्थ में नहीं अतः यह तद्गुण के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता।

(७९) मीलित अलंकार

किसी वस्तु के स्वाभाविक अथवा आगन्तुक[2] साधारण (एक समान) चिह्न द्वारा दूसरी वस्तु के तिरोधान[3] होने के वर्णन को मीलित अलङ्कार कहते हैं।

---

१ देखिये शब्दकल्पद्रुम।
१ किसी कारण वश आये हुए।
२ दिखाई न देना—छिपाया जाना।

मीलित का अर्थ है मिल जाना। मीलित अलंकार में नीरक्षीर न्याय के अनुसार एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ मिलकर छिप जाती है।

स्वाभाविक-धर्म द्वारा तिरोधान—

"पान-पीक अधरान में सखी! लखी नहिं जाय,
कजरारी-अँखियान में कजरा री! न लखाय॥"५८०॥

यहाँ नायिका के अधरों की स्वाभाविक रक्तता के साधारण (समान) चिह्न द्वारा पान के पीक की रक्तता का तिरोधान—छिप जाना और स्वाभाविक कजलौटे नेत्रों में कज्जल का छिप जाना कहा गया है।

आगन्तुक-धर्म द्वारा तिरोधान—

नृप! तेरे भय भगि वसत हिम-गिरि-गुह अरि जाय,
कंपित पुलकित रहत वे तऊ न भीत लखाँय॥५८१॥

किसी राजा के प्रति कवि की उक्ति है—तेरे से भयभीत होकर हिमालय की गुफाओं में निवास करने वाले तेरे शत्रु-गण यद्यपि वहाँ तेरे भय के कारण कम्पायमान रहते हैं फिर भी वहाँ के लोग उन्हें हिमालय के शीत से ही कम्पित समझते हैं। यहाँ हिमालय के शीत-जनित समझी हुई कम्पा द्वारा राजा के भय-जनित कम्पा का छिप जाना है। हिमालय के शीत से शत्रुओं को कम्पा होना आगन्तुक है न कि स्वाभाविक।

पूर्वोक्त 'तद्गुण' में साधारण (समान) चिह्न वाली वस्तु का तिरोधान नहीं है, किन्तु उत्कट-गुण वाली वस्तु का केवल गुण ग्रहण है। जैसे श्वेत मोतियों द्वारा विद्रुम का गुण ग्रहण किया जाना। किन्तु 'मीलित' के 'पान-पीक' आदि उदाहरणों में अधरों की अधिक रक्तता रूप तुल्य-धर्म द्वारा पान के पीक की रक्तता का तिरोधान (छिप जाना) है।

इसको काव्यादर्श में अतिशयोक्ति का एक भेद माना है।

(८०) सामान्य अलंकार

अत्यक्त निजगुणवाले प्रस्तुत को अप्रस्तुत के साथ गुण की समानता कहने की इच्छा से एकात्मता-वर्णन को 'सामान्य' अलंकार कहते हैं।

सामान्य का अर्थ है समान का भाव। सामान्य अलंकार में प्रकृत और अप्रकृत का साम्य कहा जाता है। अर्थात् उपमान के समान गुण न होने पर भी समान गुण कहने के लिए अत्यक्त-गुण वाले (अपना गुण नहीं छोड़ने वाले) उपमेय की उपमान के साथ एकात्मता वर्णित की जाती है।

> चंद्र-मुखी लखि चांदनी चंदन-चर्चित चारु,
> सजि रट भूषन कुसुमसित मुदित कियो अभिसारु ॥५८२॥

यहाँ अप्रस्तुत चन्द्रमा के समान प्रस्तुत कामिनी में वस्तुतः कान्ति न होने पर भी चन्द्रमा की कान्ति के समान कहने की इच्छा से शुक्लाभिसारिका (चन्दनादि से सफेद सिंगार करके प्रिय के निकट अभिसार करने वाली) नायका की चन्द्रमा के साथ एकात्मता (एक रूपता) का वर्णन किया गया है।

कुवलयानन्द ने जहाँ 'सादृश्य से कुछ भेद प्रतीत नहीं होता है, वहाँ भी यह अलंकार माना है। जैसे—

> रतनन के थंभन घने लखि प्रतिबिंब समान,
> सक्यो न अंगद दसमुखहि सभा मांहि पहिचान ॥५८३॥

यहाँ रत्न-स्तम्भों में रावण के अनेक प्रतिबिम्बों के सादृश्य में और साक्षात् रावण में कुछ भेद की प्रतीति न होना कहा है।

> "ओस गनगौरन के गौर के उछाहन में।
> छाई उदैपुर में बधाई ठौर ठौर है।

देखो भीम राना या तमासा ताकिबे के लिये
माची आसमान में बिमानन की भौंर है।
कहै 'पद्माकर' त्यों घोखे मा-उमा के गज—
गौंनिन की गोद में गजानन की दौर है।
पार पार हेला महामेला में महेस पूछैं
गौरन में कौनसी हमारी गनगौर है ॥''५८४॥

यहाँ गनगौरों के उत्सव में गौरीजी की समानता किसी में न होने पर भी अनेक सुन्दरी नायकाओं में और श्रीगौरीजी में भेद की अप्रतीति का वर्णन किया गया है।

सामान्य से मीलित तथा तद्गुण का पृथक्करण—

'मीलित' में बलवान् वस्तु द्वारा उसी गुणवाली निर्बल वस्तु के स्वरूप का छिपजाना कहा जाता है और 'सामान्य' में दोनों वस्तुओं का स्वरूप पृथक्-पृथक् प्रतीत होने पर भी गुण की समानता से दोनों में भेद की प्रतीति न होना कहा जाता है। लक्षण में 'अत्यक्त निजगुण' के कथन द्वारा 'तद्गुण' से पृथकता की गई है, क्योंकि 'तद्गुण' में निजगुण त्याग कर दूसरे का गुण ग्रहण होता है। सामान्य में निज गुण का त्याग नहीं होता है।

[८१] उन्मीलित अलंकार

सादृश्य होने पर भी कारण-विशेष द्वारा भेद की प्रतीति के वर्णन को 'उन्मीलित अलंकार' कहते हैं।

'उन्मीलित' अलंकार पूर्वोक्त 'मीलित' के विपरीत है। अर्थात् इस अलंकार में एक वस्तु दूसरी वस्तु के साथ मिलकर भी किसी कारण-वश पृथक् प्रतीत होने लगती है।

"चंपक हरवा अँग मिलि अधिक सुहाय,
जानि परै सिय-हियरे जब कुम्हिलाय ॥"५८५॥ [२२]

यहाँ चम्पक के पुष्प जैसी अंग-कांति वाली श्रीजानकीजी में और चम्पा की माला में सादृश्य होने पर अर्थात् भेद प्रतीत न होने पर, चम्पक की माला के कुम्हलाने रूप कारण द्वारा भेद ज्ञात होना कहा गया है।

"देखिबे को दुति पून्यो के चंद की हे 'रघुनाथ' श्रीराधिका रानी,
आइ बिलोर के चौंतरे ऊपर ठाड़ी भईं सुख सौरभ सानी,
ऐसी गईं मिलि जोन्ह की ज्योति सौं रूप की रासि न जाति बखानी,
बारन तैं कछु भौंहन तैं कछु नैनन की छबि तैं पहिचानी।"५८६॥[५१]

यहाँ चन्द्रमा की चाँदनी से श्रीराधिकाजी का भेद उनके श्यामवर्ण के केशों आदि द्वारा ज्ञात होना कहा है।

"मिलि चंदन बैंदी रही गोरे मुख न लखाय,
ज्यों-ज्यों मद-लाली चढ़ै त्यों-त्यों उघरत जाय ॥"५८७[४३]

गौरवर्णा नायका के भाल पर चन्दन की बैंदी का भेद यहाँ मद-पान की रक्तता के कारण ज्ञात होना वर्णित है।

उन्मीलित अलंकार और इसी से मिलता हुआ 'विशेषक' नामक अलंकार ये दोनों कुवलयानन्द में पूर्वोक्त 'मीलित' और सामान्य के प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) मानकर भिन्न लिखे गये हैं। पर काव्यप्रकाश में ये दोनों 'सामान्य' के अन्तर्गत माने गये हैं। 'उद्योतकार' ने स्पष्टता की है कि 'कारणविशेष द्वारा भेद प्रतीत होने पर भी जिस अभेद की प्रथम प्रतीति हो चुकी है, वह अभेद दूर नहीं हो सकता'। जैसे 'चंपक हरवा..................' (संख्या ५८५) में चंपक की कान्ति के साथ अङ्ग-कान्ति का जो अभेद प्रथम जाना गया है; वह (चम्पक के कुम्हला जाने पर उनका भेद ज्ञात होने पर भी) दूर नहीं हो सकता, अतएव

ऐसे वर्णनों में 'सामान्य' अलंकार ही है । इसीलिए काव्यप्रकाश में 'विशेषक' अलंकार नहीं लिखा है ।

(८२) उत्तर अलङ्कार

'उत्तर' का अर्थ स्पष्ट है । उत्तर अलंकार में चमत्कारक उत्तर दिया जाता है । यह दो प्रकार का होता है ।

प्रथम उत्तर

उत्तर के श्रवण मात्र से प्रश्न की कल्पना किये जाने अथवा बारबार प्रश्न करने पर असम्भाव्य (अप्रसिद्ध) बारबार उत्तर दिये जाने को प्रथम 'उत्तर' अलङ्कार कहते हैं।

यह भी दो प्रकार का होता है ।

(क) उन्नीत-प्रश्न । अर्थात् व्यंग्य युक्त उत्तर सुन कर ही प्रश्न की कल्पना किया जाना ।

(ख) निबद्ध-प्रश्न । अर्थात् कई बार प्रश्न किये जाने पर कई बार अप्रसिद्ध उत्तर दिया जाना ।

उन्नीत-प्रश्न—

बनिक ! नहीं गजदंत इत सिंहचर्म हू नाँहि,
ललितालक-मुख-सुत-बधू है मेरे घर माँहि ॥५८८॥

हाथीदाँत और सिंह-चर्म के ग्राहक के प्रति यह वृद्ध व्याध का उत्तर वाक्य है । इसी उत्तर-वाक्य द्वारा ग्राहक के 'क्या तेरे यहाँ हाथी त और सिंह-चर्म हैं ?' इस प्रश्न की कल्पना हो जाती है । अर्थात् प्रश्न जान लिया जाता है और वृद्ध व्याध का दूसरा वाक्य (दोहे का उत्तरार्द्ध) यदि साभिप्राय (व्यंग्य युक्त) समझा जाय तो यह अभिप्राय है कि 'मेरा पुत्र अपनी सुन्दर अलकों वाली रूपवती स्त्री में इतना आसक्त है कि उसे छोड़कर वह कहीं बाहर शिकार को जाता नहीं ।

यह श्लेषगर्भित भी होता है—

सुवरन खोजत हौं फिरौं सुंदरि ! देस-विदेस,
दुरलभ है यह समुझि जिय चिंतित रहौं हमेस ॥५८६॥

यह किसी तरुणी के प्रति किसी नागरिक की उक्ति है। यहाँ 'सुबरन'[1] शब्द में श्लेश है इसमें तरुणी के इस प्रश्न की कल्पना की जाती है कि 'तुम चिन्ता-ग्रस्त किस लिये हो ?'

उत्तर अलङ्कार के उन्नीत प्रश्न का पूर्वोक्त 'काव्यलिंग' और अनुमान से पृथक्करण—

यद्यपि काव्यलिंग में भी वक्तव्य (कही गई बात) का कारण (हेतु) कहा जाता है और इस उन्नीत-प्रश्न उत्तर अलङ्कार के उत्तर वाक्य, में भी प्रश्न वाक्य का कारण (हेतु) होता है । किन्तु इन दोनों में भेद यह है कि हेतु (कारण) दो प्रकार का होता है—निष्पादक और ज्ञापक । 'काव्यलिंग' में निष्पादक कारण[2] होता है। अर्थात् कार्य रूप में कहे गये किसी वक्तव्य को उसका कारण कह कर सिद्ध किया जाता है । किन्तु उन्नीत-प्रश्न में जो उत्तर रूप कारण (साध्य) कहा जाता है, वह प्रश्न रूप कार्य (साध्य) का ज्ञापक हेतु होता है—ज्ञान कराने वाला होता है, न कि निष्पादक—सिद्ध करने वाला । इसके सिवा काव्यलिंग में वक्तव्य रूप कार्य (साध्य) का और उसके कारण (साधन) का—दोनों का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन किया जाता है। किन्तु उत्तर अलङ्कार में केवल उत्तर रूप कारण (साधन) ही कहा जाता है, प्रश्न रूप कार्य (साध्य) नहीं कहा जाता । फिर यदि किसी अंश में काव्यलिंग को उन्नीत-प्रश्न

---

१ सुवर्ण अथवा सुन्दर रूप ।

२ देखिये पूर्वोक्त 'काव्यलिंग' और 'अर्थान्तरन्यास' प्रकरण में किया गया स्पष्टीकरण ।

में मिलता हुआ भी माना जाय, तो भी उत्तरवाक्य द्वारा प्रश्न का ज्ञान होने का विशेष चमत्कार होने के कारण उन्नीत-प्रश्न को स्वतंत्र अलङ्कार माना जाना युक्तियुक्त ही है।

यदि यह कहा जाय कि ज्ञापक-हेतु तो अनुमान अलंकार में होता है, तो इसका उत्तर यह है कि 'अनुमान' में भी साध्य और साधन (कार्य और कारण, दोनों शब्द द्वारा स्पष्ट कहे जाते हैं, इस उन्नीत-प्रश्न में तो केवल कारण (साधन) रूप उत्तर-वाक्य ही कहा जाता है, अतः अनुमान अलंकार से भी यह उन्नीत-प्रश्न उत्तर अलंकार पृथक् ही है।

निबद्ध-प्रश्न--

कहा विषम ? है दैव-गति, सुख कह ? निरुज सुअंग,
का दुरलभ ? गुन-गाहक हि, दुख कह ? दुरजन-संग ॥५६०॥

यहाँ 'कहा विषम' आदि कई प्रश्नों के 'दैव-गति' आदि कई उत्तर दिये गये हैं।

पण्डितराज का मत है कि उन्नीत-प्रश्न और निबद्ध-प्रश्न दोनों ही में प्रश्नोत्तर कहीं साभिप्राय (व्यंग्य-युक्त) और कहीं व्यंग्य-रहित होते हैं। निबद्ध-प्रश्न में व्यंग्य-युक्त प्रश्नोत्तर का उन्होंने यह उदाहरण दिया है—

मृगलोचनि ! क्यों कृश-गात बता ?
यह व्याधि तुम्हारी असाध्य है क्या ?
पथ-भ्रष्ट हुए पथिकों से कभी
कुल-कामनियाँ कहीं साध्य हैं क्या ?
कहिये न, तथापि कृपा करके हिय
अंतर में कुछ आधि है क्या ?
घर जाकर पूछिये क्यों न वहाँ
निज कामिनि सौं यह व्याधि है क्या ? ॥५६१॥

प्रोषितपतिका नायिका का और किसी पथिक का यह परस्पर में प्रश्नोत्तर है। प्रथम पाद में पथिक के 'तू कृश क्यों है' इस प्रश्न में 'जो कारण कहेगी तो मैं उसका उपाय करूँगा' यह व्यंग्य (अभिप्राय) है। दूसरे पाद में नायिका द्वारा दिये गए उत्तर में 'इसका कारण मैं पतिव्रता परपुरुष के प्रति नहीं कह सकती और न तू उपाय ही कर सकता है' यह व्यंग्य है। तीसरे पाद में पथिक के दूसरे प्रश्न में अरसिक जनों के हठ मात्र पातिव्रत्य में क्या है' यह अभिप्राय है। चौथे पाद में नायिका द्वारा दिये गये उत्तर में यह अभिप्राय है कि 'जो मेरी दशा है वही दशा तेरी पत्नी की भी है उसका उपाय कर—अपने जलते हुए घर को छोड़ कर दूसरे के घर में लगी हुई अग्नि का व्यर्थ शोक क्यों करता है' ?

इस निबद्ध-प्रश्न में और 'परिसंख्या' में यह भेद है कि परिसंख्या में लोक-प्रसिद्ध उत्तर का दूसरी वस्तु के निषेध में तात्पर्य होता है और अप्रसिद्ध उत्तर भी नहीं होते। और 'उत्तर' में 'दैवगति' आदि उत्तरों का 'विषमता' मात्र कहने में ही तात्पर्य है, न कि किसी दूसरी वस्तु के निषेध में और न यहाँ अप्रसिद्ध उत्तर है।

अप्पय्य दीक्षित का कहना है कि ध्वनिकार के मतानुसार अलङ्कार का विषय वही हो सकता है, जहाँ शब्द-शक्ति या अर्थशक्ति द्वारा प्रतीत होने वाला व्यंग्यार्थ वक्ता द्वारा (या कवि द्वारा) स्पष्ट कर दिया जाता है[१]। जैसे—

उन वेतस-तरु में पथिक ! उतरन कौं पथ नीक,
पथ-पृच्छक सों हँसि तरुनि रहस जु सूचन कीन्ह ॥५९२॥

१ "शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तो व्यंग्योऽर्थः कविना पुनः
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः।"
—ध्वन्यालोक २।२६

यहाँ पूर्वार्द्ध में नायिका के वाक्य में जो व्यंग्यार्थ है, वह चतुर्थ चरण में कवि द्वारा प्रकट कर दिया गया है। अतएव 'वनिक कहाँ गजदन्त........' (सं० ५८८) ऐसा उदाहरण, जहाँ वक्ता अपनी उक्ति द्वारा व्यंग्यार्थ प्रकट नहीं करता है, वस्तुतः ध्वनि का विषय है। इस प्रकार के वर्णन में अलंकार मानना प्राचीन परिपाटी मात्र है।

द्वितीय उत्तर

प्रश्न के वाक्य में ही उत्तर अथवा बहुत से प्रश्नों का एक ही उत्तर कहे जाने को द्वितीय उत्तर अलंकार कहते हैं।

प्रश्न के वाक्य में उत्तर जैसे—

"कोकहिये जल सों सुखी काकहिये पर स्याम,
काकहिये जे रस बिना कोकहिये सुख धाम॥"५९३॥[५]

यहाँ चारों चरणों में क्रमशः—जल से कौन सुखी है ?, श्याम पंख वाले क्या कहे जाते हैं ?, अरसिकों को क्या कहते हैं ? और स्त्रियोंको सुखदायक कौन है ? यह चार प्रश्न हैं इन प्रश्नों के इन्हीं अक्षरों में क्रमशः—'कोक (चक्रवाक) का हृदय जल से सुखी है, काकपक्षी के हृदय पर श्याम पंख हैं, अरसिक जन काक के समान कुत्सितहृदय हैं और जिनके हृदय में कोकशास्त्र है' ये उत्तर हैं।

अनेक प्रश्नों का एक उत्तर जैसे—

"तोर्यो सरासन संकर को किन ? कौन लियो धनु त्यों भृगुनाथ सों ?
कौन हन्यौ मृगराजसे वालिकौं ? कौन सुकंठहि कीन्हों सनाथ सो ?
राजसिरी को विभीषन-भाल दै को 'लछिराम' जित्यो दसमाथ सो ?
उत्तर एकहि बार दियो रचना सिगरी रघुनाथ के हाथ सों॥"५९४॥[५५]

यहाँ 'तोर्यो सरासन संकर को किन ?' इत्यादि अनेक प्रश्नों का 'रचना सिगरी रघुनाथ के हाथ सों' यही एक उत्तर है।

"को शुभ अच्छर ? कौन जुवति जोधन वस कीन्हीं ?
विजय सिद्धि संग्राम राम कहँ कौने दीन्हीं ?
कंसराज यदुवंस बसत कैसे 'केसव' पुर ?
बट सों कहिये कहा ? नाम जानहु अपने उर।
कहि कौन जुवति जग-जनन किय कमलनयनि सूच्छमबरनि ?
सुनु बेदपुरानन में कही सनकादिक 'संकरतरुनि' ॥" ५६५ ॥[७]

यहाँ कई प्रश्नों का 'शंकरतरुनि' यही एक उत्तर शृङ्खला (सांकल) की रीति से दिया गया है[1]।

'उत्तर' अलंकार के इस भेद को 'प्रश्नोत्तर' अलंकार भी कहते हैं। और अन्तर्लापिका भी कहते हैं।

(८३) सूक्ष्म अलङ्कार

किसी इङ्गित[2] या आकार से जाने हुए सूक्ष्म अर्थ को किसी युक्ति से सूचित किये जाने को 'सूक्ष्म' अलङ्कार कहते हैं।

---

१ (क) शुभ अच्छर कौन है ?, (ख) योद्धाओं को वश में करने वाली स्त्री कौन है ?, (ग) परशुराम को विजयसिद्धि किसने दी ?, (घ) कंस के राज्य में यदुवंशी किस प्रकार रहते थे ?, (ङ) बट वृक्ष का क्या नाम है ?' (च) जगत-जननी कौन है ?, इन सब प्रश्नों का 'शंकरतरुनि' यही एक उत्तर क्रमशः दिया गया है – (क) 'शं' सुख-वाचक है। (ख) शंक अर्थात् शंका स्त्रीलिंग होने से युवती मानी है। (ग) शंकर। (घ) शंक-रत अर्थात् त्रास युक्त।' (ङ) शंकर-तरु (शंकर-तरु वट का नाम है); (च)शंकरतरुनि अर्थात् श्री पार्वती।

२ नेत्र या भ्रकुटी-भङ्गादि की चेष्टा।

सूक्ष्म का अर्थ है, तीक्ष्ण-बुद्धि द्वारा सहृदय जनों के जानने योग्य रहस्य[1]। लक्षण के अनुसार इस अलङ्कार में सूक्ष्म अर्थ (रहस्य) का सूचन किया जाता है।

चेष्टा द्वारा लक्षित सूक्ष्म—

> चिट-हिय प्रश्न सहेट को समुझि तियो परवीन,
> लीला-कमल समेटि हँसि सैनन सूचन कीन ॥५६६॥

नेत्रादि की चेष्टाओं द्वारा यहाँ सहेट (मिलने) का समय पूछने के इच्छुक अपने प्रेमी को नायिका ने कमल को मूँदने की युक्ति से—रात्रि का समय सूचन किया है, क्योंकि कमल रात्रि में मूँद जाते हैं।

आकार द्वारा लक्षित सूक्ष्म—

"मोर पखा-ससि सीस धरें श्रुति में मकराकृत कुंडल धारी,
काछ कछे पट-पीत मनोहर कोटि मनोजन की छवि वारी;
'छत्रपती' भनि लै मुरली कर आइ गये तहँ कुंजविहारी,
देखत ही चख लाल के बाल प्रवाल की माल गले बिच डारी॥"५६७॥[१५]

यहाँ नेत्रों की रक्ततारूप आकार द्वारा रात्रि में अन्य गोपी के समीप जगे रहना जान कर नायिका ने इस रहस्य का—प्रवाल की माला कुञ्ज-बिहारी को पहिराने की युक्ति द्वारा—सूचन किया है।

कुवलयानन्द में इङ्गित और आकार के सिवा जहाँ उक्ति द्वारा सूक्ष्म-अर्थ सूचित किया जाता है, वहाँ भी सूक्ष्म अलङ्कार माना है—

> संकेतस्थल प्रश्न जान हरि का गोपांगना ने वहाँ,
> बैठी देख व्रजांगना निकट में चातुर्य से यों कहा—
> कैसी निश्चल है सरोज-दल पै बैठी बलाका वहाँ
> मानो मर्कत-पात्र में अयि सखी! सीपीं धरी हों अहा ॥५६८॥

---

१ सूक्ष्मः तीक्ष्णमतिसंवेद्यः—काव्यप्रकाश-वृत्ति

श्रीकृष्ण द्वारा नेत्रादि की चेष्टा से किये हुए संकेतस्थान के प्रश्न को समझ कर गोपी ने यहाँ सखी के प्रति—'देख कमलपत्र पर वहाँ बक पक्षी कैसे निश्चय बैठे हुए हैं' इस वाक्य द्वारा उस स्थान को निर्जन होने के कारण बकों की निर्भयता सूचन करके श्रीकृष्ण को एकान्त का संकेत स्थान सूचित किया है। इस पद्य के पूर्वार्द्ध में यदि संकेत स्थान का प्रश्नोत्तर स्पष्ट न कहा जाता तो यहाँ अलङ्कार न होकर 'ध्वनि' काव्य हो जाता।

आकार-लक्षित-सूक्ष्म अर्थ के ज्ञाता द्वारा साकूत चेष्टा की जाने में कुवलयानन्द में 'पिहित' अलङ्कार माना है। परन्तु काव्यप्रकाश में इसे सूक्ष्म का ही एक प्रकार माना गया है। पिहित का विषय अन्य है वह आगे पिहित के लक्षण और उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

(८४) पिहित अलंकार

एक अधिकरण में रहने वाला गुण अपनी प्रबलता से जहाँ आविर्भूत[1] भी अ-समान अर्थान्तर को आच्छादित कर लेता है वहाँ पिहित अलंकार होता है।

पिहित का अर्थ है आच्छादन करना—किसी दूसरे पदार्थ को ढक लेना। पिहित अलंकार में एक अधिकरण (आश्रय) में रहने वाला गुण अपनी प्रबलता से दूसरी वस्तु को—ऐसी वस्तु को जिसका समान न होना प्रकट हो रहा है—ढक लेता है। लक्षण में 'अ-समान' का प्रयोग पूर्वोक्त 'मीलित' से पृथक्ता बतलाने के लिए किया गया है। क्योंकि मीलित में समान गुण (चिह्न) द्वारा अन्य वस्तु का छिप जाना है। यह लक्षण रुद्रट कृत काव्यालंकार के अनुसार है। चन्द्रालोक और कुवलयानन्द में पिहित का लक्षण[2]—यह लिखा

---

१ प्रकट होते हुए भी।

२ 'पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुः साकूतचेष्टितम्।'

है कि दूसरे के वृत्तान्त को जानने वाले व्यक्ति द्वारा साभिप्राय चेष्टा किया जाना। किन्तु इस लक्षण द्वारा न तो पिहित के नामार्थ का चमत्कार ही किसी अंश में सूचित होता है और न इसके द्वारा पूर्वोक्त सूक्ष्म अलंकार से पिहित की पृथकता ही हो सकती है। दीक्षितजी ने स्वयं कुवलयानन्द में पिहित का वही उदाहरण दिया है, जो काव्यप्रकाश में सूक्ष्म के उदाहरणों में दिया गया है।

रुद्रट से अपने लक्षणानुसार पिहित का—

मृदु ससि-कला-कलाप सम तेरी तन-दुति माँहि,
यह कृशता प्रिय-विरह की सखि, किहिं कौं न लखाहि ॥५६६॥

इस आशय का उदाहरण दिया है। यहाँ चन्द्र-कला के तुल्य अंग की कान्ति और प्रिय-वियोग जनित कृशता इन दोनों का एक ही (नायिका का शरीर) आश्रय है। अंग-कान्ति से कृशता अ-समान है—इन दोनों का भिन्न-भिन्न रूप प्रकट हो रहा है—अंग-कान्ति रूपी गुण की प्रबलता से नायिका के शरीर में आविर्भूत (प्रकट हो रही) कृशता का आच्छादन होना कहा गया है।

रुद्रट के लक्षण और इस उदाहरण द्वारा पिहित अलंकार की 'सूक्ष्म' से स्पष्ट पृथकता हो जाती है।

(८५-८६) व्याजोक्ति और युक्ति अलङ्कार

किसी प्रकार से प्रकट हो जाने पर गुप्त रहस्य को कपट से छिपाये जाने को व्याजोक्ति अलंकार कहते हैं।

व्याजोक्ति का अर्थ है व्याज से उक्ति अर्थात् कपट (छल) से कहना। व्याजोक्ति अलंकार में गुप्त रहस्य का प्रकट हो जाने पर उसे किसी बहाने से छिपाया जाता है।

अपह्नुति से व्याजोक्ति का पृथक्करण—

पूर्वोक्त अपह्नुति अलंकार में उपमेय-उपमान भाव रहता है और जो बात छिपाई जाती है उस बात का पहिले कथन करके निषेध पूर्वक वह छिपाई जाती है। और छेकापह्नुति में भी अपनी कही हुई बात का ही अन्य अर्थ करके निषेधपूर्वक वह छिपाई जाती है किन्तु व्याजोक्ति में न तो उपमेय-उपमान भाव रहता है और न जो बात छिपाई जाती है वह पहिले वक्ता द्वारा कही जाती है और न निषेध ही किया जाता है।

उदाहरण—

तुहिनाचल ने अपने कर सों हर-गौरी के लै जब हाथ जुटाये,
तन कंपित रोम उठे सिव के, विधि भंग भये मन में सकुचाये,
'गिरि के कर में अति सीत अहो, कहियों वह सात्विक-भाव दुराये,
वह शंकर हों मम शंकर, जो हँसि के गिरि के रनवास लखाये॥६००॥

यहाँ श्रीशिव-पार्वती के विवाह के पाणि-ग्रहण के समय पार्वतीजी के स्पर्श से उत्पन्न कम्पादिक सात्विक भावों को, महादेवजी ने 'हिमालय के हाथों में बड़ी शीतलता है' ऐसा कह कर इस बहाने से छिपाया है

''बैठी हुती व्रज की बनितान में आइ गयो कहुँ मोहनलाल है,
ह्वै गई देखते मोद मई सु निहाल भई वह बाल रसाल है,
रोम उठे तन काँप्यो कछू मुसक्यात लख्यो सखियान को जाल है,
'सीरी बयारि वही सजनी' उठि यों कहि कैंउन ओढ्यो जु साल है''॥६०१॥

यहाँ नायक को देख कर रोमाञ्च आदि सात्विक भाव उत्पन्न हुए उनको नायिका ने 'सीरी ब्यारि बही' कह के इस बहाने से वस्त्र ओढ़ कर छिपाया है।

कुवलयानन्द में क्रिया आदि द्वारा छिपाये जाने में भी व्याजोक्ति अलंकार माना है। जैसे—

चतुर अली सँग की छली आत गली लखि लाल,
ढके पुलक अनुराग के करि प्रनाम नव बाल ॥६०२॥

यहाँ श्रीकृष्ण को देखकर अनुराग-जन्य रोमाञ्चों को गोपाङ्गना प्रणाम करने की क्रिया से छिपाया है।

"ललन चलन सुन पलनु में अँसुवा झलके आय,
भई लखान न सखिन हू झूठें ही जमुहाय ॥"६०३॥ [४२]

यहाँ अश्रु आदि सात्विक-भावों को जम्हाई की क्रिया द्वारा छिपाये गये हैं। कुवलयानन्द में अपने रहस्य को छिपाने के लिये क्रिया द्वारा दूसरे का वञ्चन करने को 'युक्ति' नामक भिन्न अलङ्कार माना है। किन्तु वह व्याजोक्ति के अन्तर्गत ही है। स्वयं कुवलयानन्द ने उपयुक्त 'चतुर अली......' इस आशय के उदाहरण को व्याजोक्ति में लिख कर फिर 'युक्ति' अलंकार के प्रकरण में इसी को 'युक्ति' का उदाहरण भी लिखा है।

(८७) गूढोक्ति अलंकार

अन्योद्देशक वाक्य के दूसरे के प्रति कहे जाने को 'गूढोक्ति' अलंकार कहते हैं।

गूढोक्ति अर्थात् गूढ़ (गुप्त) उक्ति। गूढोक्ति अलंकार अन्योद्देशक अर्थात् अन्य के प्रति वक्तव्य को निकटस्थ अन्य व्यक्ति गुप्त रखने के लिये किसी दूसरे व्यक्ति के प्रति कहा जाता है।

"खिले फूल हो भौंर घने बन बाग यों स्वामिनी को परखावनो है,
लखि या विधि गौरि के पूजन क 'लछिराम' हियो हरखावनो है,
पहिले ही मराल मयूर चकोर मिलिंदन को मडरावनो है,
हँसिबोली अली भली मैथिली कीफिरि काल्हि इतैं संग आवनो है।"६०४(५५)

जनकपुर की फुलवारी में सीताजी की सखी को 'हम कल फिर यहाँ आयँगी' यह बात श्रीरघुनाथ जी के प्रति कहना अभीष्ट था, पर तटस्थ अन्य व्यक्तियों से छिपाने के लिये श्रीरघुनाथजी को न कह कर उसने (सखी ने) अपनी सखियों को कहा है।

"एरी बीर ! सावन सुहावन लग्यो है यह,
अब तौ उमंग निज हिय की पुजैहैं री।
सोरहू सिंगार करि द्वादस आभूषण हू,
'रसिक-बिहारी' अंग अति ही सजैहैं री।
सखिन दुराय गुरु लोगन बचाय दीठि,
निपट अकेली संग काहू कों न लैहैं री।
बीतें निसिजाम जब चंद छिपि जैहै तबै,
तेरे भौन झूलन हिंडौल आज ऐहैं री॥"६०५॥[५३]

यहाँ अपने प्रेमी पुरुष को संकेत का स्थान सूचन करने के लिये नायिका ने अपने प्रेमी को न कह कर अपनी सखी को कहा है।

काव्यनिर्णय में 'गूढ़ोक्ति' का—

"अभिप्राय जुत जहँ कहिय काहू सों कछु बात।"

यह लक्षण लिख कर उदाहरण भी इसी के अनुसार दिखाया है। यह लक्षण गूढ़ोक्ति का अपूर्ण है। गूढ़ोक्ति के लक्षण में 'अन्योद्देशक वाक्य को अन्य के प्रति कहा जाना' यह अवश्य कहना चाहिए।

'गूढ़ोक्ति' वस्तुतः ध्वनि काव्य है, अलङ्कार का विषय नहीं। क्योंकि गूढ़ोक्ति में दूसरे को, सूचित किया जाता है, वह स्पष्ट नहीं कहा जाता है—व्यंगार्थ द्वारा स्पष्ट कर दिया जाता है।[१]

---

१ देखिये काव्यप्रकाश की प्रदीप और उद्योत व्याख्या व्याजोक्ति प्रकरण।

(८८) विवृतोक्ति अलङ्कार

उक्ति-चातुर्य से छिपाया हुआ रहस्य जहाँ कवि द्वारा प्रकट कर दिया जाता है, वहाँ 'विवृतोक्ति' अलङ्कार होता है।

विवृतोक्ति का अर्थ है विवृत (खुली हुई) उक्ति। विवृतोक्ति अलङ्कार में श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग आदि द्वारा चातुर्य से छिपाया हुआ रहस्य कवि द्वारा प्रकट करके खोल दिया जाता है।

मेरो मन न अचातु है सुनि झूठी रस बात,
हँसि जब यों तिय ने कह्यो लाल लगाई गात ॥६०६॥

नायिका द्वारा नायक के प्रति पूर्वार्द्ध में कहे हुए रहस्य को कवि ने उत्तरार्द्ध में प्रकट कर दिया है। यहाँ अर्थ-शक्तिमूलक व्यंग्यार्थ कवि द्वारा प्रकट किया गया है। पूर्वोक्त संख्या ५६२ के दोहा में भी विवृतोक्ति ही है।

(८९) लोकोक्ति अलङ्कार

लोक-प्रसिद्ध कहावत का किसी प्रसंग में उल्लेख किए जाने को 'लोकोक्ति' अलकार कहते हैं।

जन-समुदाय में प्रचलित कहावत को लोकोक्ति कहते हैं।

"बिन आदर पाय कै बैठि ढिंगा अपनी रुख दै सुख लीजतु है,
अपमान औ मान परेखो कहा अपनी मति में चित दीजतु है,
कवि 'ठाकुर' काम निकारिबे के लिये कोटि उपाय करीजतु है,
अपने उरझे सुरझाइबे को सबही की खुसामद कीजत है॥"६०७॥[२१]

यहाँ चौथे पाद में लोकप्रसिद्ध कहावत का उल्लेख है।

"गई फूलन काज हौं कुंजन आज न संग सखी जु अचानक री!
हरि आय गये भजि जाऊँ कितै जितही जित काँटन सों जकरी,
कवि 'नेही' कहै अति काम छयो सुतौ मारग रोकि रह्यो तक री,
सुनरी सजनी! गति ऐसी भई जैसे'मारनो बैल गली सँकरी।।"६०८[३४]

यहाँ 'मारनो बैल गली संकरी' इस लोक-प्रसिद्ध कहावत का उल्लेख है।

"मुसकाई मिथिलेश-नंदिनी प्रथम देवरानी फिर सौत—
अंगीकृत है मुझे किंतु तुम नहीं मांगना मेरी मौत,
मुझे नित्य दर्शन भर इनके तुम करते रहने देना,
कहते हैं इसको ही 'अँगुलीपकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना ।।"६०९।।[५०

लक्ष्मणजी से प्रेम-याचना करने के पश्चात् श्रीरघुनाथजी से शूर्पणखा द्वारा प्रेम-भिक्षा माँगने पर जानकी जी की शूर्पणखा के प्रति इस उक्ति में अंगुली पकड़ कर पहुँचा पकड़ लेने की लोकोक्ति का उल्लेख है।

(९०) छेकोक्ति अलंकार

अर्थान्तर गर्भित लोकोक्ति को 'छेकोक्ति' अलंकार कहते हैं।

'छेक' का अर्थ चतुर है। छेकोक्ति में चातुर्ययुक्त अन्यार्थ-गर्भित लोकोक्ति कही जाती है।

मो सों का पूछत अरी? बारबार तुम खोज,
जानतु है जु भुजंग ही भुवि भुजंग के खोज ।।६१०।।

निशाचरियों द्वारा जानकीजी से हनुमानजी के विषय में पूछने पर

जानकीजी द्वारा उत्तरार्द्ध में कही हुई लोकोक्ति में यह अर्थान्तर गर्भित है कि तुम्हारी राक्षसी माया को तुम राक्षस ही जान सकते हो।

जमुना तट दृग रावरे लगे लाल-मुख ओर,
चोरन की गति को सखी ? जानतु है जग चोर ॥६११॥

लक्षिता नायिका के प्रति सखी की इस उक्ति में जो उत्तरार्द्ध में लोकोक्ति है, उसमें यह अर्थान्तर गर्भित है कि 'तू क्यों छिपाती है, मुझसे तेरी यह प्रेमलीला छिपी नहीं है'।

(६१) अर्थ-वक्रोक्ति अलंकार

अन्य अभिप्राय से कहे हुए वाक्य का अन्य व्यक्ति द्वारा अर्थ श्लेष से दूसरे अर्थ की कल्पना किये जाने को 'अर्थ-वक्रोक्ति' अलंकार कहते हैं।

वक्रोक्ति का अर्थ है बाँकी—टेढ़ी—उक्ति। इसका अधिक स्पष्टीकरण शब्दालङ्कारों में शब्द-वक्रोक्ति में किया गया है।

गिरजे ? कहु भिक्षुकराज कहां ? बलि द्वार गये वह हैं न यहां,
हम पूछत हैं वृषपालहि कौं वह तो व्रज गौन चरातु वहां,
नृत तांडव आज रच्यो कितु है ? जमुनातट-वीथिन होतु तहां,
भयो सागर-सैल-सुतान में आज परस्पर यों उपहास महा ॥६१२॥

यहाँ श्रीलक्ष्मीजी द्वारा 'भिक्षुक कहाँ है ?' इत्यादि श्रीमहादेवजी के विषय में पूछे हुए प्रश्न वाक्यों को पार्वतीजी ने श्रीविष्णु भगवान् के विषय में कल्पना कर कर के 'बलि द्वार गये' इत्यादि टेढ़े उत्तर दिये हैं। यहाँ 'भिक्षुक' आदि पदों के स्थान पर 'मंगता' आदि पदों के बदलने पर भी 'वक्रोक्ति' बनी रहती है, इसलिए यह अर्थ-शक्ति-मूला अर्थ-

वक्रोक्ति। शब्द-शक्ति-मूला वक्रोक्ति शब्दालंकार-प्रकरण में पहिले लिखी गई है।

"हे भरत भद्र? अब कहो अभीप्सित अपना,
सब सजग हो गये भंग हुआ ज्यों सपना,
हे आर्य! रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी,
मिल गया अकंटक राज्य उसे जब, तब भी,
पाया तुमने तरु तले अरण्य बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा;
तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा॥"६१३॥ [५०]

चित्रकूट में भरतजी से श्रीरघुनाथजी द्वारा 'अभीप्सित' पद का जिस अभिप्राय से प्रयोग किया गया है, भरतजी ने उसके अन्य अर्थ की कल्पना करके उत्तर दिया है।

(६२) स्वभावोक्ति अलंकार

बालक आदि की स्वाभाविक चेष्टा या प्राकृतिक दृश्य के चमत्कारक वर्णन को 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहते हैं।

स्वभावोक्ति का अर्थ उक्त लक्षण से स्पष्ट है।

"सुंदर सजीला चटकीला वायुयान एक
मैया! हरे कागज का आज मैं बनाऊँगा।
चढ़के उसी पर करूँगा नभ की मैं सैर
बादल के साथ साथ उसको उड़ाऊँगा।

मंद मंद चाल से चलाऊँगा उसे मैं वहाँ
चहक चहक चिड़ियों के संग गाऊँगा।
चंद्र का खिलौना मृगछौना वह छीन लूँगा,
भैया की गगन की तरैया तोड़ डालूँगा ॥"६१४॥ [१३]

यहाँ बच्चों की स्वाभाविक चेष्टा का वर्णन है।

"आगे वेनु धारि हेरी ग्वालन कतार तामें
फेरि टेरि टेरि धौरी धूमरीन गौन तें।
पोंछि पुचकारिन अँगोछनि सों पोंछि पोंछि
चूमि चारु चरन चलावै सुवचन तें।
कहै 'महबूब' धरी मुरली अधर बर
फूँक दई खरज निखाद के सुरन तें।
अमित अनंद भरे कन्द-छवि वृन्दावन
मंद गति आवत मुकुन्द मधुवन तें ॥"६१५॥[४६]

यहाँ गो-चारण से आते हुए श्रीनन्दनन्दन के स्वाभाविक चित्ताकर्षक दृश्य का वर्णन है।

सायंकाल गिरे दिनेश-कर की लाली मनोमोहिनी,
होती है तब दिव्य वारनिधि की क्या ही छटा सोहिनी,
झागों से विशदाभ-रक्त-छवि पा ऊँची तरंगावली,
आती है अति दूर से फिर वही जाती वहां है चली ॥६१६॥

यह बम्बई के समुद्र-तट की तरङ्गों के स्वाभाविक मनोहारी दृश्य का वर्णन है।

"छाई छवि स्यामल सुहाई रजनी-मुख की,
रंच पियराई रही और मुरेरे के।
कहै 'रतनाकर' उमगि तरु-छाया चली
बढ़ि अगवानी हेत आवत अँधेरे के।

घर घर साजैं सेज अंगना सिंगारि अंग
लौटत उमंग भरे बिछुरे सबेरे के।
जोगी जती जंगम जहाँ ही तहाँ डेरे देत
फेरे देत फुदकि विहंगम बसेरे के ॥"६१७॥[१७]

इसमें सायंकाल के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन है।

'वक्रोक्तिजीवित' कार राजानक कुन्तक ने 'स्वभावोक्ति' को अलंकार नहीं माना है और स्वभावोक्ति को अलंकार मानने वाले आचार्यों पर आक्षेप भी किया है।[1] किन्तु यह वक्रोक्ति को ही काव्य का सर्वस्व मानने वाले राजानक कुन्तक का दुराग्रह मात्र है। प्राकृतिक दृश्यों के स्वाभाविक वर्णन वस्तुतः चमत्कारक और अत्यन्त मनोहारी होते हैं।

(६३) भाविक अलङ्कार

भूत और भावी भावों का प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन किये जाने को भाविक अलङ्कार कहते हैं।

'भाविक' शब्द में भाव और इक दो अवयव हैं। भाव का अर्थ है सत्ता (स्थिति) 'भू सत्तायाम्' और 'इक' प्रत्यय का अर्थ है रक्षा करना। भाविक अलंकार में भूत और भविष्यत् भावों को वर्तमान की भाँति कह कर उनकी रक्षा की जाती है।

"जा दिन ते ब्रजनाथ भटू! इहिँ गोकुल ते मथुराहि गये हैं,
छाकि रही तब तें छवि सों छिन छूटति ना छतियाँ में छये हैं,

---

१ 'शरीरं (स्वभावः) चेदलंकारः किमलङ्कुरुतेऽपरम्।'
—वक्रोक्तिजीवित उन्मेष १।१४।

बैसिय भाँति निहारति हौं हरि नाचत कालिंदी कूल ठये हैं,
सत्रु सँहारि के छत्र धरयो फिर देखत द्वारिकानाथ भये हैं ॥"६१८॥

यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा यमुना तट पर भूतकाल में किये गये नृत्य के दृश्य का तीसरे चरण में प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन किया गया है ।

"हौं मिलि मोहन सों 'मतिराम' सुकेलि करी अति आनँद वारी,
तेही लता पुन देखत दुःख चले अमुँवा अँखियान सौं भारी,
आवति हौं जमुना तट को नहिं जान परै बिछुरे गिरधारी,
जानतु हौं सखि ! आवन चाहतु कुंजन ते कढ़ि कुंजबिहारी॥"६१९॥[४८]

यहाँ श्री नन्दनन्दन का कुंजों से निकल कर आने के भूतकालिक दृश्य का अन्तिम चरण में प्रत्यक्ष की भाँति वर्णन किया गया है ।

कही जाय क्यों मानिनी ! छवि प्रतिअंग अनूप,
भावी भूषन-भार हू लसत अबहि तव रूप ॥६२०॥

भविष्य में भूषणयुक्त होने वाली कामिनी के रूप को यहाँ वर्तमान में भूषण युक्त होना कहा है ।

(६४) उदात्त अलंकार

उदात्त का अर्थ है—उत्कर्षता से वर्णन किया जाना[१] । उदात्त अलंकार में वर्णनीय अर्थ का समृद्धि द्वारा अथवा महापुरुषों के अंग भाव द्वारा उत्कर्ष वर्णन किया इसके दो भेद हैं ।

प्रथम उदात्त

अतिशय समृद्धि के वर्णन को प्रथम उदात्त अलंकार कहते हैं ।

---

१ 'उत्कर्षेण आदीयते गृह्यते स्मेति उदात्तम् ।'
—काव्यादर्श-कुसुमप्रतिमा व्याख्या ।

मुक्तामाला अगणित जहाँ हैं बनी शंख सीपी,
दूर्वा जैसी विलसित मणी रत्न-वैदूर्य की भी।
मूँगी के हैं कन-घन लगे देख बाजार-शोभा—
जी में आता अब उदधि में वारि ही शेष होगा ॥६३१॥

इस पद्य में उज्जैनी के बाजार की असम्भव समृद्धि का कवि कल्पना कृत बर्णन है।

द्वितीय उदात्त

वर्णनीय अर्थ में महापुरुषों के अङ्ग भाव होने के वर्णन को द्वितीय उदात्त कहते हैं।

"जिनके परत्त मुनि-पतनी पतित तरी,
जानि महिमा जो सिय छुवत सकानी है।
कहै "रतनाकर" निषाद जिन्हें जोग जानि,
धोए विनु धूरि नाव निकट न आनी है।
ध्यावैं जिन्हें ईस औ फनीस गुन गावैं सदा,
नावैं सीस निखिल मुनीस-गन ज्ञानी है।
तिन पद पावन की परस-प्रभाव-पूंजी,,
अवध-पुरी की रज-रज में समानी है॥"६३२॥ [१७]

अयोध्या के इस वर्णन में भगवान् श्रीरामचन्द्र को अगं भाव है—'जिस अयोध्या में श्रीरामचन्द्रजी के ऐसे महत्वपूर्ण, चरणों की रज मिली हुई इस कथन से अयोध्या की महिमा के उत्कर्ष का वर्णन किया गया है।

(९५) अत्युक्ति अलंकार

शौर्य और औदार्य आदि के अत्यन्त मिथ्या वर्णन को अत्युक्ति अलंकार कहते हैं।

अत्युक्ति का अर्थ स्पष्ट है।

"झूमत मतंग मति तरल तुरंग ताते,
रति-राते जरद जरूर माँगि लाइबो।
कहैं "पदमाकर" सो हीरा लाल मोतिन के,
पन्नन के भाँति भाँति गहने जराइबो।
भूपति प्रतापसिंह ! रावरे विलोक कवि,
देवता विचारैं भूमि लौकै कब जाइबो।
इन्द्र-पद छोड़ि इंद्र चाहत कविंद्र पद,
चाहै इंदरानी कवि-रानी कहवाइबो॥"६२३॥[३६]

यहाँ औदार्य की अत्युक्ति है।

जब से निरखी उसने छवि है मुसकान-सुधा नंदनंदन की,
तब से रहती उनमें अनुरक्त दशा कुछ और हुई मन की,
हिलती चलती न कहीं क्षण भी सुधि भूल गई सब है तन की,
सखि ! है उसकी गति दीपशिखा अनुरूप विहीन-प्रभंजन की॥६२४॥

यहाँ प्रेम की अत्युक्ति है।

"घूँघट खुलत अबै उलटु है-जैहैं 'देव'
उद्धत-मनोज जग जुद्ध-जूटि-परैगो।
को कहै अलीक बात, सोक है सुरोक[१] सिद्ध-
लोक तिहुँलोक की लुनाई लूटि परैगो।
दैयनि ! दुराव-मुख नतरु तरैयनि को—
मंडल हू मटकि चटकि टूटि परैगो।
तो चितै सकोच सोचि सोचि मृदु मूरछि कै,
छौरते छपाकर छता सो छुटि परैगो॥"६२५॥[२७]

यहाँ नायिका के सौन्दर्य की अत्युक्ति है।

---

१ सुरों का ओक (स्थान) = स्वर्ग।

"गोपिन के अँसुवान के नीर पनारे बहे बहिके भये नारे,
नारेन हू ते भई नदियाँ, नदियाँ नद ह्वै गये काटि कँगारे,
बेगि चलौ तौ चलौ ब्रज कौं 'कवि-तोष' कहै बहु प्रानन प्यारे,
वे नद चाहतु सिंधु भये अब सिंधु ते ह्वै हैं हलाहल भारे ॥"६२६॥[२४]

यहाँ विरह की अत्युक्ति है।

'उद्योत' कार का मत है कि यह अलंकार उदात्त के अन्तर्गत है। 'कुवलयानन्दकार' का मत यह है कि जहाँ समृद्धि का अतिशय वर्णन होता है, वहाँ 'उदात्त' और जहाँ शौर्यादि का अतिशय वर्णन होता है वहाँ 'अत्युक्ति' अलंकार होता है और सदुक्ति में अर्थात् जहाँ कुछ सम्भव वर्णन होता है वहाँ 'असम्बन्धातिशयोक्ति' अलंकार होता है। जैसे-

जुग उरोज तेरे अली! नित-प्रति अधिक बढ़ाहिं,
अब ए भुज-लतिकान में क्यों हू नाहिं समाहिं ॥६२७॥

यहाँ 'उरोजों का भुजाओं के बीच में न समाना।' यह उक्ति कुछ सम्भव है, अतः सम्बन्धातिशयोक्ति है और जहाँ सर्वथा असम्भव उक्ति होती है, वहाँ अत्युक्ति होती है, जैसे—

इहिं विधि अलि! तेरे बढ़हिं नित उरोज स-विकास
यह विचार नहिं कीन्ह बिधि अलप कियो आकास ॥६२८॥

यहाँ कामिनी के उरोजों का आकाश में न समाना, यह सर्वथा असम्भव वर्णन है, अतः यहाँ अत्युक्ति अलङ्कार है। वस्तुतः हमारे विचार में भी अत्युक्ति अलङ्कार 'अतिशयोक्ति' अथवा 'उदात्त' से पृथक् होने योग्य नहीं है।

(६६) निरुक्ति अलंकार

योगिकशक्ति से किसी नाम के अन्यार्थ कल्पना किये जाने को 'निरुक्ति' अलंकार कहते हैं।

निरुक्ति का अर्थ है किसी शब्द या पद का व्युत्पत्तियुक्त अर्थ करना। निरुक्ति अलङ्कार में किसी ऐसे शब्द का जो किसी व्यक्ति आदि का नाम हो—प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर यौगिकशक्ति से चमत्कारक कल्पना द्वारा अन्य अर्थ किया जाता है।

ताप करन अबलान को दया न कछु चित आतु,
तुम इन चरितन साँच ही दोषाकर बिख्यातु ॥६२६॥

'दोषा' नाम रात्रि का है इसी से चन्द्रमा का नाम दोषाकर है। यहाँ इस अर्थ को छोड़कर विरहिणी की इस उक्ति में, वियोगिनी स्त्रियों को ताप देने का दोष होने के कारण चन्द्रमा के 'दोषाकर' नाम का यौगिक शक्ति से 'दोषों का भण्डार'—यह अन्य अर्थ कल्पना किया गया।

"आपने आपने ठौरनि तौ भुविपाल सबै भुवि पालैं सदाई,
केवल नामहि के भुवपाल कहावतु हैं, भुवि पालि न जाई,
भूपन की तुम ही धरि देह विदेहन में कल-कीरति पाई,
'केसव' भूषन की भुवि-भूषन भू-तन ते तनया उपजाई॥"६३०॥[७]

पृथ्वी के पालक होने के कारण राजा भुविपाल कहे जाते हैं। यहाँ राजा जनक के प्रति विश्वामित्रजी के इस वाक्य में भुविपाल का 'तुमने पृथ्वी से तनया (सीताजी) उत्पन्न की है, अतः तुम्हारा भुविपाल नाम है' यह अन्यार्थ यौगिकशक्ति से जनक के विषय में कल्पित किया गया है[१]।

---

१ इस प्रसङ्ग में महाकवि केशव यदि 'भुविपाल' के स्थान पर 'भुविनाथ' और 'भूपन' के स्थान पर 'भूपति' शब्द का प्रयोग करते तो नीचे लिखे अनुसार बहुत ही उपयुक्त होता—

आपने आपने ठौरनि तौ भुविनाथ सबै भुविनाथ कहाईं,
केवल नामहि के भुविनाथ कहावतु वे भुविनाथ न भाईं,
भूपति की तुम ही धरि देह विदेहन में कल कीरति पाई,
'केसव' भूपन की भुविभूषन भू-तन ते तनया उपजाई।

"सूर-कुलसूर महा प्रबल प्रताप सूर,
चूर करिबे कौं म्लेच्छ क्रूर प्रन लीन्यो तैं।
कहै 'रतनाकर' बिपत्तिनि की रेलारेल,
झेलि झेलि मातृभूमि-भक्ति-भाव भीन्यो तैं।
बंश को सुभाय अरु नाम को प्रभाव थापि,
दाप कै दिलीपति कौं ताप दीह दीन्यो तैं।
घाट हलदी पै जुद्ध ठाटि अरि-मेद पाटि,
सारथ विराट मेदपाट नाम कीन्यो तैं ॥६३१॥[१७]

'मेदपाट' नाम देश-वाचक है, उसमें यहाँ इस अन्यार्थ की कल्पना की गई है कि महाराणा प्रताप ने म्लेच्छों के मेद से (चर्बी से) परिपूर्ण करके अपने देश का 'मेदपाट' नाम सत्य कर दिया।

(६७) प्रतिषेध अलङ्कार

प्रसिद्ध निषेध का अनुकीर्तन किये जाने को प्रतिषेध अलंकार कहते हैं।

प्रतिषेध का अर्थ निषेध है। प्रतिषेध अलङ्कार में जिस बात का निषेध प्रसिद्ध हो उसका अनुकीर्तन अर्थात् फिर निषेध किया जाता है। प्रसिद्ध निषेध का पुनः निषेध निरर्थक होने से अर्थान्तर-गर्भित निषेध में चमत्कार होने के कारण अलङ्कार माना गया है।

"तिच्छन बान बिनोद यह छली! न चोपर खेल ॥६३२॥[१६]

यह तो प्रसिद्ध ही है कि युद्ध का कार्य चोपड़ का खेल नहीं है। अतः यह प्रसिद्ध निषेध है ही फिर यहाँ शकुनि के प्रति भीमसेन की इस उक्ति में—यह वाणों की क्रीड़ा है चोपड़ का खेल नहीं, इस प्रकार जो निषेध किया गया है उसमें—'तेरी कपट-चातुरी चोपड़ में ही चल सकती है, न कि युद्ध में।' यह उपहासात्मक अर्थान्तर गर्भित है।

"दारा की न दौर यह रार नहीं खजुबे की
बांधिवो नहीं है कैंधों मीर सेहवाल को।
मठ विश्वनाथ को न बास ग्राम गोकुल को
देवी को न देहरा न मन्दिर गुपाल को।
गाढ़े गढ़ लीन्हें अरु बैरी कतलान कीन्हें
ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को।
बूड़त है दिल्ली सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति !
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को॥"६३३॥[४७]

यह तो प्रसिद्ध ही है कि शिवराज की दिल्ली पर चढ़ाई है वह दारा की दौर आदि नहीं है। फिर दारा की दौर आदि का यहाँ निषेध किया गया है, उसमें 'दारा की दौर आदि कार्य तो तूने सहज ही कर लिये थे, पर शिवराज का युद्ध तेरे से अजेय है' यह अर्थान्तर (अभिप्राय) गर्भित है।

"माजू महारानी को बुलावो महाराजहू को,
लीजै मतु कैकई सुमित्रा के जिय को।
राति कौं सपत-रिषिहू के बीच बिलसत,
सुनौ उपदेस ता अरुंधती के पिय को।
'सेनापति' विश्व में बखाने विश्वामित्र नाम,
गूरू बोलि बूझिये प्रबोध करैं हिय को।
खोलिये निसंक यह धनुष न संकर को,
कुंवरि मयंकमुखी-कंकन है सिय को॥"६३४॥[६१]

श्रीरघुनाथजी के प्रति विवाहोत्सव के समय मिथिला की रमणियों का उपहास है। 'सीताजी का कंकण, शिव-धनुष नहीं, यह तो प्रसिद्ध ही है। फिर धनुष का निषेध यहाँ इस अभिप्राय से किया गया है कि— कंकण के खोलने का कार्य धनुष-भंग के कार्य से भी कठिन है।

'भाषाभूषण' में प्रतिषेध का—'मोहन कर मुरली नहीं कछु एक बड़ी बलाय।' यह उदाहरण दिया है। ऐसे उदाहरण प्रतिषेध के नहीं हो सकते हैं। इसमें मुरली का निषेध करके उसमें बलाय का आरोप किया गया है, अतः 'अपह्नुति' है।

(९८) 'विधि' अलङ्कार

सिद्ध वस्तु का विधान किये जाने को 'विधि' अलङ्कार कहते हैं।

'विधि' का अर्थ विधान है। यह अलंकार पूर्वोक्त प्रतिषेध के प्रतिद्वन्द्वी रूप में माना गया है। इसमें जिस वस्तु का विधान सिद्ध है, उसका फिर अर्थान्तर-गर्भित विधान किया जाता है।

> तजु कर, सर मुनि-सुद्र पर द्विज-सिसु जीवन-हेत,
> राम-गात है जिन तजी सीता गर्भ-समेत ॥५३५॥

शूद्र के तप करने के अधर्म से अल्प-वयस्क ब्राह्मण-बालक के मर जाने पर उस शूद्र पर बाण छोड़ते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र की यह अपने हाथ के प्रति उक्ति है। श्रीरामचन्द्र का हाथ उनका अंग सिद्ध ही है, फिर अपने हाथ के प्रति 'तू राम का गात है' ऐसा विधान किया गया है, वह अपनी अत्यन्त कठोरता सूचन करने के अभिप्राय से गर्भित है। और यह (अर्थान्तर) 'जिस रामचन्द्र ने गर्भिणी सीता का त्याग कर दिया' इस विशेषण से प्रकट किया है।

(९९) हेतु अलङ्कार

कारण का कार्य के सहित वर्णन करने को हेतु अलङ्कार कहते हैं।

हेतु और कारण एकार्थक शब्द हैं। कारण का कार्य के सहित वर्णन किये जाने में हेतु अलंकार माना गया है।

उदाहरण—

मरु-मग लौं तेरो अधर विद्रुम-छाय लखाय।
कहु अलि ! मन किहिंको न यह प्यास बिकल करवाय[1] ॥६३६॥

यहाँ विद्रुम-छाय होने रूप कारण का पिपासाकुलित होने रूप कार्य के सहित कथन किया गया है

कारण और कार्य के अभेद में भी यह अलङ्कार माना गया है—

"मोहि परम-पद मुकति सब तो पद-रज घनस्याम,
तीन लोक को जीतिबो मोहि बसिबो ब्रजधाम॥"६३७।

यहाँ श्रीनन्दनन्दन की चरण-रज कारण है और परमपद कार्य है। पद-रज की परमपद से एकता कथन की गई है।

'रूपक' में उपमेय और उपमान का अभेद कहा जाता है और 'हेतु' में कारण और कार्य का अभेद होता है।

यह हेतु अलङ्कार रुद्रट और कुवलयानन्दकार के मत से लिखा गया है। आचार्य भामह और मम्मट आदि इस प्रकार के 'हेतु' में अलङ्कारता नहीं मानते हैं।

(१००) अनुमान अलंकार

साधन द्वारा साध्य का चमत्कार पूर्वक ज्ञान कराये जाने को अनुमान अलङ्कार कहते हैं।

'अनुमान' शब्द 'अनु' और 'मिति' से बना है। यहाँ 'अनु' का अर्थ लक्षण है[2]। लक्षण कहते हैं चिह्न[3] को। और 'मिति' का अर्थ है

---

१ हे अलि ! मरुस्थल के मार्ग के समान विद्रुमच्छाय अर्थात् वृक्षों की छाया से रहित, (अधर पक्ष में मूँगी जैसी अरुण कान्ति वाला) तेरा अधर किसका मन प्यास से विकल नहीं कर देता है ?

२ देखिये शब्दकल्पद्रुम।

३ 'चिह्न लक्ष्म च लक्षणम्।'—अमरकोश।

ज्ञान[१]। अतः अनुमान का अर्थ है अनुमितिकरण अर्थात् चिह्न द्वारा किसी वस्तु का ज्ञान किया जाना[२]। अनुमान में साधन द्वारा साध्य का ज्ञान किया जाता है।

जो वस्तु सिद्ध की जाती है उसे साध्य (लिंगी) और जिसके द्वारा वह सिद्ध की जाती है उसे साधन (लिंग) अर्थात् चिह्न कहते हैं। जैसे—धुएँ से अग्नि का होना सिद्ध होता है। अर्थात् जहाँ धुआँ होता है वहाँ यह ज्ञान हो जाता है कि यहाँ धुआँ है, तो अग्नि भी अवश्य है। धुँआ साधन (चिह्न) है और अग्नि साध्य (ज्ञान का विषय) है। अनुमान अलङ्कार में कवि-कल्पित चमत्कारक साधन द्वारा साध्य का ज्ञान कराया जाता है। अतः 'अनुमान' अलङ्कार में साधन होता है वह ज्ञापक-कारण होता है।

करतीं अपना अति चंचल ये जब बंक-कटाक्ष-निपात कहीं,
करता यह भी अविलंब सदा हृदि-वेधक-बाण-निपात वहीं,
रमणीजन के अनुशासन में रहके झखकेतन[3] है सच ही,
कर पुष्पशरासन ले उनके चलता चल-हस्त पुरःसर ही ॥६३८॥

यहाँ 'कामदेव' का स्त्रियों के 'आज्ञाकारी होना साध्य है—सिद्ध करना अभीष्ट है।' स्त्रियों का कटाक्षपात जहाँ-जहाँ होता है वहीं वहीं कामदेव अपने बाण तत्काल छोड़ता है, इस बात का ज्ञान इस साधन द्वारा कराया गया है।

प्रिय-मुख-ससि निहचै बसतु मृगनैनी हिय-सद्म।
किरन-प्रभा तन-पीतता मुकुलित हैं दृग-पद्म ॥६३९॥

वियोगिनी नायिका के शरीर की पीतता और मुकुलित नेत्र साधन है, इस साधन द्वारा नायिका के हृदय में उसके पति के मुख-चन्द्र का

---

१ देखिये शब्दकल्पद्रुम। २ 'प्रतीतिर्लिंगिनो लिंगादनुमानमदूषितम्।' —काव्यप्रकाश-बालबोधिनी व्याख्या पृ० ६१२। ३ कामदेव।

निवास सिद्ध किया गया है। यहाँ रूपक मिश्रित अनुमान है—मुख आदि में चन्द्रमा आदि का आरोप किया गया है।

"होते अरबिंद से तो आयकै मिलिंद वृन्द
लेते मधु-बुंद कंद तुन्द के तरारे ये।
खंजन से होते तो प्रभंजन परस पाय
उड़ते दुहुंधा ते न रहते नियारे ये।
'ग्वाल' कवि मीन से मृगन से जो होते तोपै
बन-बन मांहि दोऊ दौरते करारे ये।
यातें नैन मेरे खरे लोह से हैं काहे तें कि
खैंचे लेत प्यारी ? चख-चुंबक तिहारे ये ॥"६४०॥[ε]

यहाँ नायिका के नेत्र-चुम्बक रूप साधन द्वारा नायक ने अपने नेत्रों को लोहे रूप होना सिद्ध किया है। यहाँ नेत्रों को लोहे होने का कारण 'प्यारी-चख चुम्बक' इस वाक्य द्वारा कहा जाने पर भी 'काव्यलिंग' नहीं हो सकता क्योंकि 'काहें तें कि' के प्रयोग से 'कारण' का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन है[1]।

यद्यपि उत्प्रेक्षा में जैसे 'जानतु हौं' 'मानो' 'निश्चै' आदि वाचक शब्दों का प्रयोग होता है, वैसे ही वाचक शब्दों का प्रयोग प्रायः अनुमान में भी होता है किन्तु उत्प्रेक्षा में इन शब्दों का प्रयोग उपमेय में उपमान के सादृश्य की संभावना में अनिश्चित रूप से किया जाता है और 'अनुमान' में इन शब्दों का प्रयोग उपमेय-उपमान भाव (सादृश्य) के बिना, साध्य को साधन द्वारा सिद्ध करने के लिए निश्चित रूप से किया जाता है।

'प्रत्यक्ष' आदि अन्य प्रमाणालङ्कार—

कुछ ग्रंथों में प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, अनु-

१ देखिये काव्यलिंग-प्रकरण।

पलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य इन आठ प्रमाणों के अनुसार आठ प्रमाणालंकार लिखे गये हैं। किन्तु न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार और वैशेषिक दर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रधान प्रमाण माने गये हैं—अन्य सब प्रमाण इनके अन्तर्गत माने गये हैं। हमने केवल 'अनुमान' अलंकार ही लिखा है, क्योंकि अनुमान के सिवा प्रत्यक्षादि प्रमाणालंकार काव्यप्रकाश आदि में नहीं हैं। वस्तुतः इनमें लोकोत्तर चमत्कार न होने से यहाँ भी उनको लिखकर विस्तार करना अनावश्यक समझा है।

'रसवत्' आदि अलंकार—

इनके सिवा 'रसवत्' आदि सात अलंकार कुछ ऐसे ग्रंथों में—जिनमें गुणीभूत व्यंग्य का विषय नहीं लिखा गया है— अलंकार-प्रकरण में लिखे गये हैं। किन्तु रसवत् आदि में नाममात्र की अलंकारता है वास्तव में यह गुणीभूत व्यंग्य का विषय है और ये अलंकार रस, भाव आदि से सम्बन्ध रखते हैं। अतः हमने रसवत् आदि अलंकारों का निरूपण काव्यप्रकाश के अनुकरण पर प्रथम भाग रसमञ्जरी के गुणीभूत व्यंग्य प्रकरण में (पाँचवें स्तबक में) किया है।

दशम स्तबक

——*——

अब क्रमप्राप्त शब्द और अर्थ के संकीर्ण (मिले हुए) भेद 'संसृष्टि' आदि लिखे जाते हैं—

संसृष्टि अलंकार

तिल-तन्दुल न्याय से कई अलंकारों की एकत्र स्थिति होने को 'संसृष्टि' अलंकार कहते हैं।

संसृष्टि का अर्थ है सङ्ग[1]। संसृष्टि अलंकार में एक स्थान पर (एक छन्द में) दो या दो से अधिक शब्दालंकार या अर्थालंकार तिल-तन्दुल न्याय से अर्थात् तिल और चावल की भाँति एक दूसरे की अपेक्षा के बिना पृथक्-पृथक् अपने-अपने रूप से स्पष्ट प्रतीत होते रहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—

(१) शब्दालंकार संसृष्टि अर्थात् दो या दो से अधिक केवल शब्दालंकारों की निरपेक्ष एकत्र (एक ही पद्य में) स्थिति होना।

(२) अर्थालंकार संसृष्टि अर्थात् केवल अर्थालंकारों की निरपेक्ष एकत्र स्थिति होना।

(३) उभयालंकार संसृष्टि अर्थात् शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों की निरपेक्ष एक स्थिति होना।

शब्दालंकार संसृष्टि—

> "कुंडल जिय रक्षा करन कवच करन जय बार,
> करन दान आहव करन करन करन बलिहार[2] ॥" ६४१॥[८]

यहाँ 'लाटानुप्रास' और 'यमक' दोनों शब्द के अलंकारों की संसृष्टि है। पहिले तीनों पादों में एक ही अर्थ वाले 'करन' शब्द की अन्वय-भेद से कई बार आवृत्ति होने के कारण लाटानुप्रास है। और चौथे पाद में भिन्न-भिन्न अर्थ वाले 'करन' शब्द की आवृत्ति होने के कारण यमक है। यहाँ एक छन्द में वह दोनों अपने-अपने स्वरूप में तिल और तन्दुल (चावल) की तरह पृथक्-पृथक् स्थित हैं। अतः संसृष्टि है।

---

१ 'संसृष्टि संसर्गः। संसर्गःसङ्ग'—देखिये चिन्तामणि कोष।

२ प्राण की रक्षा करने वाले कुण्डल और जय की रक्षा करने वाले कवच का दान करने वाले और युद्ध करने वाले कर्ण के हाथों की बलिहारी है।

अर्थालंकार संसृष्टि—

वासन्ती के कुरवक घिरे कुंज के पास जो कि—
देखेगा तू सु-वकुल तथा रक्त-पत्री अशोक,
चाहें दोनों मम-सहित वे दोहदों के बहाने—
मत्कान्ता से मुख-मधु तथा पाद बाया छुआने ॥६४२॥

मेघदूत में यक्ष द्वारा उसके घर में बनी हुई पुष्प-वाटिका का वर्णन है। 'मम सहित' पद में सहोक्ति है और दोहद के बहाने से मुख के मधु की और वायाँ पाद छूने की इच्छा के कथन में सापह्नव प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा है, अतः सहोक्ति और उत्प्रेक्षा इन दोनों अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है।

"विद्रुम और मधूक जपा गुललाला गुलाब की आभा लजावति,
'देवजू' कंज खिलै टटके हटके भटके खटके गिरा गावति,
पाँव धरे अलि! ठोर जहाँ तेहिं ओरतें रंग की धारसी आवति,
मानों मजीठ की माट ढुरी इक ओरतें चांदनी बोरति जावति।"६४३॥[२७]

यहाँ पूर्वार्द्ध के दोनों पादों में विद्रुम आदि उपमानों का निरादर किया गया है, अतः प्रतीप है। उत्तरार्द्ध में उक्तविषया उत्प्रेक्षा है, अतः इन दोनों अर्थालङ्कारों की संसृष्टि है।

उभयालङ्कार संसृष्टि—

"पावक सो नैनन लग्यो जावक लाग्यो भाल।
मुकुर[१] होहुगे नैक में मुकुर[२] विलोकहु लाल।।"६४४॥[४३]

यहाँ 'उपमा' और 'यमक' की संसृष्टि है। पूर्वार्द्ध में नायक के भाल पर लगी हुए अन्य नायिका के जावक को (पैरों में लगाने के रंग को) पावक की उपमा दी गई है। उत्तरार्द्ध में भिन्न अर्थ वाले 'मुकुर' शब्द की आवृत्ति होने के कारण यमक है। अतः शब्दार्थ उभय अलङ्कारों की संसृष्टि है।

---

१ अपनी बात से मुकुर (हट) जावोगे। २ दर्पण।

"औरन के तेज तुलजात हैं तुलान बिच
तेरो तेज जमुना तुलान न तुलाइये।
औरन के गुन की सु गिनती गने ते होत
तेरे गुन-गन की न गिनती गनाइये।
'ग्वाल' कवि अमित प्रवाहन की थाह होत
रावरे प्रवाह की न थाह दरसाइये।
पारावार पार हू को पारावार पाइयत
तेरे पारापार को न पारावार पाइये।।"६४५।। [६]

यहाँ अन्य नद-नदियों से यमुनाजी का आधिक्य वर्णन किये जाने में व्यतिरेक अर्थालङ्कार है। और 'त' 'ग' 'प' की अनेक बार आवृत्ति में वृत्त्यानुप्रास तथैव चतुर्थ चरण में एकार्थक 'पारावार' शब्द की आवृत्ति होने के कारण लाटानुप्रास है और ये दोनों शब्दालङ्कार हैं अतः यहाँ उभयालङ्कार संसृष्टि है।

संकर अलंकार

नीर-क्षीर न्याय के अनुसार मिले हुए अलंकारों को संकर अलंकार कहते हैं।

संकर का अर्थ है अत्यन्त मिला हुआ[१]। संकर अलङ्कार में नीर-क्षीर न्याय के अनुसार अर्थात् दूध में जल मिल जाने की तरह एक से अधिक अलङ्कार एक छन्द में मिले हुए रहते हैं। इसके तीन भेद हैं—

(१) अँगांगीभाव संकर।
(२) सन्देह संकर।
(३) एकवाचकानुप्रवेश संकर।

१ 'संकरः व्यामिश्रत्वे'—देखिये चिन्तामणि-कोष।

अँगांगीभाव संकर

जहाँ कई अलंकार अन्योन्याश्रित होते हैं वहां अँगांगीभाव संकर होता है।

अङ्गांगीभाव संकर में एक अलङ्कार दूसरे अलंकार का अंग होता है अर्थात् एक दूसरे का उपकारक होता है एक के बिना दूसरे की सिद्धि नहीं होती है।

तेरे अरि की तियन कौं नृप, लूटी बटमार,
अधर बिंब दुति गुंज गुनि हरे न मुकताहार ॥६४६॥

अधर-बिम्ब के संग से मोतियों के हारों को गुंजाफल की कान्ति प्राप्त होने में 'तद्गुण' है और मोतियों के हारों को गुंजाफल समझ कर न लूटने में 'भ्रान्तिमान्' अलङ्कार है। यहाँ तद्गुण की सहायता से ही भ्रान्तिमान् सिद्ध हो सकता है, क्योंकि जब तक अधर-बिम्ब से मोतियों में गुंजाफलों की तद्गुणता प्राप्त न हो तब तक भ्रान्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। और 'भ्रान्ति' के उपकार से ही तद्गुणालङ्कार अत्यन्त चमत्कारक हो सकता है। अतएव इनका परस्पर में अंगांगीभाव है।

श्री गंगा-तट के वहाँ निकट ही हैं अद्रि ऊंचे सभी,
छा लेतीं उनको सफेद घन की आके घटाएँ कभी,
हो जाते हिम के पहाड़ सम वे सौन्दर्यशाली महा,
आता है महिमा विलोकन अहो ! मानो हिमाद्री वहाँ ॥६४७॥

हरिद्वार के गंगा-तट का वर्णन है। मेघों से आच्छादित पर्वतों को बर्फ के पहाड़ों की उपमा दी गई है, वह (उपमा) इस दृश्य में जो हिमाद्रि की उत्प्रेक्षा की गई है उसका अंग है। क्योंकि जब तक पर्वतों को बर्फीले पहाड़ों की उपमा न दी जाय तब तक उस दृश्य में हिमाद्रि की उत्प्रेक्षा नहीं की जा सकती। और इस उत्प्रेक्षा द्वारा यहाँ उपमा के चमत्कार में अभिवृद्धि हो गई है।

"डार-द्रुम-पालन बिछौना नव-पल्लव के,
सुमन झगूला सोहैं तन छबि भारी है।
पवन झुलावै केकी कीर बतरावैं 'देव',
कोकिल हलावैं हुलसावैं कर तारी है।
पूरित पराग, सो उतारा करैं राईनोन,
कंज-कली-नायिका-लतानि सिर सारी है।
मदन-महीप जू को बालक बसन्त ताहि,
प्रात हिये लावत गुलाब चुटकारी है ॥"६४८॥ [२७]

यहाँ वृक्षों की टहनिश्रों आदि में जो पालना आदि का 'रूपक' है, वह गम्योत्प्रेक्षा का अङ्ग है। क्योंकि यदि वसन्त ऋतु को कामदेव के बालक का रूपक न किया जाय तो गुलाब के पुष्पों के खिलने के शब्दों में चुटकारी देने की उत्प्रेक्षा नहीं हो सकती।

सन्देह-संकर अलंकार

बहुत से अलंकारों की स्थिति होने पर जहाँ एक अलंकार का निर्णय नहीं हो सकता वहां सन्देह-संकर अलंकार होता है।

जहाँ दो या दो से अधिक अलंकारों की एकत्र (एक छन्द में) सर्प और नकुल (नेवला) अथवा दिन और रात की भाँति—विरोध होने के कारण एक काल में स्थिति नहीं हो सकती है अर्थात् जहाँ किसी एक अलंकार के माने जाने में साधक (अनुकूलता) या दूसरे अलंकार के न माने जाने में बाधक (प्रतिकूलता) न होने के कारण किसी भी एक अलंकार का निश्चय नहीं हो सकता है अर्थात् यह अलंकार है ? या यह ?—ऐसा सन्देह रहता है वहाँ सन्देह-संकर होता है।

जैसे रतनाकर कियो निरमल छबि गंभीर,
त्योंही विधि या जलधि कौ क्यों न मधुर हू नीर ॥६४९॥

यहाँ प्रस्तुत समुद्र के इस वर्णन में विशेषणों की समानता से अप्रस्तुत किसी पुरुष के व्यवहार की प्रतीति होने के कारण यह, समासोक्ति है ? अथवा समुद्र के अप्रस्तुत वर्णन द्वारा उसके समान गुण वाले प्रस्तुत किसी पुरुष के चरित्र की प्रतीति होने के कारण 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' है ? यह सन्देह होता है इन दोनों अलंकारों में निश्चित रूप से एक का ग्रहण और दूसरे का त्याग नहीं हो सकता है, अतएव यहाँ सन्देह-संकर है ।

नेत्रानंद विधायक अब इस चंद्रबिंब का हुआ प्रकाश,
चमक रहे थे उडुगण उनका रहा कहीं अब है न उजास,
इस अरविंद वृंद का फिर क्यों रह सकता था चारु बिकास,
आश-निरोधक-तम[१] का अब भी हुआ न क्या निःशेष विनाश॥६५०॥

यहाँ 'यह काम का उदय करने वाला काल है' इस प्रकार भंग्यन्तर से कहा जाने से क्या 'पर्यायोक्ति' है ? या नायिका के मुख—उपमेय का कथन न करके केवल चन्द्र-बिम्ब का कथन किये जाने के कारण 'रूपकातिशयोक्ति' है[२] । अथवा 'इस' शब्द से मुख का निर्देश करके मुख में चन्द्रमा का अभेद होने से रूपक है[३] ? अथवा 'इस' शब्द से मुख

---

१ चन्द्रमा के पक्ष में सब दिशाओं में व्याप्त अन्धकार और मुख पक्ष में सब अभिलाषाओं को रोकने वाली विरह-जन्य मूढ़ता ।

२ रूपकातिशयोक्ति मानी जायगी, तब उडुगण (तारागण) और अरविंद, अन्य नायिकाओं के मुखों के उपमान मान लिये जायँगे ।

३ 'रूपक' माना जायगा तब दूसरे, तीसरे और चौथे चरण के वर्णनों में जो रूपकातिशयोक्ति है, वह उस रूपक की अंगभूत मान ली जायगी ।

प्रस्तुत और चन्द्रमा अप्रस्तुत का 'नेत्रानन्दविधायक' आदि एक धर्म कहा जाने के कारण दीपक है? अथवा मुख और चन्द्रमा दोनों प्रस्तुतों का एक धर्म कहा जाने के कारण 'तुल्ययोगिता' है? या संध्या समय में विशेषणों की समानता से मुख का बोध होने के कारण समासोक्ति है? इत्यादि बहुत से अलंकारों का यहाँ सन्देह होता है, अतः सन्देह-संकर है।

साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने—

प्रिय है वह ही सखि! मैं भी वही मधु-यामिनी चाँदनी भी वह ही है,
यह शीतल-धीर-समीर वही मृदु मालति-गंध वही की वही है;
तटिनी-तट मंजुल वंजुलकुंज वही उपभुक्त हमारी सही है,
फिर भी प्रिय संगम की सजनी! अति ही मन हो अभिलाष रही है॥६५१॥

यह जिस—'यः कौमारहरः......' पद्य का भाषानुवाद है, उसमें 'सन्देह-संकर' बतलाया है, उनके मतानुसार यहाँ 'विभावना' अलंकार है या 'विशेषोक्ति' यह निर्णय नहीं हो सकता है क्योंकि विभावना अलंकार तो इसलिए माना जा सकता है कि यहाँ वर (पति) और वसन्त की चाँदनी रात्रि आदि सामग्रियाँ वही हैं, अर्थात् वही पूर्वोपभुक्त कही गई हैं। उत्कण्ठा नवीन वस्तु के लिए ही हुआ करती है न कि पूर्वोपभुक्त वस्तु के लिए अतः नवीनता रूप कारण के अभाव में उत्कण्ठा रूप कार्य होना कहा गया है जो कि विभावना के लक्षण के अनुसार है।

---

१ स्वाधीनपति का नायिका की सखी के प्रति उक्ति है—जिसने मेरी कुमार अवस्था का हरण किया था (प्रथम समागम किया था) वही तो पति है, चैत्र की चाँदनी रात्रि भी वही है, वही प्रफुल्लित मालती (वासन्ती-पीत चमेली) है, वही मलय-मारुत है और मैं भी वही हूँ अर्थात् सभी वस्तु पहले की उपभुक्त हैं, फिर भी नर्मदा तटकी इन कुञ्जों में मेरे मन में प्रिय-समागम के लिए उत्कण्ठा हो रही है।

'विशेषोक्ति' अलंकार यहाँ इसलिए माना जा सकता है कि पहिले कई बार उपभुक्त वस्तु रूप कारण के होने पर भी अनुत्कण्ठा (उत्कण्ठा न होने) रूप कार्य का अभाव कहा गया है अर्थात् कारण के होने पर भी कार्य न होना कहा गया है, जो कि विशेषोक्ति के लक्षण के अनुकूल है।

अतएव विभावना और विशेषोक्ति इन दोनों में किसी एक का न तो यहाँ बाधक है, जिससे वह न माना जाय और न किसी एक का साधक ही है जिससे वही मान लिया जाय, अतः सन्देह-संकर है।

किन्तु काव्यप्रकाश में श्रीमम्मट ने इसे अस्फुट (अस्पष्ट) अलंकार के उदाहरण में लिखा है। क्योंकि न तो इसमें कारण का अभाव ही 'नहीं' शब्द द्वारा स्पष्ट कहा गया है, जिससे यहाँ 'विभावना' अलंकार माना जाय और न कार्य का अभाव ही 'नहीं' शब्द द्वारा स्पष्ट कहा गया है अर्थात् अनुत्कंठा (उत्कण्ठा न होना) ही स्पष्ट कहा गया है, जिससे 'विशेषोक्ति' अलंकार माना जाय। इन दोनों अलंकारों में प्रत्येक की स्थिति ही जब यहाँ नहीं है, तब 'सन्देह संकर' भी यहाँ किस प्रकार माना जा सकता है? 'संदेह संकर' तो वही 'होगा' जहाँ पहिले एक से अधिक अलंकारों की स्थिति होना प्रतीत हो, और उनमें कौन सा अलंकार वहाँ है, ऐसा सन्देह रहता है।

मिश्रित (मिले हुये) अलंकारों के निर्णय में साधक और बाधक का स्पष्टीकरण—

जहाँ एक से अधिक अलंकारों की स्थिति में एक अलंकार का साधक या दूसरे अलंकार का बाधक—इन दोनों में एक—होता है वहाँ एक अलंकार का निर्णय हो जाता है, अतः वहाँ सन्देह-संकर अलंकार नहीं होता। 'साधक' का अर्थ है किसी एक अलंकार के स्वीकार करने में अनुकूलता होना और बाधक का अर्थ है किसी एक अलंकार के स्वीकार करने में प्रतिकूलता होना। अतः—

(१) किसी एक अलंकार का ग्रहण करने में जहाँ साधक होता है, (२) या किसी एक अलंकार का ग्रहण करने में जहाँ बाधक होता है, (३) या साधक और बाधक जहाँ दोनों होते हैं। वहाँ 'सन्देह-संकर' अलंकार नहीं हो सकता, क्योंकि साधक या बाधक द्वारा एक अलंकार का निर्णय हो जाता है। जैसे—

छबि बढ़ातु मुख-चंद की चांदनि ज्यों दुति हास ॥६५२॥

यहाँ 'मुखचन्द्र' में लुप्तोपमा और रूपक दोनों की प्रतीति होती है, किन्तु यहाँ धर्म-वाचक-लुप्ता उपमा ही मानी जा सकती है—न कि रूपक। बात यह है कि यहाँ मुख उपमेय है और चन्द्रमा उपमान। यह पहिले भी कहा जा चुका है कि उपमा में उपमेय के धर्म की प्रधानता होती है और हास-द्युति धर्म का होना मुख में ही संभव है अर्थात् यह (हास्य-द्युति) मुख में अनुकूलता रखने के कारण मुख्यतया मुख का ही धर्म है, अतः उपमा का साधक है। यद्यपि 'मुख ही चन्द्र' इस प्रकार यहाँ यदि रूपक माना जाय तो हास्य-द्युति चन्द्रमा के भी प्रतिकूल (बाधक) तो नहीं, क्योंकि 'द्युतिरूप हास्य' इस प्रकार 'हास-द्युति' का भी रूपक हो सकता है। फिर भी यहाँ 'हास-द्युति' उपमा का साधक होने के कारण उपमा ही मानी जायगी—न कि रूपक क्योंकि जहाँ मुख्य अर्थ सम्भव होता है, वहाँ उसे छोड़कर गौण अर्थ का ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार—

अहो प्रकासित ह्वै रह्यो देखहु यह मुखचंद ॥६५३॥

यहाँ 'मुखचन्द' में 'मुख ही चंद' इस प्रकार रूपक ही माना जा सकता है न कि उपमा। रुपक के मानने में 'प्रकाशित' पद साधक है क्योंकि प्रकाशित होना मुख्यतया चन्द्रमा का धर्म होने के कारण चन्द्रमा के ही अनुकूल है। यद्यपि यहाँ–'चन्द्रमा के समान मुख प्रकाशित है' इस प्रकार उपमा मानने में 'प्रकाशित' पद उपमा का बाधक तो नहीं

भी 'प्रकाशित' रूपक का साधक होने के कारण रूपक ही माना जायगा मुख्य अर्थ को छोड़कर गौण-अर्थ नहीं ग्रहण किया जाता।

उक्त दोनों उदाहरण 'साधक' के हैं। अब बाधक के उदाहरण देखिये—

लक्ष्मी आलिंगन करतु नृप-नारायन तोहि ॥६५४॥

यहाँ 'नृप ही नारायण' इस प्रकार रूपक ही माना जायगा, न कि उपमा। 'नारायण के समान नृप' इस प्रकार उपमा मानने में 'लक्ष्मी आलिंगन करतु' वाक्य उपमा का बाधक है, क्योंकि नारायण के समान अर्थात् नारायण से अन्य के साथ लक्ष्मीजी द्वारा आलिंगन किये जाने के कथन में अनौचित्य है। इसी प्रकार—

नूपुर-सिंजित पद-कमल जग-जननी के मंजु,
बंदत हौं नितप्रति बिजय करन हरन दुख पुंजु ॥६५५॥

यहाँ 'कमल के समान पद' इस प्रकार उपमा ही मानी जा सकती है, न कि 'पद ही कमल' इस प्रकार रूपक। क्योंकि जब पद को कमल रूप कहा जाय तो कमल के अनुकूल धर्म (अन्य सामग्री) का वर्णन होना चाहिये। पर यहाँ 'नूपुरसिंजित' पदकमल (नूपुर के शब्द युक्त चरणकमल) कहा गया है वह (नूपुर का शब्द) कमल में सम्भव न होने के कारण 'नूपुरसिंजित' पद रूपक का बाधक है और चरणों में नूपुर का शब्द सम्भव होने के कारण उपमा के अनुकूल है, फिर भी 'नूपुर-सिंजित' को उपमा का साधक न कहके रूपक का बाधक ही कह सकते हैं। क्योंकि विधि-उपमर्दन (साधक का अभाव) करने वाले बाधक का उसकी (साधक की) अपेक्षा बलवत्ता से ज्ञान हुआ करता है।

यह दोनों उदाहरण 'बाधक' के हैं।

कहीं साधक और बाधक दोनों होते हैं। जैसे—

मुख-ससि को चुंबन करत।

यहाँ चुम्बन किया जाना मुख का धर्म होने के कारण मुख के

अनुकूल है, अतः उपमा का साधक है। और यह (चुम्बन) चन्द्रमा का धर्म न होने के कारण चन्द्रमा के प्रतिकूल है, अतः रूपक का बाधक है, इसलिए यहाँ चन्द्रमा के समान मुख, इस प्रकार उपमा ही मानी जा सकती है न कि रूपक।

इस विवेचन द्वारा स्पष्ट है कि साधक और बाधक द्वारा एक अलङ्कार का जहाँ निर्णय हो जाता है, वहाँ सन्देह-संकर नहीं होता है।

केवल सन्देह-संकर ही नहीं; जहाँ कहीं भी एक से अधिक अलङ्कारों का संदेह उपस्थित हो, वहाँ साधक और बाधक द्वारा ही यह निर्णय हो सकता है कि यहाँ अमुक अलङ्कार माना जाना उचित है।

एकवाचकानुप्रवेशसंकर अलङ्कार

एक ही आश्रय में स्पष्ट रूप से एक से अधिक अलङ्कारों की स्थिति को एकवाचकानुप्रवेश संकर कहते हैं।

लक्षण में एक आश्रय के कथन द्वारा एक 'पद' समझना चाहिए। जहाँ एक ही छन्द के पृथक् पृथक् पदों में एक से अधिक अलङ्कारों की स्थिति होती है; वहाँ पूर्वोक्त संसृष्टि अलङ्कार होता है।

आचार्य मम्मट ने शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार दोनों का एक पद में समावेश होने में यह शब्दालङ्कार माना है। सर्वस्वकार रुय्यक ने केवल दो शब्दालङ्कार या केवल दो अर्थालंकारों के एक पद में समावेश होने में यह अलंकार माना है।

"डर न टरै नींद न परै हरै न काल-बिपाक,
छिन-छाकै[1] उछकै[2] न फिरि खरौ विषम छबि-छाक[3] ॥"६५६॥

---

१ क्षण भर के सेवन मात्र से। २ नशे का उतरना। ३ रूपलावण्य रूप-मदिरा।

यहाँ 'छबिछाक' इस एक ही पद में 'छ' वर्ण की आवृत्ति होने के कारण अनुप्रास शब्दालङ्कार और 'छवि रूप मदिरा' यह रूपक अर्थालङ्कार है।

"लगि लगि ललित लतान सौं करि करि मधुप मदंध[1],
आवत दच्छिन ओर तें मारुत—मधुप-मदंध[2] ॥"६५७॥

यहाँ 'मारुत मधुप-मदंध' इस एक ही पद में मकार की आवृत्ति में अनुप्रास और मारुत को मधुप रूप कहे जाने में रूपक है।

उपवन-श्रिय के रचना किये,
मधु नये तन पत्र विशेष से,
मधुलिहान[3] महान मधुप्रदा,
कुरवका[4] रव कारण[5] हैं महा ॥६५८॥

यहाँ चौथे चरण में 'रवका' 'रवका' में यमक है और इसी पद में 'वकार वकार' में दूसरा यमक भी है, अतः यह शब्दालंकारों का एक वाचकानुप्रवेष-संकर है।

संकर और संसृष्टि प्रायः सभी अलंकारों के हो सकते हैं।

शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों का पृथक्करण

प्रश्न हो सकता है कि सभी अलंकार शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित हैं फिर किसी को शब्दालंकार, किसी को अर्थालंकार और किसी को शब्दार्थ-उभयालंकार कह कर पृथक्-पृथक् भेद क्यों माना गया ? इस

---

१ मदपान करने वालों को मदान्ध करता हुआ।
२ पुष्पों के मधु (रस) को पान करके मदान्ध-पवन।
३ भृङ्गों को। ४ वृक्ष विशेष के पुष्प। ५ भृङ्गों द्वारा शब्द किये जाने का कारण।

विषय में पहिले शब्द श्लेष के प्रकरण में स्पष्टता की गई है; कि जो अलंकार शब्द के आश्रित रहता है, वह शब्द का और जो अर्थ के आश्रित रहता है वह अर्थ का माना जाता है। अर्थात् जहाँ किसी खास शब्द के चमत्कार के कारण किसी अलंकार की स्थिति रहती हो और उस शब्द को हटा देने से उस अलंकार की स्थिति न रह सकती हो वह शब्दालङ्कार है और जहाँ शब्दों का परिवर्त्तन कर देने पर भी उस अलङ्कार की स्थिति बनी रहती हो वह अर्थालङ्कार है। और जहाँ किसी शब्द का परिवर्तन कर देने से अलङ्कारता रह सकती हो और किसी शब्द का परिवर्तन कर देने पर न रहती हो वह शब्दार्थ उभय अलङ्कार है। इनमें जिसकी प्रधानता होती है—जिसमें अधिक चमत्कार होता है उसका व्यपदेश होता है अर्थात् उसके नाम से वह कहा जाता है। जैसे 'पुनरुक्तवदाभास' का तीसरा भेद और 'परंपरित रूपक' आदि शब्द और अर्थ दोनों के आश्रित हैं; अतः वास्तव में ये 'शब्दार्थ उभायालंकार' हैं। किन्तु 'पुनरुक्तवदाभास' में शब्द का चमत्कार और परंपरित 'रूपक' में अर्थ का चमत्कार अधिक है—प्रधान है—अतएव वस्तुस्थिति (असलियत) पर ध्यान न देकर पुनरुक्तवदाभास को शब्दालङ्कार और परंपरित रूपक को अर्थालंकार माना गया है। इसी प्रकार जहाँ एक ही छन्द में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों होते हैं वहाँ चमत्कार की प्रधानता के आधार पर जो प्रधान होता है, वह माना जाता है। जैसे—

"तो पर वारौं उरवसी सुनु राधिके ! सुजान,
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान ॥"६५६॥[४३]

यहाँ 'उरबसी समान' में उपमा है, पर प्रधान चमत्कार उरवसी पद के यमक में होने के कारण शब्दालंकार प्रधान है। और—

"लता-भवन तें प्रकट भये तिहिं अवसर दुउ भाइ,
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद-पटल बिलगाइ ॥"६६०॥[२२]

यहाँ 'जनु जुग' और 'विमल विधु' पदों में 'ज' और 'व' वर्णों की आवृत्ति होने के कारण यद्यपि शब्दालङ्कार अनुप्रास भी है, किंतु प्रधानतः यहाँ श्रीराम-लक्ष्मण का लता-भवन में से निकलने पर मेघ-घटा के हट जाने पर दो चन्द्रमाओं के प्रकट होने की जो उत्प्रेक्षा की गई है उसी में अधिक चमत्कार होने के कारण अर्थालङ्कार प्रधान है। और—

"बैठी मलीन अली अवली किधौं कंज-कलीन सों ह्वै बिफली है,
संभु गली बिछुरी ही चली किधौं नाग-लली अनुराग रली है,
तेरी अली! यह रोमवली की सिंगार-लता-फल बेली फली है,
नाभि-थली पै जुरे फल लै कि भली रसराज-नली उछली है॥६६१॥[४६]

यहाँ मलीन, अली, अवली और कलीन इत्यादि के प्रयोगों द्वारा अनुप्रास शब्दालङ्कार और रोमावली में भ्रमरावली आदि अनेक सन्देह किये जाने के कारण सन्देह अर्थालङ्कार है। ये दोनों अलंकार यहाँ प्रधान हैं, क्योंकि दोनों ही में समान चमत्कार है अतः यहाँ शब्दार्थ-उभय अलङ्कार है।

इसी प्रकार 'पर्यायोक्ति' और 'समासोक्ति' आदि यद्यपि गुणीभूत-व्यंग्य हैं; किन्तु उनमें वाच्यार्थ में अधिक चमत्कार होने के कारण वाच्यार्थ की प्रधानता है, अतः उनकी अलङ्कारों में गणना की गयी है।

अलङ्कारों के दोष[1]

यद्यपि इस ग्रन्थ के प्रथम भाग रसमञ्जरी के सप्तम स्तवक में निरूपित पूर्वोक्त दोषों के अन्तर्गत ही अलंकारों के दोषों

---

१ अलङ्कारों के दोष-प्रकरण को लाला भगवानदीनजी ने अपनी 'अलङ्कारमंजूषा में हमारे 'अलङ्कारप्रकाश' से प्रायः अविकल ले लिया है। यहाँ इसका उल्लेख इसलिए आवश्यक हुआ है कि तदनुरूप यहाँ देखकर पाठक यह दोषारोपण हम पर न करें कि हमने अलङ्कारमंजूषा से लिया है।

का भी समावेश हो जाता है। किन्तु स्पष्ट समझाने के लिए अलङ्कार-विषयक कुछ दोषों का यहाँ निरूपण किया जाता है।

'अनुप्रास' दोष

प्रसिद्ध-अभाव, वैफल्य और वृत्ति-विरोधवाली रचना होना अनुप्रास के दोष हैं।

प्रसिद्धि-अभाव—

ऐसा वर्णन किया जाना जिसकी शास्त्रों में प्रसिद्धि न हो। जैसे—

"रविजा कहेतैं रन जीते जोम जोरि जोरि,
जमुना कहेतैं जमु नाके होत हेर बिन।
भानु होति कीरति प्रभानु के परम पुँज,
भानुतनया के कहते ही फेर फेर बिन।
'ग्वाल कवि' मंजु मारतंडनन्दिनी के कहैं,
महिमा मही में होत दानन के ढेर बिन।
दरि जात दारिद दिनेश-तनुजा के कहै,
कहत कलिन्दी के कन्हैया होत देर बिन॥"६६२॥[६]

यद्यपि श्रीयमुनाजी के नाम की महिमा से यमराज का त्रास मिटना कीर्ति का होना इत्यादि सभी बातें सम्भव है। पर रविजा के कहने से ही रण जीतै, भानुतनया के कहने से कीर्ति हो-यमुना जी के अन्य नामों के कीर्तन से नहीं—इस प्रकार के नियम का वाक्य पुराण-इतिहासों में कहीं नहीं देखा जाता। यहाँ केवल अनुप्रास के लिए कवि ने ऐसा किया है, अतः प्रसिद्धि-विरुद्ध है। यह रसमञ्जरी में निरूपित पूर्वोक्त सं० ४६ के 'प्रसिद्धि-विरुद्ध' दोष के अन्तर्गत है।

वैफल्य—

अर्थात् शब्दों की आवृत्ति में चमत्कार न होना। जैसे—

"पजन, प्रयत्न सों संकेत परजंक पाय,

प्रफुद फुँदी के फंद फंदन तुराय रे।
इले उलै ओल आली ओलत अलीलैं आलैं,
होलैं होलैं खोले पल बोलै हाय हाय रे ॥''६६३॥[३५]

यहाँ वाच्यार्थ में कुछ विचित्रता नहीं, केवल अनुप्रास के लिये शब्दाडम्बर है अतः अनुप्रास व्यर्थ है। यह पूर्वोक्त (सं० ३८ वाले) 'अपुष्टार्थत्व' दोष के अंतर्गत है।

वृत्ति-विरोध—

नवम स्तबक में निरूपित उपनागरिका आदि वृत्तियों के विरुद्ध रचना होना। जैसे—

"कवि 'पजनेश' केलि मधुप निकेत नव,
द्र(मुख दिव्य धरो घटिका लटी सी है।
विधु परवेष चक्र चक्र रवि रथ चक्र,
गोमती के चक्र चक्रताकृत घटी की है।
नीवी तट त्रिवली बली पै दुति कोसतुंड,
कुंडली कलित लोम लतिका बटी की है।
उपटी की टीकी प्रभाटी की बधूटी की नाभि-
टीकी धुर्जटी की औ कुटी की संपुटी की है॥''॥६६४[३५]

शृंगाररस में 'उपनागरिका' वृत्ति के अनुकूल माधुर्यगुणवाली रचना न होकर यहाँ कठोर वर्णों वाली विरुद्ध रचना है। यह पूर्वोक्त (सं०१७) 'प्रतिकूलवर्णता' दोष के अन्तर्गत है।

यमक दोष

एक पाद में या दो पादों में अथवा चारों पादों में 'यमक' का प्रयोग किया जाना उचित है, तीन पादों में 'यमक' के प्रयोग में 'अप्रयुक्त' दोष है। जैसे—

"तो पर वारौं उरबसी सुनु राधिके ? सुजान,
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान ॥"६६५॥[४३]

यहाँ 'उर्वशी' पद तीन पादों में है। यह पूर्वोक्त (सं० ३ वाले) 'अप्रयुक्त' दोष के अन्तर्गत है।

उपमा दोष

(१) न्यूनता, (२) अधिकता, (३) लिङ्ग-भेद, (४) वचन-भेद, (५) काल-भेद, (६) पुरुष-भेद, (७) विधि-भेद, (८) असादृश्य और (९) असम्भव ये उपमा के दोष हैं।

(१) न्यूनता—

उपमेय की अपेक्षा उपमान में जाति-गत या परिमाण-गत अथवा समानधर्म-गत न्यूनता होना। जाति-गत जैसे—

शूरवीर चंडाल लौं साहस करत अपार,
जो रिपु ह्वै अति प्रबल तउ निधरक करहि प्रहार॥६६६॥

यहाँ शूरवीरों को चाण्डाल की उपमा दिया जाना जाति-गत न्यूनता है।

परिमाण-गत, यथा—

सोहत अनल-पतंग सम यह रवि-रथ नभ मांहि।

यहाँ सूर्य के रथ को अग्नि के पतंग की उपमा परिमाण में अत्यन्त न्यून है। कहाँ सूर्य का रथ ? और कहाँ अग्नि का पतंगा ? यह पूर्वोक्त (सं० २२ वाले) 'अनुचितार्थ' दोष के अन्तर्गत है।

धर्म-गत न्यूनता। जैसे—

कृष्ण-अजिन-पट लसत मुनि सुचि मौंजी जुत गात,
नील-मेघ के निकट जिमि नभ दिनमनिं बिलसात॥६६७॥

यहाँ काली मृगछाला ओढ़े हुए और मौंजी (मूंज के कटिबंधन) युक्त मुनि को सूर्य की उपमा है। मृगछाला को तो नील मेघ की उपमा दी गई है पर मुनि की मौंजी को बिजली की उपमा नहीं कही गई अतः धर्म-गत न्यूनता है, क्योंकि उपमेय में जिन-जिन धर्मों का कथन किया जाय उनकी समता के लिए उपमान में भी वे सभी समान धर्म कहे जाने चाहिए। यह पूर्वोक्त (सं० २२ वाले) 'न्यूनपद' दोष के अन्तर्गत है।

(२) अधिकता—

उपमेय की अपेक्षा उपमान में जातिगत या परिमाणगत अथवा धर्मगत अधिकता होना। जातिगत अधिकता, यथा—

कमलासन आसीन यह चक्रवाक विलसाहि,
चतुरानन युग आदि में प्रजा रचन ज्यों आहि ॥६६८॥

यहाँ चक्रवाक को सृष्टि-निर्माता ब्रह्माजी की उपमा में जातिगत अत्यन्त आधिक्य है। कहाँ चकवा पक्षी? और कहाँ सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा?

परिमाणगत अधिकता—

कामिनि पीन उरोज जुग नित नित अधिक बढ़ाहिं,
ह्वै घट से गज-कुंभ से अब गिरि से दरसाहिं ॥६६९॥

यहाँ उरोजों को पर्वत की उपमा परिमाण-गत अत्यन्त अधिक है। यह भी पूर्वोक्त 'अनुचितार्थ' दोष के अन्तर्गत है। उपमान की अधिकता के कारण उपमेय का अत्यन्त तिरस्कार प्रतीत होने लगता है, अतः दोष है।

धर्म-गत अधिकता—

लसत पीतपट चाप कर मनहर बपु घनस्याम,
तड़ित इन्द्र-धनु ससि सहित ज्यों निसि में घनस्याम ॥६७०॥

यहाँ श्रीकृष्ण को नीलमेघ की, पीतपट को बिजली की और धनुष

को इन्द्रधनुष की उपमा में तो उपमेय और उपमान दोनों के समान धर्म कहे गये हैं, पर श्रीकृष्ण तो शंख सहित नहीं कहे गये और मेघ को चन्द्रमा युक्त कहा गया अतः यहाँ उपमान में इस समान धर्म की अधिकता है। यह पूर्वोक्त (संख्या २३ वाले) अधिक पद दोष के अन्तर्गत है।

(३) (४) लिंग और वचन भेद—

उपमान और उपमेय में पुल्लिग अथवा स्त्रीलिंग या एक वचन अथवा बहुवचन समान होना चाहिये। जहाँ उपमान और उपमेय के वाक्यों में लिंग या वचन का भेद होता है वहाँ यह दोष होता है। जैसे—

कहे जांय कहु कौन विधि या नृप के गुन पुंजु,
मधुरे वच हैं दाख लौं चरित चाँदनी मंजु ॥६७१॥

यहाँ 'वचन' उपमेय पुल्लिग और बहुवचन है किन्तु उपमान 'दाख' स्त्रीलिंग और एक वचन है, इनका साधारण धर्म 'मधुरे' बहुवचन कहा गया है जिसका अन्वय केवल 'वचन' पुल्लिग और बहुवचन के साथ हो सकता है 'दाख' के साथ नहीं, अतः लिंग और वचन भेद दोष है।

(५) काल-भेद—

उपमेय और उपमान में भूत, भविष्यत् और वर्तमान काल का भेद होना। यथा—

रन में इमि सोभित भये राम-बान चहुँ ओर,
जिमि निदाव-मध्याह्न में नभ रवि-कर अति घोर ॥६७२॥

यहाँ 'शोभित भये' इस भूतकाल की क्रिया के साथ केवल 'राम-बाण' का अन्वय हो सकता है न कि 'रवि-कर' के साथ। 'रवि की किरण शोभा को प्राप्त हो रही हैं' इस प्रकार वर्तमान काल की क्रिया

के साथ कहे जा सकते हैं, न कि भूतकालिक क्रिया 'भये' के साथ। अतः कालभेद दोष है।

(६) पुरुष-भेद—

उपमेय और उपमान में उत्तम, मध्यम, प्रथम पुरुष का भेद होना। यथा—

सोहत हौ प्यारी ! रुचिर पट कुसुंभ तन धारि,
लाल प्रबाल-प्रबाल-भव सुभग लता अनुहारि ॥६७३॥

यहाँ नायिका को 'प्यारी' सम्बोधन दिया गया है। उपमेय नायिका मध्यम पुरुष है, उसके साथ 'सोहत हो' का अन्वय हो सकता है। किन्तु उपमान 'लता' प्रथम पुरुष है उसके साथ 'सोहत हो' का अन्वय नहीं हो सकता, अतः पुरुष भेद है।

(७) विधि-भेद—

विधि वाक्य के भेद से उपमेय या उपमान के एक ही वाक्य के साथ अन्वय हो सकना—दोनों के साथ नहीं होना। जैसे—

गंगा लौं प्रबहहु सदा तो कीरति महाराज ॥६७४॥

यहाँ 'प्रबहहु' इस विधि वाक्य का अन्वय केवल उपमेय 'कीर्ति' के साथ हो सकता है—न कि उपमान 'गंगा' के साथ। क्योंकि विधि अप्रवृत्त को प्रवृत्त करती है; किन्तु गंगाजी तो बह रही हैं, इनको 'प्रबहहु' यह विधि नहीं कही जा सकती। उपर्युक्त सं० ३, ४, ५, ६, और ७ के पाँचों दोष पूर्वोक्त (सं० ३५ वाले) 'भग्न प्रक्रम' दोष के अन्तर्गत ही हैं।

(८) असादृश्य—

अप्रसिद्ध उपमा दी जाना। जैसे—

काव्य-चन्द्र रचना करत अर्थ किरन जुत चारु ॥६७५॥

काव्य और चन्द्रमा का सादृश्य अप्रसिद्ध है। यदि अर्थ और किरणों का सादृश्य प्रसिद्ध होता तो उसके सम्बन्ध से काव्य का और

चन्द्रमा को सादृश्य—अप्रसिद्ध होने पर भी—कहा जा सकता था, पर अर्थी और किरण का सादृश्य भी प्रसिद्ध नहीं।

(९) असम्भव—

असम्भव उपमा दी जाना। जैसे—

> धनु-मंडल सों परतु है दीपत सर खर-धार,
> ज्यों रवि के परिवेस ते परत ज्वलित जल धार ॥६७६॥

यहाँ धनुष से छूटे हुए दीप्त बाणों को सूर्य-मण्डल से गिरती हुई ज्वलित जल की धाराओं की उपमा दी गई है। किन्तु सूर्य-मण्डल से ज्वलित जल धाराओं का गिरना असम्भव है। यह सं० ८ और ९ दोनों दोष पूर्वोक्त अनुचितार्थ दोष के अन्तर्गत आ जाते हैं।

उत्प्रेक्षा दोष

उत्प्रेक्षा में यथा, जैसे, इत्यादि शब्दों का प्रयोग दूषित है।

उत्प्रेक्षा में मनु, जनु, इव आदिक शब्द ही सम्भावना वाचक है न कि 'यथा' 'जैसे' आदि क्योंकि ये केवल सादृश्य (उपमा) वाचक हैं। यथा—

> बापी बिच प्रकटे अहो कमल-कोस यह दोय,
> संक-मानि तिय-दृगन ज्यों रहे संकुचित होय ॥६७७॥

यहाँ 'मनु' के स्थान पर 'ज्यों' शब्द का प्रयोग केवल व्यर्थ ही नहीं किन्तु वाच्यार्थ की सुन्दरता भी नष्ट कर देता है। यह पूर्वोक्त (सं० ८ वाले) 'अवाचक' दोष के अन्तर्गत है।

उत्प्रेक्षा-मूलक अर्थान्तरन्यास दोष

उत्प्रेक्षा के समर्थन के लिए अर्थान्तरन्यास का प्रयोग दूषित है।

उत्प्रेक्षा में केवल मिथ्या कल्पना की जाती है—जो बात सत्य नहीं उसकी संभावना की जातीहै—ऐसे उत्प्रेक्षित मिथ्या अर्थ का अर्थान्तरन्यास द्वारा समर्थन करना बिना दीवार के चित्र लिखने के समान अत्यन्त असमंजस है। यह पूर्वोक्त 'अनुचितार्थ' दोष के अन्तर्गत है जैसे—

रच्छत हिमगिरि मनु तमहि गुफा लीन रवि-भीति,
सरणागत छोटेन पर करत बड़े जन प्रीति[1] ॥६७८

'तम' अचेतन है उसे सूर्य से भय होना सम्भव नहीं—केवल कल्पनामात्र—उत्प्रेक्षा है। इसा प्रकार हिमाद्रि द्वारा उसकी रक्षा किया जाना भी कहाँ सम्भव है ? इसी मिथ्या कल्पना के समर्थन के लिये यत्न—उत्तरार्ध में अर्थान्तरन्यास का प्रयोग—करना सर्वथा व्यर्थ है।

सामासोक्ति दोष

सामासोक्ति में उपमान वाचक शब्द का प्रयोग दूषित है।

सामान विशेषणों के सामर्थ्य ही से अप्रस्तुत उपमान की प्रतीति हो जाती है। फिर उसका शब्द द्वारा कथन पुनरुक्ति है अतः यह पूर्वोक्त (सं० ३८ वाले) 'अपुष्टार्थ' या (सं० ४१) वाले 'पुनरुक्त' दोष के अन्तर्गत है। यथा—

---

१ सूर्य के भय से गुफाओं में छिपे हुए अन्धकार की मानो हिमालय रक्षा कर रहा है। यह उचित ही है क्योंकि शरण में आये हुए छोटे जनों पर बड़े लोग कृपा किया ही करते हैं। यह कालिदास के कुमार-संभव काव्य के (१ । १२) पद्य का भावानुवाद है। इसे काव्य-प्रकाश में इस दोष के उदाहरण में लिखा गया है।

स्पर्श करत रवि-करन दिसि लखि उर ताप जु आन,
कामिनि अरु चिर दिवस-श्रिय ग्रहन कियो बहु मान[1] ॥६७६॥

यहाँ सूर्य और दिशा में जिस प्रकार समान विशेषणों से—सूर्य पुल्लिंग और दिशा स्त्रीलिंग होने के कारण—नायक और प्रतिनायिका की प्रतीति होती है, उसी प्रकार समान विशेषणों से ग्रीष्म के दिन की श्री (शोभा) में भी नायिका की प्रतीति हो जाती है। फिर यहाँ 'उपमान-वाचक' 'कामिनी' पद का प्रयोग पुनरुक्ति है।

'अप्रस्तुतप्रशंसा' दोष

अप्रस्तुतप्रशंसा में उपमेय-वाचक शब्द का प्रयोग दूषित है।

जैसे 'समासोक्ति' में समान विशेषणों द्वारा अप्रस्तुत की प्रतीति हो जाती है, उसी प्रकार 'अप्रस्तुतप्रशंसा' में भी तुल्य विशेषणों द्वारा प्रस्तुत की प्रतीति हो जाती है फिर उस (प्रस्तुत) का शब्द द्वारा कथन अनावश्यक है। यथा—

फूल सुगन्ध न फल मधुर छाँह न आवत काम,
सेमर तरु को कृपन ज्यों बढ़िवो निपट निकाम ॥६८०॥

यहाँ अप्रस्तुत सेमर वृक्ष के वर्णन में तुल्य-विशेषणों द्वारा ही प्रस्तुत स्वार्थी धन-परायण कृपण की प्रतीति हो जाती है। फिर उसका

---

१ ग्रीष्म-वर्णन है। सूर्य द्वारा अपने करों से, (किरणों से, नायक पक्ष में हाथों से) दिशा को (अथवा अन्य नायिका को) स्पर्श करते देख कर हृदय में ताप बढ जाने के कारण कामिनी ने और चिर दिनश्री ने (दिन बड़े हो जाने से दिवस की प्रभा ने) अत्यन्त मान (दिन-श्री के पक्ष में परिमाण और नायिका पक्ष में मान अर्थात् कोप) ग्रहण कर लिया।

'कृपन' शब्द द्वारा कथन किया जाना व्यर्थ है, अतः यह पूर्वोक्त सं० ४१ वाले 'पुनरुक्ति' दोष के अन्तर्गत है।

इसी प्रकार अन्य अलङ्कारों के दोष भी पूर्वोक्त ६० दोषों के अन्तर्गत हैं।

अब प्रचलित परिपाटी के अनुसार ग्रन्थकार का कुछ परिचय—

बैस्य अग्रकुल माँहि इक बिदित अरल पोद्दार,
तहँ प्रगटे मरुभूमि में पूरब पुरुष उदार ॥६८१॥

बासी रामगढ़[1] त्यों निवासी मथुरा के, सेठ—
गुरुसहायमल्ल[2] देस देसन बखानिये।
जिनके घनस्याम[3] सुरधाम लौं ताने जिन,
कीरति-वितान सित जाहिर प्रमानिये।
तिनकै जैनारायन गुविन्द-पद भक्ती में,
परायन भये हैं सो दानी व्रज मानिये।
उनको सुत ज्येष्ठ नाम जाको कन्हैयालाल,
काव्यकल्पतरु को प्रणेता ताहि जानिये ॥६८२॥

ग्रन्थ रचना प्रयोजन—

काव्य-विषय अति गहन जहँ उरझी निज मति जान
समुझन को कछु सुगम मग कियो ग्रंथ निरमान ॥६८३॥

साहित्य समुद्र है अगाध त्यों अपार याको,
पाराबार आजलौं न काहू नर पायो है।

---

१ जयपुर (स्टेट राजधानी) से लगभग ६० कोस के फासले पर सीकर राज्यान्तर्गत रामगढ़ प्रसिद्ध है।

२ ग्रन्थकर्त्ता के प्रपितामह पूज्यपाद सेठ गुरुसहायमल।

३ ग्रन्थकर्त्ता के पितामह पूज्यपाद सेठ घनश्यामदास

हौं तो मतिमंद कहा जानत प्रबंधन कों,
कोबिद कबिंदन को चित्त हू भ्रमायो है।
भरतादिक कर्नधार कीन्हों निर्धार याको,
करि उपकार सुठि मारग बतायो है;
ताही मग जाय जेतो पहुँच सक्यों हौं तेतो,
मति अनुसार सार ताको समुझायो है ॥६८४॥

नम्र निवेदन—
लख्यो परत जग में न कछु निरगुन और अदोष,
सज्जन निज जिय समुझि यह प्रकटहिं गुन ढकि दोष ॥६८५॥

ग्रन्थ-समर्पण—
नायक गुबिंद वृषभानु-सुता नायका है,
दूजे जग नायक औ नायिका न मानौं मैं।
रसिक वही हैं रिझवारहू वही हैं साँचे,
औरैं कौ रसिक रिझावा हू न जानौं मैं।
भूषन मिसे चरित कहे जगभूषन के,
औ सब ग्रसित आधि-व्याधिन प्रमानौं मैं।
तासों रचि ग्रंथ हित उनके विनोद पद—
उनहीं के अर्पि आज आनँद अघानौं मैं ॥६८६॥

इस ग्रन्थ की प्रथमावृत्ति अलङ्कारप्रकाश का रचना काल—
गुन-शर-निधि-ससि वर्ष[1] सुभ सित पख माधव मास,
तृतिया तिथि पूरन भयो अलंकार परकास ॥६८७॥

द्वितीयावृत्ति-काव्यकल्पद्रुम का रचनाकाल—
पूर्ण सिद्धि निधि भूमि शुभ[2] विक्रम वर्ष प्रमान,
काव्यकल्पतरु ग्रंथ यह निर्मित भयो सुजान ॥६८८॥

---

१ संवत् १९५३ विक्रमी। २ संवत् १९८० विक्रमी।

तृतीय संस्करण का रचना काल—

उन्नीस सौ इक्यानवे[१] विक्रम वर्ष अनूप,
काव्यकल्पतरु ग्रंथ को परिबर्धित भो रूप ॥५८९॥

चतुर्थ संस्करण का समय—

विक्रम संवत् द्वै सहस ऊपर एक सुचारु,
परिवर्तित ह्वै पुनि भयो मुद्रित चौथी बार ॥६९०॥

पंचम संस्करण का समय—

विक्रम संवत् द्वै सहस ऊपर षष्ट सुचारु,
परिवर्तित ह्वै पूनि भयो मुद्रित पंचम वार ॥६९१॥

ग्रन्थान्त मङ्गलाचरण—

गनपति सिद्ध अगार गुरु, गुबिंद, गंगा, गिरा।
पाँचहु आदि 'ग' कार नित नव मम मंगल करहिं ॥६९२॥

———

१ परिवर्द्धित तृतीय संस्करण की रचना का समय विक्रमीय संवत् १९९१ था।

अन्य कवियों की रचनाओं के उदाहरण इस ग्रन्थ में लिखे गये हैं, उनकी वर्ण क्रमानुसार सूची।

कवियों के नामों के पहिले, संख्या के वही अङ्क हैं, जो उदाहृत पद्यों की संख्या के आगे [ ] इस चिन्ह में लिखे गये हैं और यहाँ कवि जनों के नामों के अन्त में उदाहृत पद्यों की संख्या के अङ्क हैं।

१ अयोध्यासिंह (हरिऔध) १७६, २६१, ३८४
२ अर्जुनदास केडिया (भारतीभूषण के प्रणेता) २१४, ४५६, ५०५
३ उत्तमचन्द भंडारी (अलंकारआशय) ४६१
४ उरदाम २३
५ काशीराज ५६३
७ केशवदास (महाकवि) ८१, १४६, ४५८, ५१८, ५१६, ५६५, ६३०
८ गणेशपुरीजी स्वामी (कर्णपर्व) १३, १६, ४६६, ५०३, ६४१
९ ग्वाल ४०, ४५, १३८, १६०, २७०, ४५६, ६४०, ६४५, ६६२
१० गुलाबसिंह ७७, ११५, २६५
११ गुविन्द १०८, २७८
१२ गोकुल १०६
१३ गोपालशरणसिंह ठाकुर १३, ६१४
१४ घनआनन्द
१५ छत्रपती ५६७
१६ जगंना चौबे
१७ जगन्नाथदास (रत्नाकर) ८, ५८, ८६, १२६, २०६, २२७, २४७, २६४, ३३१, ३६२, ३६२, ४११
१८ जयदेव १२४, ४१६, ४८६, ६१७, ६२२, ६३१

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२०	मुक्तिममा	मुक्तिमिमा
५	२२	सूर्यकेर	सूर्य के कर
६	१७	असूय पश्या	असूर्यं पश्या
१३	८	काव्य	कार्य
१६	२२	पंक्ति २१ के नीचे ३ लाइन	टिप्पणी की हैं
५८	१४	उसके	के
६६	१७	नुप्रास	लाटानुप्रास
७२	८	वणा	वर्णों
७६	१४	प्रकृति	प्रकृत
८२	२४	कामदेव	२ कामदेव
८७	४	अर्थालकार हो	हो अर्थालंकार वहीं हो
८८	१६	कुछ[१] आचार्यों	कुछ[३] आचार्यों
८८	२५	१ काव्यलंकारसार	३ काव्यालंकारसार
१०६	१३	समानधर्म	समानधर्म 'लौं' और
१०७	२३	आर्थ्यौ	आर्थ्यों
१३५	२४–२५	इच्छानु	इच्छानुसार
१४६	४	आदि हा	आदि हीं
१५१	१६	घन मालिनी	फन मालिनी
१५३	५	चानी	चांदनी
१५६	१	जानैं तिराज	जानैं रतिराज
१५६	२	ऐस लेकाल	ऐसी कलिकाल

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१६०	१७	अर्थियों के	अर्थियों ने
१६४	१३	इसमें भी	इसमें
१६५	३	अनुभव	अनुभाव
१६७	२२	व	वहीं
१६८	१३	लच्चमण	लच्चण
१६८	१७, १८	युक्ति	उक्ति
१७२	६	खिले	लखि
१७३	१६	१६०	१८४
१७३	१६	१६२	१८६
१७६	२४	तारबन	तरवान
१८१	१६	तहिंके	तिहिके
१६३	१	२२०	२२८
२१६	१२	रसीक	रसिक
२२१	८	आदि की वाचक	आदि वाचक
२२६	२४	रूपक रूपक	रूपक
२३६	२०	तरुनि	तरुनी
२३६	२१	बढ़तका	वढ़त के
२४६	२	उछड़ो	उसे छोड़
२४६	८	काय की	कार्य की
२५२	११	वह	है, वह
२५६	१०	कार्य का बाध	कार्य को बोध
२६७	६	मैरे पाप	मेरे ताप
२७१	१५	चमत्करक	चमत्कार
२७४	२३	पर्यायस्त	पयायस्तु

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८१	१४	काय	कापै
२९७	१३	होने का	होनेके
२९८	१३	खगेश	नागेश
२९९	२४	द् किञ्चि विशेष	किञ्चिद् विशेष
३०४	१७	कारणातियथोक्ति में भी	कारणातिशयोक्ति भी
३०५	१३	असंगति	असंगति के
३०८	१९	अयोग्य	अयोग्य ३
३०९	७	मानि है जो	मानिहै को
३१३	१९	बिगरी गं	बिगरीगति में
३१८	१३	पर	पद
३१९	२७	अन्यान्य अलंकारों	अन्योन्य
३२०	१८	अन्यान्य	अन्योन्य के लक्षण
३२७	९	सरा दूभेद	दूसरा भेद
३३९	१८	शंकरकी सेवा	शंकर की सेवा में
३५५	८	का होना	का न होना
३५९	८	लग	लिंग
३७३	८	आपेक्षा	अपेक्षा
३७३	१५	कृष्ण का	कृष्ण के
३७७	१२	तिकोंतपो	पतितों को
३८०	४	पूर्व शेषोक्ति	पूर्वोक्त विशेषोक्ति
३८०	५	अवज्ञा	अवज्ञा में,
४०२	४	निश्चय	निश्चल
४०५	१८	व्यक्ति	व्यक्ति से
४३२	२५	बाधकतो नही	बाधकतो नहीं, फिर
४९४	१९	सामान	समान
४४९	२०	साहिता	साहित